Title of the thesis **Unnisawi Sadi Ka Hindi Katha Sahitya : Vastu Aur Roop** A thesis submitted during (Year) 2010 to the University of Hyderabad in partial filfullment of the award of a Ph.D. degree in Department of hindi.

By

RAJ BAHADUR YADAV

08HHPH02

Department of Hindi.

School of Humanities

University of Hyderabad

(P.O.) Central University, Gachibowli

Hyderabad – 500 046

Andhra Pradesh

India

DECLARATION

I **RAJ BAHADUR YADAV** here declare that this thesis entitled "**Unnisawi Sadi Ka Hindi Katha Sahitya : Vastu Aur Roop**" submitted by me under the guidance and supervision of Dr. M. SHYAM RAO is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other or Institution for the award of any degree or diploma.

Date : 13/12/2010

Name : **RAJ BAHADUR YADAV**

Signature of the student :

Regd . No. **08HHPH02**

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**Unnisawi Sadi Ka Hindi Katha Sahitya : Vastu Aur Roop**"submitted by bearing Reg . No 08HHPH02 in requirements for the award of Doctor of Philosophy in (subject) Hindi is a bonafide work carried out by him/her under my/our supervision and guidance.

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor/s

//Countersigned//

Head of the Department /Centre **Dean of the School**

अनुक्रमणिका

क्रम सं.	पृ0 सं.
1. हिन्दी गद्य का विकास	1—40
1.1 भारतेन्दु पूर्व हिन्दी गद्य	
1.1.1 हिन्दी गद्य के विकास में फोर्टविलियम कॉलेज की भूमिका	
1.1.2 भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा 'भारतेंदु मण्डल'	
2. नवजागरण और हिन्दी गद्य	41—70
2.1 भारतीय नवजागरण	
2.2 हिन्दी नवजागरण	
3. नागरी आन्दोलन	71—96
4. अठारह सौ सत्तावन की क्रांति और हिन्दी साहित्य	97—119
5. उन्नीसवीं सदी का हिन्दी कथा साहित्य : वस्तु और रूप	120—231
6. उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में चित्रित युगीन समस्याएँ	232—249
उपसंहार	250—258
संदर्भ—ग्रंथ सूची	259—268
परिशिष्ट	

भूमिका

साहित्य, समाज की संवेदनाओं को व्यक्त करने का समर्थ साधन है। प्रत्येक रचना में समाज का भिन्न–भिन्न रूपों में चित्रण मिलता है। किसी भी देश की सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को जानने का सबसे सशक्त माध्यम तत्कालीन समय में रचा गया साहित्य है। आधुनिक युग की शुरुआत उन्नीसवीं सदी से मानी जाती है। भारतीय इतिहास में यह शताब्दी अपना विशिष्ट महत्व रखती है। इसमें विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इस सदी को 'महान घटनाओं की सदी' कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

साहित्य, समाज और मनुष्य का गहरा संबंध रहा है। साहित्य समाज की देन है और समाज की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। साहित्य में मनुष्य के मानसिक पटल पर पड़े प्रभाव की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य की रचना समाज के बिना संभव नहीं है। साहित्य और समाज के इस अन्तर्संबंध को विशेषकर 19वीं सदी के संदर्भ में समझने के लिए नवजागरण को समझना आवश्यक है। नवजागरण, नवीन चेतना या जागृति से संबंध रखता है। यहाँ नवजागरण औपनिवेशिक शासन में बाहर से आए कला, साहित्य और ज्ञान–विज्ञान के फलस्वरूप हुआ। इसके अन्तर्गत कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, समाज, राजनीति संबंधी महत्वपूर्ण पहलुओं पर पुनर्विचार किया गया है। इसमें प्राचीन को पुनः नए रूप में, नए परिवेश के अनुसार स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह नवजागरण कहीं संस्कृतिगत, कहीं राजनीतिगत और कहीं प्रवृत्तिगत रूप में दिखाई देता है। भारत में नवजागरण की शुरूआत उन्नीसवीं सदी के पहले–दूसरे दशक से हुई।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दी कथा–साहित्य लेखन की शुरूआत इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से माना जाता है, लेकिन वास्तविक रूप में कथा साहित्य के लेखन की शुरूआत उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक से पंडित गौरीदत्त की रचना 'देवरानी जेठानी की कहानी' से माना जाता है। इसके बाद मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने 'वामा

शिक्षक' और श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' की रचना की। इनकी रचनाएँ तत्कालीन समय में चल रहे समाज–सुधार आन्दोलनों को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इसमें समाज सुधार आन्दोलनों के प्रमुख मुद्दों–स्त्री–शिक्षा, बाल–विवाह, विधवा–विवाह, बेमेल–विवाह, स्त्री–स्वालम्बन आदि को उठाया गया है। इन तीनों उपन्यासों का केन्द्रीय विषय स्त्री–शिक्षा है। इनमें स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देने का समर्थन किया गया है जिससे कि वे गृहस्थ धर्म का पालन आसानी से कर सकें। तीनों उपन्यासों के अलावा अन्य उपन्यासों– परीक्षा गुरु, निःसहाय हिन्दू, सौ अजान एक सुजान, हृदयहारिणी वा आदर्शवाला, लवंगलता वा आदर्शवाला, बलवंत भूमिहार आदि में भी अस्मिता विहीन स्त्री की कल्पना की गयी है।

मेरे शोध का विषय है– 'उन्नीसवीं सदी का हिन्दी कथा साहित्य : वस्तु और रूप'। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मैंने अपने शोध–प्रबंध को निम्नलिखित अध्यायों में विभाजित किया है–

प्रथम अध्याय 'हिन्दी गद्य का विकास' है। इसमें मैंने हिन्दी गद्य के विकास में फोर्टविलियम कॉलेज की क्या भूमिका थी, फोर्टविलियम कॉलेज की स्थापना के पीछे कौन–कौन से मूल कारण विद्यमान थे, कैसे हिन्दी भाषा को वहाँ स्थान मिला, हिन्दी की पुस्तकें कैसे तैयार करायी गईं, इस पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इसके साथ ही राजा राममोहन राय से लेकर भारतेन्दु युग तक तथा भारतेन्दु एवं उनके मण्डल के रचनाकारों का हिन्दी गद्य के विकास में क्या भूमिका थी इसको बताने के साथ–साथ उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

द्वितीय अध्याय 'नवजागरण और हिन्दी गद्य' है। इसमें मैंने भारतीय नवजागरण के बारे में विचार करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि उसका हिन्दी गद्य से क्या संबंध है। इसके साथ ही यह दिखाने का प्रयास किया है कि तत्कालीन हिन्दी के साहित्यकारों का उस समय के चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों के प्रति क्या विचार था।

तृतीय अध्याय 'नागरी आन्दोलन' है। इसमें नागरी आन्दोलन के शुरू होने के मूल कारणों को व्याख्यायित करते हुए इस क्रम में इसके प्रमुख समर्थकों की नागरी लिपि और

हिन्दी भाषा के प्रति क्या राय थी? इसको व्याख्यायित किया गया है। साथ ही इस आन्दोलन के बदलते रूप को समझाते हुए सरकार और आम जनता के दृष्टिकोण को भी समझाने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'अठारह सौ सत्तावन की क्रांति और हिन्दी साहित्य' है। इसमें मैंने 1857 की क्रांति होने के मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हिन्दी साहित्य में हुई है तथा जिस रूप में हुई है, उस रूप में अभिव्यक्त होने के पीछे कौन से कारण हैं? उसका तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ा?

पाँचवा अध्याय 'उन्नीसवीं सदी का हिन्दी कथा साहित्य : वस्तु और रूप' है। मैंने इस अध्याय में चयन किये गए समस्त उपन्यासों एवं कहानियों तथा उनकी आधार भूमि को खोजने का प्रयास किया है। वह कौन से कारण थे, जिसकी वजह से हिन्दी साहित्य में ऐसे उपन्यास लिखे गए, इनके लिखने की आवश्यकता क्यों हुई? इसके अलावा तत्कालीन परिस्थितियों ने इन्हें किस हद तक प्रभावित किया, इन सबको दिखाने का मेरा प्रयास है। इसके साथ ही इसमें मैंने उन कहानियों एवं उपन्यासों के भाषा, कथ्य, चरित्र–चित्रण, एवं पात्र–योजना पर भी विचार किया है।

छटा अध्याय 'उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में चित्रित युगीन समस्याएँ' है। इस अध्याय में मैंने प्रथमतः उन्नीसवीं सदी में स्त्री–शिक्षा के संदर्भ में तत्कालीन हिन्दी साहित्यकारों की क्या सोच थी, इसके ऊपर प्रकाश डालने के साथ ही उनका स्त्री–शिक्षा का समर्थन करने के पीछे मूल कारण क्या थे? इसको स्पष्ट करने का प्रयास किया है। साथ ही में यह भी दिखाने का प्रयास है कि उनको किस हद तक शिक्षा देने का समर्थन किया गया है। ठीक इसी तरह विधवा विवाह संबंधी मतों को भी व्यख्यायित करने का प्रयास किया गया है। इन सबके अलावा अन्य समस्याओं में–आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक और जातिगत समस्याओं के पीछे क्या कारण थे? तथा इनकी अभिव्यक्ति तत्कालीन उपन्यासों में किस प्रकार हुई है, इस पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

इस शोध–विषय के चुनाव में मेरे द्वारा एम. फिल. में किए गये शोध–कार्य की पूर्व पीठिका थी। उस दौरान मुझे अनुभव हुआ कि उन्नीसवीं सदी के कथा साहित्य और तत्कालीन समाज का मूल्यांकन दो या तीन उपन्यासों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। अतः मैंने उस समय के कुछ विशिष्ट उपन्यासों तथा कहानियों का चयन किया और उसी के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत विषय पर सामग्री उपलब्ध कराने में हैदराबाद विश्वविद्यालय के ग्रंथालय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सम्मेलन पुस्तकालय, इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ग्रंथालयों का अमूल्य योगदान रहा है। इस शोध कार्य को पूर्ण कराने में मेरे शोध निर्देशक डॉ. एम. श्यामराव का विशेष योगदान रहा तथा विभाग के सभी गुरुजनों, अग्रजों, अनुजों, मित्रों का स्नेह और अमूल्य सहयोग मिला, जिसके लिए मैं विशेष रूप से उनका आभारी हूँ।

राजबहादुर यादव

08HHPH02

हिन्दी गद्य के विकास में फोर्टविलियम कॉलेज की भूमिका

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन स्थापित होने के कुछ समय बाद कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इसके पीछे प्रमुख कारण था शासन में आने वाली कठिनाईयाँ। कंपनी का शासन स्थापित होने के पश्चात् अंग्रेजों ने सर्वप्रथम यहाँ की शिक्षा पद्वति को ध्वस्त किया। अगर पूरे भारतीय इतिहास को देखा जाय तो किसी भी शासक ने भारत की शिक्षा व्यवस्था को उतना आघात नहीं पहुँचाया जितना की अंग्रेजों ने। अभी तक भारतीय राजाओं से जो शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता मिल रही थी वह बंद हो गयी। इस कारण से अनेक शिक्षण संस्थाएं आर्थिक अभाव के कारण बंद हो गयी और अशिक्षित लोगों की संख्या में दिन–प्रतिदिन बढ़ोतरी होती चली गयी।

भारत में अंग्रेजों के आने के पूर्व भारतीय शिक्षा पद्धति अत्यंत सुदृढ़ थी। जिस शिक्षा और ज्ञान के लिए भारत जाना जाता था उसका धीरे–धीरे पतन होने लगा। जिसका दूरगामी परिणाम था– अन्धविश्वास, रूढ़िवाद और बाह्यआडंबर की अत्यधिक मात्रा में बढ़ोत्तरी तथा भारतीयों का खुद से विश्वास उठ जाना। ''मैक्समूलर ने सरकारी लेखों के आधार पर और एक मिशनरी रिपोर्ट के आधार पर जो बंगला पर अंग्रेजों का कब्जा होने से पहले वहाँ की शिक्षा की व्यवस्था के संबंध में लिखा था कि– उस समय बंगाल में 80,000 देशी पाठशालाएँ थी, यानी की सूबे की कुल आबादी के हर चार सौ मनुष्यों के पीछे एक पाठशाला मौजूद थी।''[1]

कंपनी का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना था। इसके शासन में कोई भी कार्य ऐसा नहीं किया गया जिससे उनका निजी स्वार्थ नहीं जुड़ा हो, चाहे वह रेल, डाक, और विद्यालयों से संबंधित कार्य क्यों न हों। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेज प्रारंभिक दिनों में भारतीय शिक्षा का सर्वनाश करना चाहते थे। 1792 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में विलवरफोर्स एवं उनके सहयोगियों द्वारा भारतीयों को शिक्षा देने के समर्थन में प्रस्ताव रखा, लेकिन कंपनी के सहयोगियों ने इसे ठुकरा दिया। इस संबंध में मार्शमैंन ने लिखा है कि '' उस अवसर पर कंपनी के एक डायरेक्टर ने कहा कि हम लोग

अपनी इसी मूर्खता से अमेरिका को हाथ से धो बैठा है, क्योंकि हमने उस देश में स्कूल और कॉलेज़ कायम हो जाने दिए, अब फिर भारत में उसी मूर्खता को नहीं दुहराना चाहते है।''[2] सन् 1913 तक यानि बीस साल बाद तक भारतीयों को शिक्षा देने के संबंध में अंग्रेजों की यही धारणा रही।

इतने विरोध के बावजूद भारतीयों को शिक्षित करने की ओर अग्रसर होना तथा उनके शिक्षा का प्रबंध करना अंग्रेजों की जरूरत ही नहीं अपितु मजबूरी थी। अंग्रजों को भारतीय भाषाओं की जानकारी नहीं थी। जिससे उनको जनता के विचारों को समझ पाने और अपने विचारों को समझा पाने में दिक्कतें आती थीं। अपनी शासन संबंधी समस्या को ध्यान में रखते हुए भारतीय जनता की शिक्षा व्यवस्था पर ध्यान दिया। इस कारण से अनेक पाठशालाओं, स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी।

प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों का शासन भारत के कुछ क्षेत्रों पर (बंगाल, बिहार और उड़ीसा) स्थायी रूप से स्थापित हो गया था। अगर 1757 से 1813 की अवधि पर विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि यह भारतीय शिक्षा, व्यापार और राजनीति के दुर्दशा का समय था। इस पूरी अवधी में शिक्षा के क्षेत्र में कोई खास काम नहीं हुआ, किन्तु 1780 में वारेन हेस्टिंग ने मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए 'कलकत्ता मदरसा' की और बनारस रेजीडेंट ने सन् 1791 में बनारस में 'संस्कृत कॉलेज' की नींव डाली।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के पूर्व अनेक विदेशी शासकों का आगमन हुआ कुछ वापस चले गये, कुछ ने यहाँ पर रहने का फैसला किया तो कुछ ने अपना उपनिवेश बनाया। व्यापार की दृष्टि से सर्वप्रथम पुर्तगालियों का आगमन हुआ, इसके बाद डच, फ्रांसीसियों और फिर अंग्रेजों का । इनमें डच और पुर्तगाली वापस चले गये, और बचे फ्रांसीसी और अंग्रेज इन दोनों कंपनियों में प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। ऐसी स्थिति भारत के अलावा यूरोप में भी पैदा हो गयी जिसके फलस्वरूप इंग्लैड और फ्रांस में युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। इनका यह व्यापारिक झगड़ा इतना बढ़ गया कि राजनीतिक रूप धारण कर लिया। इन दोनों ने एक दूसरे की व्यापारिक बस्तियों पर घेरा डालना शुरू कर दिया। इस

स्थिति में अंग्रेजों से त्रस्त भारतीय राजाओं ने फ्रांसीसियों का साथ दिया। कुछ ऐसे भी राजा थे जो अपनी आपसी दुश्मनी निकालने के लिए एक दूसरे के विरोधियों से जा मिले। इस सबंध में फ्रांसीसियों की पराजय हुई। इस युद्ध में लार्ड क्लाइव जैसे चतुर सैनिक ने अपनी कूटनीति का अच्छा परिचय दिया। उसने परिस्थिति के अनुसार अपना निर्णय लिया। जिसके फलस्वरूप जून 1757 ई0 में प्लासी के युद्ध में कम सैनिक होते हुए भी अपनी कूटनीति के बल पर बंगाल के नवाब सिराजुदौला को हराने में सफल रहा। बक्सर के युद्ध (1765 ई0) में बंगाल की रही सही शक्ति समाप्त हो गयी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी कंपनी के हाथों में आ जाने के बाद उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती चली गयीं। इतने बड़े क्षेत्र पर अधिकार हो जाने पर कंपनी के सामने सबसे बड़ी समस्या थी वहाँ की शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने की। इसके अधिकांश कर्मचारी अयोग्य थे। अब कंपनी भयंकर दुविधा में फस चुकी थी– वह आगे बढ़ नहीं सकती थी, अगर वह आगे बढ़ती तो उसके सामने अनेक कठिनाईयाँ मुँह बाये खड़ी थीं। इस संबंध में ताराचंद ने लिखा है कि ''इतने अधिक लोग से भरे विशाल प्रदेश पर अधिकार हो जाने पर बहुत ही जटिल कानूनी तथा संवैधानिक समस्याएँ सामने आई। ईस्ट इंडिया कंपनी एक वाणिज्यिक संस्था थी, इंग्लैड की सरकार ने जन्म दिया था। वह उन्हीं कार्यों का पालन और उन्हीं अधिकारों का उपभोग करती थी, जो राज्याध्यक्ष द्वारा स्वीकृत शासन पत्रों में स्वहित होते थे क्या वह अपने मातृभूमि की राजनीतिक व्यवस्था में उथल–पुथल की आशंका उत्पन्न किये बिना एक ऐसे भूभाग की सर्वोच्च सत्ताधिकारिणी बन सकती थी, जिसका क्षेत्रफल 1,50,000 वर्ग मील था और जिसमें तीन करोड़ व्यक्ति रहते थे ? साम्राज्य के भीतर साम्राज्य की स्थिति सदैव भयंकर सिद्ध होती है और उस दशा में तो यह और भी भयंकर हो जाती है, जब यह अधिकार एक व्यापारी–वर्ग के विवेकहीन तथा मुनाफाखोर सदस्यों के ढके–मुर्दे ध्वनितंत्र से प्राप्त हो जाता है।''[3]

ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करने वाले कर्मचारियों की नियुक्तियाँ इंग्लैंड स्थित कोर्ट ऑफ डायरेक्टर द्वारा की जाती थी इनकी पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर की जाती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी में ज्यादातर कर्मचारी कम आयु (17 या 18 वर्ष) नगरों में निवास

करने वाले निम्न वर्ग से संबंध रखते थे या जेल से निकाले हुए होते थे। इनमें अधिकांश कर्मचारी अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित होते थे, जिनको सामान्य व्यापार की सामान्य शिक्षा देकर भेजा जाता था। इसलिए उनके लिए कंपनी का हित गौण और अपना सर्वोपरि हो जाता था। जिसके कारण वे अनैतिक ढंग से धन कमाने में लग जाते थे। इस संबंध में ए0 डी0 कीथ ने लिखा है कि ''कार्नवालिस की सेना बहुत बड़ी थी– कुल मिलाकर 70,000 हजार सैनिक थे, किन्तु बहुत घटिया किस्म की थी, विशेषकर कंपनी सेना के 6,000 यूरोपियन जो लंदन की गलियों के निम्न लोग और जेलों से निकाले हुए होते थे तथा जिनके अधिकारी नष्ट–भ्रष्ट युवक या धन के पीछे भागने वाले धन लोलुप व्यक्ति थे।''[4]

ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों के चारित्रिक पतन का सबसे बड़ा कारण उनके वेतन का पर्याप्त नहीं होना भी था। इस कारण से अधिकांश व्यापारियों ने अपना निजी व्यवसाय प्रारंभ कर दिया। इस संबंध में गुरू निहाल सिंह ने लिखा है कि ''यह निजी व्यवसाय अपने लिए अधिक से अधिक धन कमाने की इच्छा से किया जाता था। क्योंकि उनके वेतन हास्यास्पद रूप से कम होते थे। पांच साल से काम करने वाले मुंशी को 10 पौंड प्रतिवर्ष मिलते थे। परिषद के सदस्यों को 80 पौंड प्रति वर्ष तथा गवर्नर को केवल 300 पौंड प्रतिवर्ष मिलते थे।''[5] इसी संबंध में ''फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले द्वारा अंग्रेज कर्मचारियों एवं अधिकारियों की दयनीय स्थिति के बारे में वेक्सनकोर्ट को 15 जनवरी 1753 ई0 को एक पत्र लिखा जिसमें उसने कहा कि कंपनी कर्मचारियों एवं अधिकारियों के रूप में ऐसे भिखमंगों को भेजती है, जिनके पास तन ढकने के लिए एक कमीज भी नहीं होती।''[6] कंपनी के कर्मचारियों की ऐसी दशा होने का कारण आर्थिक कमी एवं अशिक्षा प्रमुख थी। लार्ड क्लाइव ने दूसरी बार इस स्थिति में सुधार का प्रयास किया परंतु सफलता नहीं मिली। कंपनी के कर्मचारियों की लूट–पाट इतनी बढ़ गयी कि बंगाल के नबाब मीर कसिम ने 1762 में अंग्रेज गर्वनर और उसकी कौंसिल से शिकायत किया कि ''यही तरीका है जिससे आपके भद्रजन (कर्मचारी) व्यवहार करते हैं। मेरे पूरे देश में कर्मचारियों को आहत तथा अपमानित कर रहे हैं... कंपनी के अनुमति पत्र दिखकर और

बिल्ले लगाकर वे किसानों, व्यापारियों, और अन्य देशवासियों को उत्पीड़ित करने के अधिकतम प्रयत्न करते हैं... व्यापारियों, किसानों आदि का माल वे जबदस्ती चौथाई कीमत पर ले जाते हैं। अक्सर अत्याचार तथा दमन के द्वारा किसानों को एक रूपये के माल के बदले पांच रूपये देने के लिए बाध्य करते हैं।''[7]

सन् 1798 में मर्किल्स बेलेजली भारत आया। यह उन गवर्नर जनरलों में था जिसने भारत में कंपनी के शासन को सुदृढ़ एवं विस्तृत करने में अहम भूमिका अदा की। वेलेजली अपने पूर्ववर्ती गवर्नरों से एकदम अलग था उसने पुराने का अनुसरण नहीं किया अपितु नये रास्तों की तलाश की, जिससे की ब्रिटिश सम्प्रज्य की सर्वोच्चता तथा स्थायित्व बना रहे वेलेजली कंपनी के कर्मचारियों को कुशल व्यापारी के रूप में ही नहीं देखना चाहते था अपितु कूटनीतिज्ञ के रूप में देखना चाहता था। । ''लार्ड वेलेजली का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण भारत में शांति स्थापित करना तथा ब्रिटिश प्रदेशों को स्थायी सुरक्षा प्रदान करना था। इसके लिए, वह भारतीय रियासतों में ब्रिटिश सत्ता की श्रेष्ठता को लादना चाहता था और ताकत के बल पर या मैत्री संबंधों द्वारा, उन्हें सर्वोच्च सत्ता के अधीन करना तथा अंग्रेजी मध्यस्थता या नियंत्रण पर भविष्य में चुनौती के किसी प्रयास पर प्रभावशाली रोक लगाना चाहता था। उसने भारतीय राज्यों के लिए नाममात्र के लिए भी, ब्रिटिश सरकार का दर्जा न देकर, राजनीति प्रधानता के साम्राज्यदी सिद्धान्त को लागू करने की घोषणा की और पुरानी नीति में आमूल परिवर्तन किया।''[8]

जिस समय वारेन हेस्टिंग भारत आया उस समय कंपनी के कर्मचारियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वारेन हेस्टिंग उच्च शिक्षा प्राप्त पदाधिकारी था, उसकी साहित्य में विशेष रूचि थी। उसने भारत आने के बाद से ही बंगला भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। नियुक्ति ''सन् 1873 में रेगुलेटिंग एक्ट (Regulating Act) के अन्तर्गत ही उसकी पदोन्नति बंगाल के प्रथम गवर्नर–जनरल के रूप में हुई।''[9] उसने कंपनी के कर्मचारियों की दशा देखकर समझ गया कि इनको भारतीय भाषाओं से परिचित करना अति आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कलकत्ता मदरसा (1782) और हिन्दू कॉलेज (1792) की स्थापना की। 'सुप्रसिद्ध विद्वान और न्यायधीश सर विलियम जोन्स ने वारेन हेस्टिंग की

सहायता से 15 जनवरी, 1884 ई0 को बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की नींव डाली। इसके सदस्यों में संस्कृत के विद्वान थौमस कोलब्रुक थे। जो एक सिविल सर्वेन्ट (असैनिक अधिकारी) थे और कालंतर में प्रगति करते हुए गवर्नर–जनरल की कौंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए।' इन्होंने हिन्दुस्तानी का दूसरा रूप हिन्दी माना है।

वेलेजली का मुख्य उद्देश्य साम्राज्य का विस्तार करना था। इसके लिए उसने दो प्रकार की नीतियाँ निर्धारित कीं। प्रथम साम्राज्यवादी नीति के तहत साम्राज्य विस्तार किया। उसकी इस नीति को सहायक संधि का नाम दिया जाता हैं। दूसरे के तहत इसे कार्य रूप देना शुरू किया। वेलेजली कंपनी का गवर्नर बनने से पूर्व 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' का सदस्य था। इस कारण से उसमें अपने पूर्ववर्ती गवर्नरों से प्रशासनिक अनुभव अधिक था। वेलेजली को कंपनी कर्मचारियों की स्थिति समझते देर नहीं लगी। आचरण और अनुशासन संबंधी गुणों के कमी के मूल कारण अशिक्षा एवं वेतन का पर्याप्त नहीं होना, उसकी समझ में आ गया था। वेलेजली ने इस संबंध में खुद लिखा है कि ''वर्तमान व्यवस्था अपर्याप्त थी। सोलह और अठ्ठारह वर्ष की उम्र में कंपनी में क्लर्क आ जाते थे और अपने कार्यों के प्रति नितांत अयोग्य एवं अनभिज्ञ रहते थे। उनको भाषा का कोई ज्ञान नहीं रहता था। घर से जो शिक्षा प्राप्त करके आते थे, वह इतनी संकुचित थी कि उनकी सीमाएं व्यापार तक ही सिमटकर रह जाती थी। अपनी अयोग्यता के कारण वे व्यभिचार और अकर्मण्यता में फँसकर रह जाते थे तथा उन्हें आगे शिक्षा जारी रखने के लिए प्रोत्साहन तक भी उपलब्ध नहीं होता था।''[10]

कंपनी के शासन में उड़ीसा, बिहार और बंगाल आ जाने के बाद कंपनी के कर्मचारियों का कार्य मात्र व्यापार तक सीमित न रहकर अब प्रशासनिक हो गया। वेलजली के भारत ''आने पर ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संस्था मात्र थी। सर्वोपरि राजनीति बनाकर छोड़ा। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। वास्तव में कॉलेज की स्थापना का सरकारी अध्यक्ष गिलक्राईस्ट (17567–1841) द्वारा संचालित 'ओरिएंटल सेमिनरी' से घनिष्ठ संबंध था। 24 दिसम्बर, 1798 को गिलक्राइस्ट की 'ओरिएंटल सेमिनरी' से संचालक के पद पर नियुक्ति हुई थी

और फरवरी, 1799 से पठन–पाठन का वास्तविक कार्य प्रारंभ कर दिया था।''[11] वेलजली ने प्रशासन में आने वाली अनेक कठिनाईयों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना शुरू कर दिया। लार्ड वेलेजली ने इस संबंध में कहा है कि ''कंपनी के कर्मचारियों की सेवाएँ, पहले सिर्फ व्यापारिक होती थीं, परन्तु प्रादेशिक विस्तार के साथ–साथ उन्हें अन्य समस्याओं से उलझना पड़ता था। जजों और कलक्टरों के रूप में उनके कार्य संसार के किसी भी कार्य से अधिक कठिन और जटिल थे, कवित्त और राजस्व जैसे जटिल विषयों की व्यवस्था भी उन्हें करनी पड़ती थी। विभिन्न भाषाओं तथा जाति के लाखों लोगों को न्याय देना पड़ता था, और अब वे एक व्यापारिक संस्था के सदस्य नहीं कहला सकते थे।''[12] कंपनी के कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं का ज्ञान नहीं होने के कारण प्रारंभिक दिनों में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। शुरूआती दौर में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने काम–काज की भाषा फारसी ही रखी। यह भाषा जानने वाले अल्पसंख्यक लोग थे, तथा प्रशासक और आम जनता के समझ से परे थी। इसको जानने वाले लोगों पर अधिकारियों की विशेष कृपा रहा करती थी। प्रारंभिक दौर में सरकार ने प्रांतीय भाषाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। जिससे उनको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाद में कंपनी के प्रशासकों को यह लगा कि भारतीय भाषाओं का अध्ययन किये बिना भारत पर लंबे समय तक शासन करना मुश्किल है। सन् 1881 ई0 में प्रस्ताव पारित किया गया कि भारतीय न्यायालयों में मुकदमों का निर्णय अंग्रेजी कानून के आधार पर न करके भारतीय संवैधानिक पद्धति के आधार पर किया जायेगा। शासन सूत्र हाथ में आ जाने के बाद राज्य के हित के लिए, उसके सुचारू रूप से संचालन के लिए, शासकों और शासितों में संपर्क बढ़ाने और शासितों की देख–भाल और उनके साथ न्याय बरतने की गुंजाइश देशी भाषाओं और रीति–रस्मों का ज्ञान भाषा के द्वारा ही विशेषकर हो सकता है। इस दृष्टि से भाषा का महत्वपूर्ण स्थान ठहरता है। भाषा का प्रश्न उठने पर अधिकारियों के सामने उसे हल करने के दो मार्ग थे। एक तो जनता अंग्रेजी भाषा सीखती या उनके और सरकार के बीच तमाम लिखा–पढ़ी इस भाषा के द्वारा होता। दूसरे अंगरेज जो संख्या में बहुत थोड़े थे, जनता को अपनी (अंग्रेरेजी) भाषा सीखने पर बाध्य करने के बजाय स्वयं जनता की भाषा सीखते।''[13]

अंग्रेजी विद्वान जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन किया और तमाम यूरोपियन देशों को भारत की प्राचीन संस्कृति और भाषा से परिचित कराया। इससे प्रेरित होकर कई विद्वानों ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने में विशेष रूचि दिखायी।

जॉन वोर्थविक गिलक्राइस्ट स्काटलैंड के निवासी थे। इनकी नियुक्ति सन् 1783 में चिकित्सक के रूप में की गयी थी। जिस समय उनका आगमन हुआ था उस समय कंपनी के राजकाज की भाषा फारसी थी। जॉन वोर्थविक गिलक्राइस्ट ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ''उच्च पदाधिकरियों की समझ में फारसी न आने के कारण राज्यकार्य में उनको बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। उसको दूर करने के लिए दुभाषियों से काम लिया जाता था। ये दुभाषिये कंपनी के कर्मचारियों में से ही होते थे या विज्ञापन द्वारा किसी फारसी जानने वाले की नियुक्ति होती थी। लेकिन गिलक्राइस्ट ने देखा कि कंपनी जिस भाषा का व्यवहार करती थी वह देश की भाषा नहीं थी। ''दिल्ली दरबार की अवनति के साथ–साथ फारसी भाषा का प्रचार कम होता चला था और उसके स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन हो गया था।''[14] गिलक्राइस्ट का मानना था कि कंपनी के अधिकरियों को फारसी सीखने का अधिक प्रयत्न नहीं करना चाहिए, बल्कि उन भाषाओं को सीखाने की कोशिश करनी चाहिए जो यहां के बहुसंख्यक वर्ग द्वारा व्यवहार में लायी जाती हो। गिलक्राइस्ट ने अनेक क्षेत्रों का भ्रमण किया और स्वयं संस्कृत, फारसी, हिन्दी और बंगाली आदि भाषाओं का अध्ययन किया। 1790 में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी शब्दकोश 'डिक्शनरी इंग्लिश ऐंड हिन्दुस्तानी' के दो भागों में सरकारी नियम के अनुसार प्रकाशित करवाया और साथ ही कर्मचारियों के भाषायी ज्ञान की सुविधा के लिए कलकत्ता में रहते हुए 'दि् हिन्दुस्तानी ग्रामैर' और 'दि् ऑरिएंटल लिंग्विस्टिक' नामक ग्रंथ 1796 और 1798 में प्रकाशित करवाया। (1802 में 'दि् ऑरिएंटल लिंग्विस्टिक' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ।) इसकी सरकार ने तीन सौ प्रतियां खरीदी। जॉन गिलक्राइस्ट के इस कार्य का जब वेलेजली को पता लगा तो उसने इस कार्य की बहुत सराहना की और सिविल सर्विस के कर्मचारियों को फारसी भाषा पढ़ने के लिए वेतन में 30 रूपये की वृद्धि कर दी। गिलक्राइस्ट ने वेलेजली के सामने एक प्रस्ताव रखा, जिसमें कहा गया कि इन कर्मचारियों

को फारसी का ज्ञान दिलवाने से पहले प्रतिदिन फारसी भाषा सीखाने के साथ–साथ हिन्दुस्तानी सिखाई जाए, जिससे कि फारसी के प्राथमिक सिद्धान्त सीखने में असानी होगी। वेलेजली ने कर्मचारियों को 30 रूपये अतिरिक्त दी जाने वाली राशि बंद कर दी। सभी कर्मचारियों के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दिया तथा प्रत्येक बारह माह पर इन विद्यार्थियों की परीक्षा लेने का निर्णय लिया।

वेलेजली ने प्रशासनिक सुधार (न्याय, मालगुजारी और व्यापार) के लिए बोर्ड के सामने प्रस्ताव रखा तथा प्रमुख भारतीय भाषाओं को अनिवार्य ही नहीं किया वरन् समस्त क्षेत्रिय भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य कर दिया। 25 दिसम्बर 1798 को कंपनी द्वारा जारी एक अधिसूचना में कहा गया कि ''बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी की सफलता की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि भविष्य में उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर वही व्यक्ति नियुक्त किये जाएँ जो गवर्नर जनरल की काउंसिल में पास किए हुए नियमों और विधानों तथा देश की एक या एक से अधिक भाषाओं से परिचित हों।''[15] साथ ही यह भी नियम लागू किया गया कि ''1801 के बाद सिविल सर्विस का कोई भी कर्मचारी उस समय तक किसी भी पद पर नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक कि वह कौंसिल न कर लेगा।''[16] कौंसिल द्वारा नियुक्त परीक्षकों द्वारा विद्यार्थियों की लिखित एवं मौलिक परीक्षा ली जाती थी। कॉलेज के छात्रों को अनेक समसामायिक विषयों पर वाद–विवाद कराया जाता था, तथा लेख–लिखने के लिए दिया जाता था। इससे उनके समसामायिक ज्ञान की परीक्षा का परीक्षण किया जाता था। कुछ क्षेत्र (उड़ीसा, बंगाल, बिहार और उत्तर भारत के कुछ भाग) ऐसे थे जहाँ नियुक्ति से पहले अधिकरियों के लिए क्षेत्रीय भाषाओं का ज्ञान होना अनिवार्य कर दिया गया। इसी उद्देश्य से बंगाल में 'ओरियण्टल सेमिनरी' तथा बनारस में 'संस्कृत कॉलेज' की स्थापना हुई। वेलेजली द्वारा किये गये इस कार्य की ब्रिटिश न्याय विभाग द्वारा प्रशंसा की गयी। फिर भी वेलेजली कर्मचारियों की बुराइयाँ उच्च शिक्षा द्वारा दूर करना चाहता था। वेलेजली 1799 में बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष हेनरी डण्डाज को पत्र लिखा कि ''मैं आपको सिविल सर्विस की सुधार की योजना को तुरन्त क्रियान्वित करने की अपनी इच्छा के बारे में बताना चहता हूँ क्योंकि समस्त प्रांत में न्याय तथा राजस्व वसूली का कार्य बहुत

संतोषजनक है। कानून की स्थिति बड़ी दयनीय है, जो लोगों को सुरक्षा देने में असफल है और ऐसा तब तक होता रहेगा जब तक कि प्रशासन हेतु कार्यकुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं कराये जाते। इस प्रकार की कमियाँ प्रत्येक विभाग में हैं। ये कमियाँ प्रत्येक प्रमुखतया सिविल सर्विस के वर्तमान स्वरूप से ही उत्पन्न होती है। इससे मेरा मतलब उन नवयुवकों की शिक्षा एवं आचार से है जो यहां क्लर्क की हैसियत से भेजे जाते हैं।''[17] इन सब बातों को ध्यान में रखकर माक्विस वेलेजली ने श्रीरंगपट्टनम की विजय के प्रथम वार्षिकोत्सव–4 मई, सन् 1800 ई0 के दिन कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। उसने आधुनिक भारतीय भाषाओं संस्कृत, अरबी, फारसी, विज्ञान, राजनीति, अर्थ–विज्ञान, गणित, यूरोपीय भाषाओं आदि के पठन–पाठन की व्यवस्था की।

इसी प्रकार 9 जुलाई 1800 को वेलेजली ने कंपनी की दशा का तात्कालिक विवरण कोर्ट आफ डायरेक्टर के पास भेजा जिसमें कर्मचारियों के लिए ऐसी शिक्षा संस्था की स्थापना के लिए अपील की जिसमें वैधानिक आर्थिक एवं वाणिज्यिक संबंध में ज्ञान प्राप्त किया जा सके। वेलेजली को इससे इतना लगाव था कि उसने कोर्ट आफ डायरेक्टर की अनुमति के बिना ही 10 जुलाई 1800 को कॉलेज के स्थापना की घोषणा कर दी। इसकी जल्दीबाजी के कारण कालेज के उच्चधिकरियों द्वारा हमेशा विरोध का सामना करना पड़ा। वेलेजली जिसे विश्व के महान शिक्षा केंद्रों में एक बनाना चहता था उसका सपना उसके विरोधियों को रास नहीं आया। 27 जनवरी 1802 को कोर्ट ने कॉलेज को तोड़ देने की आज्ञा दी। वेलेजली ने कंपनी के हिसेदारों का ध्यान कॉलेज से होने वाले लाभ की ओर दिलाया कि कंपनी के लिए कहां तक फायदेमंद साबित हो सकता है। कॉलेज तो टूटने से बच गया फिर भी उसमें कुछ परिवर्तन तो लाजमी था। यही प्रमुख कारण था कि अंततः 1854 में कालेज बंद हो गया। वेलेजली की इस नीति में उसका स्वार्थ आड़े हाथ आ रहा था उसने 10 जुलाई को घोषणा की कि ''कालिज की स्थापना से, कंपनी के ऊपर आर्थिक दबाव बढ़ जायेगा। अतिरिक्त खर्च को भारत में नियुक्त कर्मचरियों से पूरा कर लिया जाएगा। उनके वेतनों में से थोड़ी–थोड़ी कटौती की जाएगी जिस प्रकार मुंशियों को दिया जाने वाला भत्ता एकत्र किया जाता है। सरकार प्रिटिंग प्रेस लगाकर भी आय बढ़ाने का

प्रयत्न करेगी''[18] वैसे फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना ''मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टम के प्रथम विजयोत्सव की तिथि के अवसर पर 4 जुलाई सन् 1800 को स्थापित हो चुका था, परंतु कॉलेज का वास्तविक कार्य 29 अप्रैल 1801 को कॉलेज कौंसिल की मीटिंग के साथ प्रारंभ हुआ। इस मीटिंग में मि0 डेविड ब्राउच, मि0 बुचानन, मि0 हेनरी वेलेजली, मि0 जार्ज बरलो तथा मि0 एडमन्सन उपस्थित थे जो इस कॉलेज के सदस्य थे। डॉ0 जॉन गिलक्राइस्ट को कालेज का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया, जिसकी देख–रेख मे कालिज का कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ा।''[19] इसमें इंग्लैड से आने वाले कर्मचारियों के लिए तीन वर्ष रहना अनिवार्य कर दिया गया ताकि उनकों विविध क्षेत्रों की भाषाओं की अच्छी तरह जानकारी मिल सके। इसमें परीक्षा चार सत्रों में ली जाती थी। परीक्षा में उत्तीर्ण अधिकारियों को उनकी योग्यता के आधार पर पदोन्नति की जाती थी।

फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना कंपनी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया था। चरानाक द्वारा सुतानटि ग्राम के निकट कलकत्ता की स्थापना की। वहाँ एक फैक्ट्री का भी निर्माण किया। 1699 में बने इस किले का नाम इंग्लैड के तृतीय डच राजा विलियम के नाम पर फोर्ट विलियम रखा गया। 1757 में प्लासी युद्ध के बाद कंपनी द्वारा इस पर दो लाख पौंड खर्च से इसकी सुरक्षा एवं सुंन्दरता में काफी परिवर्तन किया गया। फोर्ट विलियम कंपनी का प्रधान कार्यालय था। शुरूआती दौर में छात्रों की कक्षाएँ 'राइटर्स विलडिंग' में चलती थी साथ में कर्मचारियों का निवास स्थान भी था। प्रारंभिक दौर में छात्रों को 300 रूपये मासिक छात्रवृति देना स्वीकार किया गया। अप्रैल 1805 में कॉलेज में प्रवेश की कटौती की गयी और 38 छात्रों के आवास की व्यवस्था कर दी गयी और गैर आवासी छात्रों को 50 रूपये प्रति माह भत्ता देना स्वीकार किया गया। ''10 अप्रैल 1801 को कालिज के आन्तरिक प्रबंध के लिए रेग्यूलेशन के अनुसार कुछ उपनियम भी बनाये गये, जिनके अनुसार आन्तरिक प्रशासन में कालिज का अनुशासन, परीक्षाएँ, कक्षा का आचरण आदि को सम्मिलित किया गया। उपनियम के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार कालिज में चलने वाले प्रत्येक शिक्षा सत्र में छात्रों को कम–से–कम एक देशी भाषा का सीखना अनिवार्य कर दिया। द्वितीय अनुच्छेद के अनुसार कालिज में एक सामूहिक गोष्ठी तथा

विद्यार्थियों के आवास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व कालिज पर था। अनुच्छेद 12 में बताया गया है कि परीक्षोपरांत प्रत्येक छात्र को मिलने वाले भत्ते की राशि का पूर्ण लिखित विवरण देना अनिवार्य है जिसमें उन्हें लिखित रूप में प्रत्येक व्यय की राशि का उल्लेख अवश्य ही करना पड़ेगा, ऐसा न करने पर उनके परीक्षा परिणाम रोक लिए जाने का नियम बनाया गया।''[20]

कंपनी सरकार अंग्रेजी को राज भाषा बनाना चाहती थी। कंपनी के कर्मचारी भी इसी भाषा का राज–काज की भाषा बनाये जाने के समर्थक थे। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय भाषाओं को राज–काज की भाषा बनाया जाय। वे खुद भारतीय भाषाओं के अध्ययन की जगह भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखाने के पक्षधर थे जो असंभव था। अन्त में कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना पड़ा। कम्पनी के कर्मचारी दुभाषियों को काफी तबज्जो देने लगे। इसके पीछे मूल कारण था राज–काज की भाषा का ज्ञान न होना। कंपनी में विभिन्न पदों पर कर्मचारियों की नियुक्ति किए जाते समय अंग्रेजी जानने वालों को विशेष वरीयता दी जाने लगी। 1834 में कंपनी ने अन्ततः अपने राज–काज की भाषा अंग्रेजी कर दी। 1837 के रेग्यूलेशन के आधार पर फारसी की जगह अदालतों में लोक भाषाओं को स्थान दिया गया। सन् 1844 में हार्डिज का घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, उसमें कहा गया कि नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े–लिखे लोगों को ही दी जाएं। उस समय कुछ भारतीय विद्वानों का मानना था कि फारसी, अरबी और संस्कृत अब मृत भाषा हो चुकीं हैं, जो अल्पवर्ग हिन्दू या मुसलमानों द्वारा व्यवहार में लाई जाती हैं और इग्लैंड से आये कला एवं साहित्य, विज्ञान आदि का वैज्ञानिक रूप से भारतीय भाषाओं में अध्ययन नहीं किया जा सकता इसलिए अंग्रेजी आवश्यक है। तत्कालीन भारतीय शिक्षा के समर्थकों का मानना था कि आम भारतीय जनता के लिए अंग्रेजी के साथ–साथ फारसी, अरबी और संस्कृत भी विदेशी भाषा है क्योंकि दोनों ही भाषायें इनके समझ में नहीं आती हैं। इस संबंध में ऑनरेबुल फेडरिक जॉन शोर ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''यदि फारसी जनसाधारण की समझ में नहीं आती तो अंग्रेजी ही उनकी समझ में कब आती है। उनके लिए दोनों ही विदेशी भाषायें हैं और दोनों ही उनके समझ में नहीं आ पाते। जो अंग्रेज अपने सहूलियत

के हिसाब से अंग्रेजी प्रचलित करना चाहते हैं उनसे मेरा कहना है कि यह बात केवल उल्टी है वरन् बिल्कुल अन्यायपूर्ण है। दरिद्र और पीड़ित जनता को एक विदेशी भाषा सीखने के लिए बाध्य करना समझ का फेर है। उसमें सफलता प्राप्त करने की कोई आशा नहीं है।...।''[21] अंग्रेजी के समर्थक चाहते थे कि अंग्रेजी ही राज–काज की भाषा हो, पर यह कर पाना संभव नहीं था, मजबूर होकर उनको भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना पड़ा। कॉलेज से पढ़कर निकले अफसरों को थोड़ी बहुत फारसी का ज्ञान तो था पर उतना पारंगत नहीं होते थे कि फारसी समझ सकें। ऐसी हालात में उच्च पदों पर नियुक्त कर्मचारियों से न्याय की क्या आशा की जा सकती थी। ''तत्कालीन बंगाल की छः करोड़ आबादी में से मुश्किल से 500 व्यक्ति फारसी जानते थे।''[22] 1837 के रेग्यूलेशन में फारसी भाषाओं को महत्व दिया गया पर लोक भाषा हिंदुस्तानी थी। उस समय शास्त्रीय के अर्थ में उस भाषा से संबंध था जो जन सामान्य में बोली जा सकती थी जिसमें उर्दू, अरबी, फारसी और संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में होता था।

कॉलेज की स्थापना के बाद सबसे बड़ी समस्या पुस्तकों की अपर्याप्तता थी। अंग्रेजों के लिए स्थानीय भाषा का अध्ययन सर्वथा नया प्रयोग था, फिर भी अंग्रेजी लेखकों ने अनेक अनुदित एवं मौलिक पुस्तकों की रचना की। इन पुस्तकों का प्रकाशन सरकारी सहायता से किया गया। कॉलेज का प्रथम अध्यक्ष जॉन गिलक्राइस्ट को बनाया गया। जॉन गिलक्राइस्ट हिन्दी, उर्दू, फारसी, बंगाली, संस्कृत आदि भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने छात्रों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए विद्वानों से पुस्तकें तैयार करवाने के साथ–साथ स्वयं जिन ग्रन्थों की रचना की उनमें प्रमुख हैं– नागरी एण्ड परसियन, द् हिन्दी डॉयरेक्टरी आर स्टुडैण्ट्स इन्ट्रोडक्टर टु द् हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, ए डिक्शनरी, इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी, द् हिन्दी– अरेबिक टेबिल। विलियम कैरी को मराठी तथा बंगाली भाषा का अच्छा ज्ञान था। विलियम कैरी को मराठी भाषा का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया। इन्होंने ए ग्रामर आफ द् बंगाली लैंग्वेज, ए मराठी ग्रामर एण्ड डिक्शनरी, कथोपकथन आदि ग्रन्थों की रचना की। भारतीय भाषाओं के उत्थान में फोर्ट विलियम कॉलेज का महत्वपूर्ण

योगदान है। छात्रों को पढ़ने पढ़ाने के लिए जिन पुस्तकों की रचना की गयी उसमें प्रेस की अहम भूमिका थी।

जॉन गिलक्राइस्ट का जब भारत में आगमन हुआ तब यहां राज काज की भाषा फारसी थी। जब इसने सामान्य लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा का सर्वेक्षण किया तो पाया कि सरकारी काम–काज जिस भाषा में किया जाता है वह मात्र वर्ग विशेष तक ही सीमित है, जिनकी संख्या अल्पमात्र है। मुगल दरबार के पतन के साथ–साथ फारसी भी पतनोन्मुख हुई। इसका संबंध केवल उन उच्च्वर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों से था ''जो सरकारी नौकरी करते थे। मुस्लिम शासन काल में शासक ही फारसी समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के राजत्व काल में उस भाषा को न शासक समझते थे, न शासित। अदालतों में सब काम काज पहले फारसी में होता था और तत्पश्चात् उसे फारसी में रूपांतरित कर दिया जाता था।''[23] इसलिए कंपनी ने कर्मचारियों को फारसी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस क्रम को कंपनी सरकार ने 1836 तक बनाए रखा। कंपनी द्वारा प्रारंभिक समय में फारसी को राज काज की भाषा के रूप में स्वीकार करने का सबसे बड़ा कारण वर्षों से फारसी का शासन की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होना भी था। इस प्रक्रिया में धीरे–धीरे कंपनी का ध्यान लोक भाषाओं की ओर गया। जॉन गिलक्राइस्ट को यह मालूम था कि कंपनी की शासन की भाषा संबंधी नीति उनके निजी स्वार्थों के विपरीत है। फारसी भाषा जनसामान्य में लोकप्रिय नहीं थी, इसलिए उनकी व्यक्तिगत राय थी कि कंपनी के कर्मचारियों के लिए देशीय भाषाओं विशेषकर हिन्दुस्तानी का ज्ञान नितांत आवश्यक है। गिलक्राइस्ट ने अपने भाषा संबंधी विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''व्यापारी हो या पर्यटक, नागरिक अधिकारी हो या सैनिक अफसर, वकील हो या धर्मोपदेशक तथा दार्शनिक हो या चिकित्सक, संक्षेप में कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसका भारत के साथ किसी प्रकार का संबंध है, उसके लिए हिन्दुस्तानी अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक लाभप्रद भाषा है और इस उपयोगी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना पाश्चात्यों के लिए सबसे प्रथम उद्देश्य होना चाहिए।''[24] इस संबंध में लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने विचार करते हुए लिखा है कि ''जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष मे आये उस समय कंपनी फारसी

भाषा का प्रयोग करती थी। कंपनी के अधिकारी अच्छी तरह या कामचलाऊ फारसी जानने वाले कर्मचारियों पर विशेष कृपा रखते थे। उच्चपदाधिकरियों के समझ में फारसी न आने के कारण राज्यकार्य में उनको बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। उनको दूर करने के लिए दुभाषियों से काम लिया जाता था। लेकिन गिलक्राइस्ट ने देखा कि कंपनी जिस भाषा का व्यवहार करती थी वह देश की भाषा नहीं थी। दिल्ली दरबार की अवनति के साथ–साथ फारसी भाषा का प्रचार कम होता चला था। उन्होंने इस बात को महसूस किया कि राज्य–कार्य सुचारू रूप से चलने के लिए समाज की उच्च श्रेणी के जिन हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग की आवश्यकता थी उनमें हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान होना परमावश्यक समझा गया। उन्होंने स्वयं उसका अध्ययन करना शुरू कर दिया।''[25] इनसे प्रेरित होकर अनेक अधिकरियों ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने में विशेष रूचि दिखाई।

गिलक्राइस्ट ने पुस्तकों का अभाव देखकर स्वयं के खर्च पर पुस्तकें प्रकाशित करवाना शुरू कर दिया। इस कारण से उसे आर्थिक यातना भी झेलनी पड़ी। इस संबंध में उन्होंने कॉलेज कौंसिल को एक पत्र भी लिखा परंतु 1802 में हिन्दुस्तानी संग्रह और छपाई का खर्चा तिरसठ हजार बैठता था। इस लिए कॉलेज कौंसिल ने यह निश्चय कर गिलक्राइस्ट को लिखा कि– ''भविष्य में जब तक हस्तलिखित प्रति कौंसिल को न दिखा दी जाय तथा छपाए जाने वाले अंश, प्रतियों की संख्या और व्यय के चिट्ठे के संबंध में स्वीकृति न ले ली जाय, तब तक और पुस्तकों का कार्य न उठाया जाय और न उपर कोई व्यय हो।''[26] 30 जून 1801 को कौंसिल ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया था कि–''अब आगे कॉलेज के खर्च पर विद्यार्थियों को पुस्तकें न दी जायं। इस संबंध में उसने व्यय के लेखे के साथ छपे हुए ग्रन्थों का हिसाब भी गिलक्राइस्ट से मांगा।''[27] जॉन गिलक्राइस्ट ने भविष्य की समस्याओं पर विचार करते हुए व्यापारिक दृष्टि से अपनी निम्नलिखित शर्तें कॉलेज कौंसिल के पास लिख भेजी :–

''1– ग्रंथकर्ता और प्रकाशक के रूप में मुझे प्रोत्साहन देने के लिए सरकार विद्यार्थियों के उपयोग के लिए प्रकाशित मेरे प्रत्येक ग्रंथ की सौ प्रतियाँ बाजार भाव से लेगी।

2– कॉलेज के लिए मेरे द्वारा लिए गये और प्रकाशित किये जाने वाले प्रत्येक ग्रंथ के रूप और उसके साधारण विषय की पूर्व–स्वीकृति के लिए मैं उसे कौंसिल के लिए मैं उसे सम्मुख उपस्थित करुँगा।

3– उपयुक्त प्रतियाँ या तो संसार के विभिन्न कॉलेजों में मुफ्त बाँटी जाएँगी या पूरे संस्करण के चूक जाने तक कॉलेज में सुरक्षित रहेंगी।

4– इन सुरक्षित प्रतियों में से आवश्यक प्रतियों की लागत सरकार को देते ही वे मेरी समझी जाएँगी।

5–हिन्दुस्तानी कक्षा में आवश्यक ग्रंथों की एक–एक प्रति प्रत्येक विद्यार्थी को बाजार भाव पर खरीदनी होगी।

6– जब तक मैं स्वयं अपने विद्यार्थियों की माँग पूरी कर सकता हूँ, तब तक मैं चाहे जिस समय ये ग्रंथ बेचने की स्वतंत्रता रक्खूँगा और इस संबंध में ग्रंथकर्ता की हैसियत से मुझे प्रत्येक स्वत्व और विशेषाधिकार प्राप्त रहेगा।

7– रचना, अनुवाद और प्रतिलिपि का पूरा खर्च मैं इस शर्त पर दूंगा जब कि सरकार मीर शेख अली को अपने खर्च पर हिंदुस्तानी साहित्य के संशोधन के उनके वर्तमान पद पर मेरी अध्यक्षता में बनाये रखेगी, और उनके पद त्याग या उनके मृत्यु हो जाने पर दूसरा सुयोग्य व्यक्ति रक्खेगी जिसका वेतन वही रहेगा जो अब है अर्थात् दो सौ रूपये मासिक।

8– यदि कुछ विद्यार्थी तीनों वर्षों तक कक्षा में उपस्थित या अनुपस्थित रहकर पढ़ना चाहें और मेरे विभाग में विदित की जाने वाली पुस्तकें मांगें तो ऐसी हालत में मेरी प्रत्येक कक्षा में विद्यार्थियों के लिए पढ़ने के लिए किताबों का खर्च प्रथम वर्ष में पचास रूपये मासिक, द्वितीय में तीस रूपये मासिक, और तृतीय में बीस रूपये मासिक से अधिक किसी हालत में नहीं होगा।

9– विद्यार्थियों की पुस्तकों की मांग पूर्ण करने वाले और प्रकाशक की हैसियत से मेरे व्यवहार का निरीक्षण करने का पूरा अधिकार कॉलेज कौंसिल को होगा, किन्तु साथ ही

साथ ही वह विद्यार्थियों के कॉलेज छोड़ने से पहले उनसे मेरा उधार का रूपया वसूल करने में मेरी हर प्रकार की समुचित सहायता करेगी।

10– चूंकि अनेक ग्रंथ जो इस समय छप रहें हैं भिन्न परिस्थिति में दिए गए हैं, इसलिए उनका ठीक–ठीक हर्जाना भी दिया जाय।''[28]

जॉन गिलक्राइस्ट ने कंपनी एवं छात्रों दोनों के हितों पर विचार करते हुए, कम खर्च में पुस्तकों के प्रकाशन की योजना बनाई। कॉलेज कौंसिल ने हिन्दुस्तानी विभाग को भाषा साहित्य की पुस्तकों की प्रतिलिपि का मुद्रण करने का निर्देश दिया। यह कार्य जितना कठिन था उतना ही अव्यवस्थित भी था। प्रतिलिपि का पुनः मुद्रण करने में अधिक समय और खर्च तो लगता था साथ ही प्रतिलिपि के सारे अंश छात्रों के लिए उपयोगी नहीं थे। ग्रन्थों की रचना के बाद गिलक्राइस्ट ने छात्रों को पढ़ाने के लिए मुंशियों की नियुक्ति करने के बारे में विचार किया। इनका वेतन कॉलेज कौंसिल तय करती थी। नवंबर 1801 में जिन मुंशियों की नियुक्ति की गयी थी उनकी तनख्वाह 40 रूपये प्रतिमाह थी। इन्होंने इसे बढ़ाकर 80 रूपये करने की माँग की। विभाग में काम अधिक होने के कारण गिलक्राइस्ट ने निकाले गये मुंशी गुलाम असरफ और कुछ 'सर्टिफिकेट' मुंशियों को विभाग में वापस रख लिया। 'सर्टिफिकेट' मुंशियों को हिन्दुस्तानी भाषा का उतना ज्ञान नहीं होता था। इनको विद्यार्थियों की सहायता के लिए रखा जाता था जो प्रधानाध्यापक के निर्देश पर कार्य करते थे। उस समय सबसे बड़ा संकट हिन्दुस्तानी और बंगला मुंशियों का था। ''अरबी फारसी भाषाओं के विद्वान् तो अत्यधिक संख्या में मिल सकते थे और मिल जाते थे, किंतु हिन्दुस्तानी या बंगला भाषा का वैज्ञानिक ज्ञान रखने वाले विद्वान् बहुत कम मिलते थे। अस्तु, गिलक्राइस्ट ने 5 नवंबर 1801 को कॉलेज कौंसिल से बारह अतिरिक्त मुंशी और, अर्थात् अपने विभाग के लिए चालीस रूपया मासिक वेतन पर कुल बीस मुंशी मांगे। हिन्दुस्तानी विभाग के कुछ मुंशियों को छोड़कर ऐसे मुंशी ही अधिक थे जिनका हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान अपरिपक्व था। कॉलेज में नौकरी करने के पूर्व उन्हें हिन्दुस्तानी भाषा के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक अध्ययन करने का अवसर कभी न मिला था। उनका ज्ञान युवावस्था में सीखी गयी भाषाओं तक ही सीमित था। अतएव उन्हें हिन्दुस्तानी भाषा आज्ञा

पत्र निकालना पड़ता था। इन आज्ञा पत्रों में मुंशियों को शिक्षकों के रूप में अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन करने के संबंध में जो शिक्षाएं दी जाती थीं, वे व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हिन्दुस्तानी में लिखी जाती थीं। प्रधानाध्यक्ष की अध्यक्षता में यह कार्य प्रधान और सहायक मुंशी ही किया करते थे। वे देशीय अध्यापकों की डायरियों का निरीक्षण भी करते थे। परीक्षाओं का भार भी प्रायः इन्ही दो मुंशियों पर रहता था। प्रधान मुंशियों के अथक परिश्रम के ही कारण हिन्दुस्तानी विभाग के अन्य समस्त मुंशियों ने रोमन तथा नागरी लिपि और फारसी व्याकरणों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।''[29]

गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी भाषा समझने में आने वाली कठिनाईयों से निपटने के लिए कॉलेज कौंसिल के सामाने भाषा मुंशियों को रखने की माँग की। कॉलेज कौंसिल ने 19 फरवरी 1802 को इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। हिन्दी भाषा मुंशी के रूप में लल्लूलाल की नियुक्ति की गयी। इससे पूर्व लल्लूलाल कॉलेज में 'सर्टिफिकेट' मुंशी और सुलेखक के रूप कार्य में करते थे, इस पद को निरर्थक समझते हुए जुलाई 1801 में निकाल दिया गया था। ''1 अगस्त 1801 से 31 जनवरी, 1802 तक का पिछला वेतन देने की स्वीकृति दे दी।''[30] बाद में ''स्थायी अध्यापकों की 7 जून,1802 की नई सूची में लल्लूलाल का नाम निश्चित रूप से मिलता है। वे 'भाखा मुंशी' कहे गए हैं। सरकारी पत्रों में भी उनकी नौकरी पाने की मूल तिथि फरवरी, 1802 है।''[31] जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी भाषा सीखने में आने वाली कठिनाईयों के बारे में स्वयं लिखा है कि ''मूल में हिन्दुस्तानी और ब्रज भाषा का इतना घनिष्ठ संबंध है कि मुंशियों को ब्रज भाषा का बहुत ही अपूर्ण ज्ञान होने के कारण इस अंश के संबंध में समुचित सहायता के अभाव में मुझे प्रायः कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए कॉलेज के कामों में सहायता करने के लिए मैं पचास रूपये वेतन पर एक सुयोग्य व्यक्ति रखने की प्रार्थना करता हूँ।''[32] छात्रों को अधिकार दिया गया कि अगर वे चाहे तो मुंशियों से अलग से पढ़ सकते हैं जिनको कॉलेज की तरफ से सर्टिफिकेट मुंशी का प्रमाण–पत्र मिल चुका हो। विद्यार्थियों को सुलेख लिखने में मदद करने वाले मुंशियों की नियुक्ति की जाती थी। ताकि भाषागत त्रुटियों का सही ढंग से निवारण हो सके। ''सर्वप्रथम सुंदर पंडित नागरी सुलेखक और कल्व अली

फारसी सुलेखक नियुक्त हुए थे।''[33] कुछ समय बाद इन सुलेखकों की नियुक्ति विभागों में कर दी गयी। ''सदल मिश्र का नाम सर्वप्रथम पुस्तकों की उस सूची में मिलता है जो गिलक्राईस्ट ने कॉलेज कौंसिल के पास भेजी थी वे और लल्लूलाल 'नकलियात–इ लुकमानी' नामक ग्रंथ की रचना में तारिणीचरण और मौलवी अमानतुल्ला के सहायक बताए गए है।''[34] लल्लूलाल और सदल मिश्र के अलावा हिन्दुस्तानी तथा अन्य विभागों में समय–समय पर नियुक्ति होती रही। हिन्दी और हिन्दुस्तानी विभाग में अनेक मुंशियों ने भी कार्य किया।

भारतीय इतिहास में ऐसा पहली बार हिन्दी की पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन सरकारी सहायता से हुआ। हिन्दी की पुस्तकें लिखी जाने के पूर्व फोर्ट विलियम कॉलेज में ज्यादातर अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। बाद में भाषाओं का अध्ययन शासन व्यवस्था चलाने के लिए की गयी। कॉलेज की पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी लेखकों की नियुक्ति की गयी, जिनमें लल्लूलाल और सदल मिश्र का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। मुंशी लल्लूलाल और सदल मिश्र ने हिन्दी पुस्तकों के लेखन में विशेष योगदान दिया। इन लोगों से लगभग साठ वर्ष पूर्व रामप्रसाद निरंजनी की रचना 'भाषा योगवाशिष्ठ' में गद्य का अच्छा रूप देखने को मिलता है। इनके अलावा सदासुखलाल 'नियाज' ने सन् 1773 ई0 में गद्य में रचना करना प्रारंभ कर दिया था, फिर भी लल्लूलाल और सदल मिश्र ने स्वतंत्र रचनायें न करके संस्था के निर्देश के आधार पर की। कॉलेज के प्रारंभिक दिनों में ही आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से पुस्तकों का लेन–देन प्रारंभ हो गया।

गिलक्राइस्ट ने जिन ग्रंथों की रचना की उसकी भाषानीति में वे सहायक नहीं सिद्ध हुए। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा का समर्थन किया। वैसे वे तो रोमन भाषा के प्रबल समर्थकों में प्रमुख थे, जिसको लागू कर पाने में सफल नहीं हो सके। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा को शासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जिसमें अरबी तथा फारसी भाषा के शब्दों की भरमार थी। यह भाषा लोक प्रचलित भाषा तो थी पर लोक की भाषा नहीं थी, इसकी जानकारी मात्र उन अल्पसंख्यक उच्चवर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों को था, जो प्रायः सरकारी नौकरियों से जुड़े होते थे। कॉलेज में हिन्दुई और नागरी लिपि को जानने वाले मुंशियों की

संख्या लगभग न के बराबर थी। इस कारण से इन भाषाओं को पढ़ाने के लिए कम वेतन पर स्थायी एवं अस्थायी मुंशियों की नियुक्ति की जाती थी। फारसी के कारण हिन्दुस्तानी सीखने में सुविधा होती थी इसलिए छात्र हिन्दुस्तानी के साथ फारसी लेना अधिक पसन्द करते थे। हिन्दुस्तानी हिन्दी से अलग भाषा थी। ''गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धान्त–क्रिया रूप आदि तो हलहैंड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक (प्योर ऑर ओरिजिनल हिन्दुस्तानी') क्रिया और स्वयं उनके द्वारा कही जाने वाली 'हिन्दुवी' या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिसमें अरबी–फारसी के संज्ञा–शब्दों की भरमार रहती थी। इस भाषा को केवल वे ही हिन्दू और मुसलमान बोलते थे जो पढ़े–लिखे थे और जिनका संबंध राजदरबारों से था, या जो सरकारी नौकर थे। लिखने में फारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। हिन्दुस्तानी को उन्होंने 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दूवी', और 'रेख्ता' भी कहा है।''[35]

हिन्दुस्तानी में अरबी–फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग किया जाता था। इन्होंने नागरी लिपि में हिन्दी और हिन्दुस्तानी सीखने में सरलता प्रदान करने के लिए हिन्दी 'हिन्दी स्टोरी टेलर (1803)' की रचना की। यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रथम प्रकाशित रचना थी, इसके पूर्व केवल अभ्यासकार्य हेतु हिन्दुस्तानी पुस्तकें तैयार की जाती थी। भाषागत् यह अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

''इस लड़की से दोनों सखीयां पूछने लगीआं तू जो इन दरखतों को सींचती रहती है क्या दस वराहमन को ये तुझसे भी बहुत पेआरे हैं तू तो उनको जान से भी चाहिती जियादः है सो तुझको उन्होंने क्यू इनकी खिदमत को मुकरर कीआ है खुदा ने तुझे यिह सूरत बा सकल दी है कि कोई हुस्न वो अदा में तेरे मुकाबिल नहीं।''[36]

''सुना है जो अेक भाट निपट दलिद्री था। अेक दिन उसकी जोरू वोली जो कहीं कुछ हाथ आवे तो यिह लड़की वेआही जावे। क्यूंकि मरना जीना साथ ही लगा है। जो अपने साम्हने निवाह दें तो बहुत अच्छा क्या जानी साथ ही लग रहा है। जो अपने साम्हने निवाह दे ंतो बहुत अच्छा क्या जानीअे हमारे पीछे कैसे बन पड़े।''[37]

उपरोक्त उद्वरण से स्पष्ट है कि उस समय कॉलेज में नागरी टाइप और प्रेस की सुविधा उपलब्ध थी। उस समय भाषा के दो शब्द रूप प्रचलित थे– 1. कैथी 2. महाजनी शैली। कैथी शब्द रूप को कायस्थों से जोड़कर देखा जाता था, जिसमें, वही का लेखा–जोखा होता था। गिलक्राइस्ट के उत्तराधिकरियों ने भी अनेक हिन्दी हिन्दुस्तानी ग्रंथों की रचना की– प्राईस ने 'इंग्लिस डिक्शेनरी (1815)' बौकल वुलेरी ने 'खड़ी बोली एण्ड इंग्लिश ऑफ दि् प्रिन्सपुल वार्ड्स अकरिंग इन दि् प्रेमसागर (1825) में प्रकाशित हुआ और तारणीचरण मित्र के सहयोग से 'हिन्दी एण्ड हिन्दुस्तानी एलेक्सन (1827–30) नामक संग्रह का संपादन किया इनके अलावा अन्य कई विद्वानों ने हिन्दुस्तानी और हिन्दी में अनेक पुस्तकें तैयार की।

लल्लूलाल ने 1803 ई0 में 'प्रेमसागर' की रचना की। वह इसकी भूमिका में लिखते हैं कि ''1860 में लल्लूजी लाल ब्राह्मण गुजराती सहस्र अबदीच आगरे वाले विस सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह प्रेमसागर नाम धरा।''[38] 19 अगस्त 1803 में गिलक्राइस्ट द्वारा कौंसिल को भेजे गये पत्र में इसके लिए पुरस्कार की माँग की गयी थी। प्रेमसागर मूलतः भागवत पुराण के दशम स्कंध की विष्णु अवतार कृष्ण की कथा को लेकर लिखा गया है। इसको 90 अध्यायों में विभक्त किया गया है। अन्तिम अध्याय 'द्वारिका का वैभव' है। इस रचना के अन्त में संस्कृत में लिखा है कि ''इति श्रीलल्लूलाल कृते प्रेमसागर द्वारिका विहार वर्णनों नामक नब्बेयां अध्याय।'' गिलक्राइस्ट ने इसके संबंध में कहा है कि ''प्रेमसागर एक बहुत ही मनोरंजक पुस्तक है जिसे लल्लूलाल जी ने हमारे विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की शिक्षा देने के निमित्त ब्रजभाषा की सुन्दरता और स्वच्छता के साथ खड़ी–बोली में किया।''[39] इससे ऐसा जान पड़ता है कि गिलक्राइस्ट को खड़ी बोली का ज्ञान नहीं था, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि तत्कालीन समय में खड़ी बोली एक सर्वथा नया प्रयोग थी। लल्लूलाल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि ''एक दिन साहब ने कहा ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे रेखते की बोली में कहो– मैंने कहा बहुत अच्छा, पर इसके लिए कोई पारसी लिखने वाला दीजिए, तो भाँलि–भाँति लिखि जाए। उन्होंने दो शाइर मेरे तैनात किए, मजहर अली विला और काजिम अली जवां। एक

वर्ष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा में रेखते की बोली में किया।''[40] इससे यह लगता है कि इन्होंने इसकी रचना स्वतंत्र रूप से स्वयं न करके कई लोगों की सहायता से की।

नसिकेतोपख्यान अथवा चंद्रावती की रचना सन् 1803 ई0 में लल्लूलाल द्वारा की गयी। इस गद्य रचना को जॉन गिलक्राइस्ट ने प्रेमसागर के साथ कॉलेज की कौंसिल से इनाम देने के लिए प्रार्थना पत्र भेजा जिसे कॉलेज कौंसिल ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि 'जो देशी विद्वान कॉलेज से नियामत वेतन पाते हैं उनकी रचनाओं को पुरस्कार देना उचित नहीं है। जो विद्वान बिना वेतन के कार्य करते हैं उनकों विशेष अवसरों पर सम्मानित किया जा सकता है।'

सिंहासन बत्तीसी की रचना सन् 1801 ई0 में और प्रकाशन सन् 1805 में हुआ। इस रचना में राजा विक्रमादित्य की 32 पुतलियों की कहानी है। राजा विक्रमादित्य के सिंहासन के विषय में कई लोक कथाएं प्रचलित हैं। इसी को सुन्दरदास ने अनूदित किया था। ''लल्लूलाल जी ने इन्हीं कहनियों का अनुवाद रेखता में किया था, परंतु लिपि देवनागरी ही थी।''[41] सिंहासन बत्तीसी के कई संस्करण प्रकाशित हुए। सिंहासन बत्तीसी इतनी प्रसिद्ध लोकप्रिय थी कि 1866 ई0 में ''भारतीय सिविल सर्विस (आई0सी0एस0) के विद्यार्थियों के लिए परीक्षा पुस्तक के रूप में स्वीकृत थी।''[42]

राजनीति की रचना सन् 1802 ई0 में हुई और इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1809 में कलकत्ता से हुआ था। यह विष्णु शर्मा द्वारा लिखित हितोपदेश की कहानियों का हिन्दी में अनुवाद है। इन उपदेश परक कहानियों को लल्लूलाल ने राजनीति नाम से अभिहित किया है। इसकी रचना आम बोलचाल की भाषा में की गयी है। ''तॉसी ने इसे राज्य की कला के (नारायण पंडित कृत) हिन्दुई और ब्रजभाषा में अनूदित रचना कहा है।''[43] इसकी रचना सैनिकों को ब्रजभाषा सीखने में सुविधा हो सके इसलिए की गयी थी। इसकी भाषा का नमूना उदाहरण स्वरूप देख सकते हैं–''गंगाजू के तीर गध्र कूट नाम परवत तहाँ येक पाकर कौ रूखवाके खोडरे में एक अति वूढ़ौ गीध रहै तहां और पंक्षी आपनौं चुनि ल्यावें ता

में थोरौ थोरौ गीध कौ हू वांटि है।। जामें वह जीवै।। अरू जव वे पंछी चुंगवे कौ जांय तव गीध उनके छौनानि की रखवारी कियौ करै।।''[44]

माधव विलास की रचना सन् 1817 ई0 में हुई थी। इसकी रचना ब्रज भाषा में गद्य एवं पद्य में की गयी है। ''रघुराम नामक गुजराती कवि के 'सभासार' और कृपाराम कवि द्वारा पद्य से संगृहित 'योगासार' नामक ग्रंथों का सार लेकर लल्लू जी ने इस पुस्तक की रचना की। परंतु जिन पुस्तकों का सहयोग हंटर महोदय ने हिन्दुस्तानी डिक्सनरी के निर्माणार्थ लिया था उनमें माधव–विलास का नाम नहीं है।''[45] इनके द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थ– सिंहासन बत्तीसी, बेताल पच्चीसी, शकुन्तला, राजनीति, ब्रजभाषा व्याकरण, सभा विलास, लालचंद्रिका आदि प्रमुख हैं। इनको 'प्रेमसागर' की रचना करने के कारण सबसे अधिक जाना जाता है। इनकी रचनाओं के बारे में विद्वान मतैक्य नहीं हैं।

भारतीय भाषाओं के उत्थान में फोर्ट विलियम कॉलेज की अहम् भूमिका है। छात्रों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए अनेक मौलिक एवं अनूदित पुस्तकों की रचनाएँ हुईं। इसी समय प्रेस का चलन तेजी के साथ हुआ जो भारतीय भाषाओं के विकास में वरदान साबित हुई। प्रेस के चलन के बाद भारतीय भाषाओं में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। कॉलेज में अनेक शब्दकोशों की रचना हुई, यहीं पर प्रथम बार ब्रज भाषा के सिद्धान्तों का विवेचन हुआ। हिन्दुस्तानी विभाग में दो ही व्यक्ति हुए गिलक्राइस्ट और विलियम प्राइज। ''विलियम प्राइज जो हिन्दी विभाग के अन्तिम अध्यक्ष थे, ने हिन्दी कोश के निर्माण के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। कालिज के पत्रकारों के द्वारा हिन्दुस्तानी भाषा को आधुनिक हिन्दी नाम देने का श्रेय श्री विलियम प्राइज को ही जाता है। उनसे पूर्व कलिज के जिस विभाग को हिन्दुस्तानी विभाग कहा जाता था, उनके प्रयास से वह हिन्दी विभाग कहलाने लगा।''[46] जिस समय लल्लूलाल की नियुक्ति की गयी उस समय कॉलेज का पूरा माहौल अरबी, फारसी और उर्दू का ही था, पर लल्लूलाल ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली लिखा करते थे। इन्हीं के साथ सदल मिश्र भी खड़ी बोली में रचनाएं किया करते थें, इनकी बोली में पूर्वीपन का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। इनकी प्रमुख रचनाएँ– चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान, रामचरित अथवा अध्यात्म रामायण हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य में फोर्ट विलियम कॉलेज की क्या भूमिका है, इस पर विद्वान मतैक्य नहीं हैं। कॉलेज में जो हिन्दी गद्य की रचनाएँ हुई वे साहित्य प्रेम की भावना से प्रेरित होकर नहीं की गयी, बल्कि भाषा से प्रेरित होकर की गयी। साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएं उपयुक्त न हो पर गद्य साहित्य में उसके योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिन्दी गद्य साहित्य लेखन के लिए भारतीस इतिहास में पहली बार सरकारी सहायता इतने बड़े पैमाने पर मिली, जो आगे चलकर प्रेरणा का श्रोत बनी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा 'भारतेंदु मण्डल'

सन् 1800 ई0 में फोर्ट विलियम कालेज के स्थापना के समय भारत में गद्य लेखन का प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व से भी गद्य लेखन की परंपरा चली आ रही थी, लेकिन उसे इतना व्यापक उद्‌देश्य की दृष्टि से नहीं देखा गया। 1803 ई0 जॉनक्राइस्ट ने हिन्दी–उर्दू दोनों प्रकार की पुस्तकें तैयार कराई। 1800–03 ई0 लगभग फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल लाल मिश्र ने 'नासिकेतापाख्यान' की रचना की। इसके अलावा 'रानी केतकी की कहानी', 'बैताल पच्चीसी', 'ज्ञानोपदेश', सिंहासन पच्चीसी आदि की रचनाएँ लगभग 1800–03 ई0 के आस–पास मिलती हैं। सदासुखलाल के लगभग 60 वर्ष पूर्व रामप्रसाद निरंजनी की रचना 'भाषा योगवाशिष्ठ' में गद्य के अच्छे स्वरूप को देखा जा सकता है।

गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। गद्य के विकास में उनके द्वारा स्थापित प्रेस की भूमिका अहम है। बिना प्रेस के इतनी अधिक संख्या में पुस्तकों का मुद्रण सम्भव नहीं था और पत्र–पत्रिकाओं के बारे में तो सोचा भी नहीं जा सकता था। अंग्रेजी के साथ–साथ उर्दू की पढ़ाई का जिम्मा सरकार ने ले लिया। इसके लिए सरकार द्वारा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की गई। और 1933 ई0 में आगरा बुक सोसाइटी की स्थापना हुई जिसने 'कथासार' नामक पुस्तक प्रकाशित कराई। 1840 ई0 'भूगोलसार' और 1847 ई0 में 'रसायन प्रकाश' का प्रकाशन हुआ।

ईसाई मिशनरियों का मुख्य काम था ईसाई धर्म का प्रचार करना। ऐसी स्थिति में हिन्दू जनता ने इसका कड़ा विरोध किया। धर्म बचाने के लिए प्रयास होने लगे और हिन्दी गद्य का प्रारंभ धार्मिक खंडन–मंडन को लेकर हुआ। उस समय के जिन प्रमुख व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें राजा राममोहन राय का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। जिन्होंने 1815 ई0 में 'वेदान्त सूत्र' का हिन्दी गद्य में अनुवाद प्रकाशित कराया और 1829 ई0 में 'बंगदूत' नामक पत्र भी निकाला। इसके पहले 1826 ई0 में पं0 जुगल किशोर ने हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र 'उदंत मार्तंड' निकाला। आगे चलकर इन

पत्रों को आर्थिक और सरकारी कठिनाई झेलनी पड़ी। अगर देखा जाय तो हिन्दी में जितने भी प्रारंभिक पत्र निकले वे हिन्दी क्षेत्र से न निकल कर किसी और क्षेत्र से निकले जिसमें बंगदूत और उदंत मार्तांड दोनों पत्र कलकत्ता से निकले।

धीरे–धीरे समाचार पत्रों का रूप बदला और उसमें कुछ संरचनात्मक वृद्धि का कार्य हुआ। 1845 में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने काशी से 'बनारस अखबार' निकाला और गद्य के अध्ययन सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखीं जिसमें– विज्ञान, भूगोल पुस्तकों के अलावा कुछ गद्य रचनाओं में –'राजाभोज का सपना', 'वीर सिंह का वृत्तात', 'आलसियों का कोड़ा', इतिहासतिमिरनाशक आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा 1850 ई0 में बनारस से ही 'सुधारक' पत्र निकला। राजा लक्षमण सिंह ने 1860 ई0 में 'प्रजाहितैषी' नामक पत्र निकाला। 1867 ई0 से नवीन चन्द्र ने 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका निकाली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1868 ई0 में 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, 1873 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्रियों की शिक्षा से सबंधी 'बालबोधिनी' नामक पत्रिका निकाली। भारतेन्दु युगीन प्रमुख साहित्यकार प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (1877), उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने 'आनंद कादंबिनी, 'नीरद माला' आदि के द्वारा अलग–अलग क्षेत्रों में पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से गद्य को एक नया रूप दिया। भारतेन्दु युगीन अन्य उल्लेखनीय साहित्यकारों में लाला श्रीनिवास दास, पं0 राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, ठाकुर जगमोहन आदि प्रमुख हैं जिन्होंने अनेक गद्य रचनायें की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी साहित्य में पदार्पण बड़े सौभाग्य की बात है। इन्होंने हिन्दी को नई दिशा देने का जो काम किया वैसा इनके पूर्ववर्ती किसी अन्य रचनकार नहीं किया था। इनके पूर्ववर्तियों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और लक्ष्मण सिंह का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन लोगों ने हिन्दी को स्थापित करने में सराहनीय काम किया। इनके अलावा भी कुछ रचनाकार ने हिन्दी में अपने विशेष योगदान के लिए जाने जाते हैं।

इनें रचनाकारों के योगदान की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। इस अध्याय में इनके कृतित्व व्यक्तित्व का सामान्य परिचय दिया गया है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 8 सितबंर 1850 ई0 में हुआ था तथा मृत्यु 6 जनवरी 1885 ई0 में हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न निबन्धकार थे। इनके निबन्धों की परिधि बहुत व्यापक है। इन्होंने धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज–यात्रा, प्रकृति वर्णन, आत्म चरित आदि सभी विषयों पर निबन्ध लिखा। भारतेन्दु के निबन्धों में उनकी प्रगतिशील मान्यताएँ, व्यंग्य–विनोद, उदारता, सजीवता, वैयक्तिकता आदि सब कुछ दिखाई देता है। इनके धार्मिक निबन्धों में अंधविश्वासों, मिथ्या–परम्पराओं, बाह्य आडम्बरों पर खुला प्रहार किया गया है। सामाजिक निबन्धों में इन्होंने कुरीतियों का खुलकर विरोध किया है। राजनीतिक निबन्धों में विदेशी शासन पर मीठे व तीखे व्यंग्य किये हैं। इनके यात्रा वर्णन अत्यन्त सजीव और प्राकृतिक निबन्ध अत्यन्त मनोहारी हैं। ताजगी, जिन्दादिली, आत्मीयता, व्यक्किता, मौलिकता, व्यंग्यात्मकता इनके निबन्धों के विशिष्ट गुण हैं। इनके निबन्ध की भाषा सरल, सरस है। वाक्य छोटे, व्यंजक तथा भावपूर्ण हैं। मुहावरों व लोकाक्तियों में बनारसीपन हैं। इनके निबन्ध 'पाँचवे पैगम्बर' नामक निबन्ध संग्रह में संकलित है।

बालकृष्ण भट्ट :

बालकृष्ण भट्ट स्वतंत्र और प्रगतिशील विचारों के रचनाकार थे, इन्होंने नाटक, निबन्ध और उपन्यास सभी विधाओं में रचना की। इनके निबन्ध सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक विषयों पर लिखे हैं। इनके निबन्ध परिष्कृत और परिपक्व हैं। इनके साहित्यिक निबन्धों में विविधता अधिक है। इनके निबंध व्यंग्य–विनोद प्रधान, गम्भीर तथा विश्लेषणात्मक हैं। दृढ़ता, आत्म निर्भरता, प्रेम और भक्ति, ज्ञान, भक्ति, स्पर्धा, प्रीति आदि उनके विश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्ध हैं।

भट्ठ जी विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने में समर्थ थे। इनके निबन्ध चुटीले और कर्कश हैं। उर्दू में शब्दों का भी प्रयोग इन्होंने किया है। किन्तु इनकी भाषा में पूर्वीपन दिखाई देता है। 'साहित्य सरोज' और 'भट्ट निबन्धावली' इनके निबन्ध संग्रह हैं। बालकृष्ण

भट्ट ने भाषागत विचार से ऊपर उठकर जनसामान्य की भाषा का समर्थन किया। इन्होंने हिन्दी उर्दू को अलग–अलग भाषा मानते हुए व्याकरणिक दृष्टि से दोनों के एक ही रूप का समर्थन किया। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में ही नहीं अपितु नाटकों और उपन्यासों में भी सर्वोन्मुखी प्रतिभा देखी जा सकती है। इनके उपन्यास प्रायः उपदेश प्रधान हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन रूढ़ियों का घोर विरोध किया गया है। बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु युग के सफल नाटककार, निबन्धकार, उपन्यासकार, कवि और पत्रकार हैं। बालकृष्ण भट्ट जी आजीवन हिन्दी साहित्य की सेवा में जुड़े रहे।

प्रताप नारायण मिश्र :

प्रताप नारायण मिश्र ने लगभग सभी विधाओं पर रचनाएँ की। ये उपन्यास लेखन के क्षेत्र में कुछ खास नहीं कर सके। बस दूसरे भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद किया है। इनके निबन्धों में सरलता और मनमौजीपन को देख सकते हैं। इनमें कुछ रूढ़िवादिता भी थी। बेगार, रिश्वत, देशी कपड़ा, पतिव्रता, गोरक्षा, बज्र मूर्ख, भेड़िया धसान आदि उनके निबन्ध हैं। इनके निबंध विविध विषयों पर हैं। 'नवीन', 'प्रताप–पीयूष' और 'प्रताप–समुच्चय' इनके निबन्ध संग्रह है। उनकी भाषा में निर्बन्धता, व्यंग्य–विनोद, खरापन है। उनकी भाषा में ग्रामीण शब्द और मुहावरे हैं। इनकी शैली वार्तालाप के अधिक निकट है।

श्री विजय शंकर ने भारतेन्दु युगीन निबन्धों की विशेषतओं को शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है–'भारतेन्दु युग के निबंध सचमुच का प्रयास ही है। उनमें न बुद्धि वैभव है न पाण्डित्य प्रदर्शन और ग्रन्थ ज्ञान ज्ञापन।'

उपाध्याय पंडित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' :

पंडित बदरी नारायण चौधरी भारतेन्दु युगीन प्रमुख साहित्यकारों में एक थे। इन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' और 'नागरी' में अनेक लेख लिखे। वे भारतेन्दु के विचारों के समर्थक थे। इन्होंने अपने कई लेखों में तत्कालीन अंग्रेजी सरकार की नीति को उजागर किया है। उन्होंने साफ तौर पर कहा है कि 'अंग्रेजी राज्य के कर के कारण जो क्लेश किसानों को

अब सहना पड़ा है वह पहले मुसलमानों के राज्य में नहीं था।' आनन्द कादम्बिनी' का 'नवीन संवत्सर' तो मानो उनकी कूटनीति के पर्दाफाश के निमित्त ही लिखा गया था। इसमें अंग्रेजों की कथनी और करनी को अच्छी तरह उद्‌घाटित किया है। पर उनके गद्य में रीति तत्व कम नहीं है। यह तत्व उनकी रहन–सहन, वेश–भूषा, आकृति में भी था। साहित्य सेवा को उन्होंने स्वान्तः सुखाय स्वीकार किया। ऋतुवर्णन सम्बन्धी निबंधों में नायिकाओं की मनोदशा का वर्णन उनकी उसी मनोवृत्ति का सूचक है। भाषा सम्बन्धी अलंकृति रईसों की अलंकृति ही थी। सानुप्रास की चमत्कारिक पदावली पूर्ण भाषा की ओर उनका विशेष रूझान था। आचार्य शुक्ल ने इनकी शैली पर विचार करते हुए कहा है –'उपाध्याय पंडित बदरीनाराण चौधरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। ये गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले–कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे।' पंडित बदरीनाराण चौधरी प्रेमघन तत्कालीन समय में बहू प्रचलित रचनाओं पर अनेक समीक्षाएँ 'आनन्द कदम्बिनी' में लिखा करते थे। बालकृष्णभट्‌ट द्वारा लिखित 'नूतन ब्रह्मचारी' और लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखित 'संयोगिता स्वयंवर' की लम्बी आलोचना उन्होंने लिखा है। पंडित बदरीनाराण चौधरी का हिन्दी साहित्य में गणना एक सजक रचनाकार और अलोचक के रूप में की जाती है। भारतेंदु युगीन आलोचकों में इनका नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।

तोताराम :

बाबू तोताराम प्रमुख सर्जक रचनाकारों में थे। प्रारम्भ में ये हेडमास्टर थे किन्तु बाद में नौकरी छोड़कर अलीगढ़ में प्रेस खोलकर 'भारत बंधु' नामक पत्र निकालने लगे। भारतेन्दु मण्डल के ये प्रमुख साहित्यकार थे। इन्होंने हिन्दी के प्रचार–प्रसार में भारतेन्दु का पूरा साथ दिया। इन्होंने 'भाषा संवर्धिनी' नामक एक सभा भी स्थापित की तथा हिन्दी भाषा की उन्नति में सहयोग किया। इनकी पुस्तकें हैं–'कोटेकृतांत नाटक', 'स्त्री सुबोधिनी'। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में इन्होंने 'कीर्तिकेतु' नामक नाटक भी लिखा था। इनकी भाषा साधारण एवं विशेषण रहित है।

पं0 अम्बिका दत्त व्यास :

ये संस्कृत के विद्वान, हिन्दी के अच्छे कवि तथा सनातन धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इनके धर्म सम्बन्धी व्याख्यानों की बड़ी चर्चा थी। 'अवतार मीमांसा' आदि धर्म सम्बन्धी पुस्तकों के अलावा इन्होंने बिहारी के दोहों के भाव को विस्तृत करने के लिए 'बिहारी बिहार' नामक काव्य ग्रन्थ लिखा। इन्होंने 'गद्यकाव्य—मीमांसा' आदि गद्य की भी पुस्तकें लिखीं। भारतेन्दु के कहने पर इन्होंने 'गो संकट नाटक' लिखा।

पं0 राधाचरण गोस्वामी

ये मूलतः वृन्दावन के श्री राधारमण मन्दिर के 'गोस्वामी सम्प्रदाय' के आचार्य थे। माता की मृत्यु के बाद पिता के साथ रहा करते थे। इनकी शिक्षा हमेशा चलती रही। फिर भी इनके पढ़ने लिखने में कोई बाधा नहीं पड़ी। सन् 1870 ई0 में इन्होंने नियमित रूप से पहले व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा और फिर श्रीमद्भागवत और अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ पढ़ा। सन् 1873 ई0 में पं0 राधाचरण गोस्वामी पं0 उमादत्त के पास कौमुदी पढ़ते थे तभी यहाँ के गर्वमेंट स्कूल में संस्कृत के विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई उसमें ये भी सम्मिलित हुए। अतएव अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव और परीक्षा का ढंग देखकर इनके मन में भी अंग्रेजी पढ़ने की इच्छा हुई। इन्होंने फर्रूख़ाबाद स्कूल के जिला स्कूल में अपना नाम लिखवा लिया। यह बात जब इनकी शिष्य मंडली को पता चली तो बड़ी आलोचना हुई। लोगों ने चारों ओर से कहना शुरू कर दिया कि म्लेच्छ भाषा पढ़ोगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे। तब समाज के भय और खुद के अर्थ का ध्यान करके न चाहते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना छोड़ दिया। उसी समय बनारस से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' पत्रिका का प्रकाशन हो रहा था। उसे पढ़कर देश सेवा की भावना जागी।

सन् 1875 ई0 में राधाचरण गोस्वामी ने अपने मित्र मधुसूदन जी के साथ मिलकर ''कविकुल कौमुदी' नाम की सभा स्थापित की। जिसका मूल उद्देश्य हिन्दी और संस्कृत की पुष्टि करना था। इस सभा के शुरू होने से तीन दिन पहले इनकी पत्नी का देहावासान हो

गया, फिर भी राधचरण गोस्वामी इसमें उपस्थित हुए। उस समय कट्टर वैष्णव लोगों ने सभा में एक अलग बात समझकर विरोध किया। परन्तु यह किसी से प्रतिवाद न करके अपना कार्य करते रहे। कुछ समय बाद उसी वर्ष इन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। अपनी दूसरी पत्नी को स्वयं शिक्षा दी। तत्कालीन समय चल रहे प्रमुख समाज सुधार आन्दोलन आर्य समाज से सबसे ज्यादा प्रभावित हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गुप्त आलोचना करने पर इन्होंने ब्राह्मधर्म से अपना संबंध तोड़ लिया। फिर इन्होंने आर्यसमाज का ग्रंथ स्वयं पढ़ा और स्वामी दयानन्द से साक्षात प्रश्नोत्तर किए। इन्होंने स्वयं लिखा है कि 'स्वामी दयानंद सरस्वती जी के वाक्य मुझे वेद वाक्यवत् मान्य है और उनकी प्रत्येक बात मेरे लिये उदाहरण स्वरूप है।'

पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 1887 ई0 में लिखना प्रारंभ किया। इन्होंने 1883 तक निकल रहे लगभग सभी पत्रों में विभिन्न विषयों पर लेख लिखे। इनके लेखों का आकार संक्षिप्त से लेकर बृहत् आकार में भी मिलता है इनके कुछ लेख ऐसे हैं जिसकी पुस्तक बन सकती है इन्होंने सन् 1883 ई0 में 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र निकाला पर आर्थिक सहायता न मिलने के कारण इसको बंद कर देना पड़ा। सन् 1884 ई0 में प्रयाग में हुई हिन्दी पत्र संपादक की सभा में ये मंत्री थे। इन्होंने 'विदेश यात्रा–विचार और विधवा–विवाह–विवरण' दो समाज संशोधन पर ग्रंथ लिखे। 1883 ई0 हंटर कमीशन में 21000 लोगों के हस्ताक्षर हिन्दी के समर्थन में करवाये। अपनी सामर्थ्य के अनुसार हिन्दी की सेवा की।

ठाकुर जगमोहन सिंह :

ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म सन् 1857 में हुआ था। इनके पूर्वजों का संबंध जयपुर के राजघराने से था। जब इनके पिता सरखू सिंह 17 वर्ष के हुए तब 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों के खिलाफ शामिल हो गए। इसलिए अंग्रजों ने इनके राज्य को जब्त कर लिया। इस समय ठाकुर जगमोहन सिंह की आयु केवल छः महीने की थी। 1866 में ठाकुर जगमोहन को पढ़ने के लिए बनारस भेजा गया। यहां इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, बंगला

उर्दू आदि भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त की। बनारस में रहने के कारण इनको भारतेन्दु जी से स्नेह हो गया था। ठाकुर जगमोहन सिंह यहाँ से पढ़–लिखकर सन् 1880 में रायगढ़ (मध्य प्रदेश) में तहसीलदार बन गए और अपनी योग्यता के बल पर दो वर्ष में एक्सट्रा असिस्टेंट कमिश्नर हो गए। वहाँ से लौटकर कूच बिहार राज्य के काँऊसिल मंत्री हुए। यहाँ के महाराज इनके सहपाठी थे। इन्होंने अपना कार्य बड़ी योग्यता से किया पर रोग से परेशान रहे। अन्त में नौकरी छोड़ कर अपने घर लौट गए। सन् 1899 में इनकी मृत्यु हो गई।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने अपने जीवन काल में अनेक ग्रन्थ रचे थे जिसमें श्यामास्वप्न, श्यामासरोजनी, प्रेम सम्पत्तिलता, मेघदूत, ऋतु संहार, कुमार संभव, प्रेम हजारा, सज्जानाटक, प्रलय, ज्ञान प्रदीपिका, सांख्य सूत्रों की टीका, वेदान्त सूत्रों (वादरायण) पर टिप्पणी की। हंसदूत, बानी वार्ड विलास इत्यादि में कुछ ग्रंथ अनूदित और मौलिक है।

पंडित किशोरी लाल गोस्वामी :

भारतेंदु युगीन सफल नाटककार, उपन्यासकार, निबन्धकार और पत्रकार थे। इन्होंने संस्कृत में व्याकरण, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग और ज्योतिष की प्रथम परीक्षा तक के ग्रंथ पढ़े और साहित्य में आचार्य परीक्षा पास की । ये अनेक विषयों पर लेख लिखते थे, शुरूआती दौर में किशोरी लाल गोस्वामी अपना लेख दूसरे समाचारपत्रों में प्रकाशित करवाते रहे। लेकिन बाद में सन् 1898 में 'उपन्यास नामक पत्रिका का प्रकाशन करने लगे तब किशोरी लाल गोस्वामी का झुकाव उपन्यास लिखने की ओर गया। किशोरी लाल गोस्वामी ने अपने पूरे जीवन काल में अन्य विधाओं में तो लिखा साथ ही लगभग 65 उपन्यासों की भी रचना की। इन्होंने भारतेंदु हरिश्चन्द्र और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के प्रेरणा से सर्वप्रथम 'प्रणयिनी परिणय' नामक उपन्यास की रचना की थी। इन्होंने 'सुखशर्वरी' नामक उपन्यास का बंगाल से अनुवाद किया। हिन्दी में ऐतिहसिक रोमनी उपन्यासों की रचना का आरंभ किशोरीलाल गोस्वामी से माना जाता है। जैसा लोकतत्व किशोरी लाल गोस्वामी के नाटकों में मिलता है वैसा कहीं और देखने में लगभग नहीं है। इनके नाटकों में पूर्ववर्ती

सभी युगों का चित्र उभर कर सामने आ जाता है। इनके नाटकों में रीति–तत्व की प्रधानता देखी जा सकती है। इसके साथ ही ये एक सफल जीवनी लेखक भी हैं, इनके द्वारा लिखित राजाशिवप्रसाद सितारेहिन्द में इनके कला कौशल को देखा जा सकता है।

बाबू राधाकृष्ण दास :

बाबू राधाकृष्ण का जन्म अगस्त सन् 1865 में वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। ये भारतेंदु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। जब बाबू राधाकृष्ण की अवस्था केवल 10 महीने ही की थी, तभी इनके पिता का देहावसान हो गया। इनकी शिक्षा दीक्षा का सारा प्रबंध भारतेन्दु के परिवार ने ही किया था हिन्दी और उर्दू की शिक्षा घर पर ही प्राप्त करने के बाद इनको विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया लेकिन अस्वस्थ होने के कारण नियमित अध्ययन नहीं हो सका। फिर भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सुप्रबंध से घर पर ही 17 वर्ष की अवस्था में अच्छी हिन्दी और अंग्रेजी की योग्यता प्राप्त कर ली थी। इसके साथ फारसी, बंगला और गुजराती भाषा का अध्ययन कर लिया था।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के संपर्क में आने के बाद इनका झुकाव हिन्दी की ओर होने लगा। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि ये हिन्दी लेखन की ओर अग्रसर हो गए। इनकी पहली रचना 'दुःखिनी बाला' (1880) है। इसके अलावा बाबू राधाकृष्ण दास ने 25 पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएँ निम्न हैं– 'निःसहाय हिन्दू (1881)', 'महारानी पद्मावती (1882–83)' 'आर्य चरितामृत (1882)', 'धर्मालाप (1884–85)' 'स्वर्ग की सैर' 'नागरीदास का जीवन चरित्र (1897)' 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास (1894)' 'राजस्थान केशरी वा महाराणा प्रताप (1897)' 'भारतेन्दु जीवन चरित्र (1900)'

ये गद्य लेख लिखने के सिवाय काव्य में भी अच्छी पैठ रखते थे। इन्होंने कविता में कोई अलग ग्रन्थ की रचना नहीं की, परन्तु स्वरचित गद्य पुस्तकों में यथा समय जो कहीं–कहीं पर पद्य दिए हैं उन्हीं से इनकी काव्य कुशलता का परिचय मिलता है। नागरी प्रचारिणी सभा (आर्य भाषा पुस्तकालय) से इतना स्नेह रखते थे कि इसको मरते समय तक भूल नहीं पाए। अपनी लिखी गई सारी पुस्तकें सभा को दान दे दी। इनकी मृत्यु 2 अप्रैल

सन् 1907 ई0 में हुई।

गदाधर सिंह :

भारतेंदु युग के प्रमुख रचनाकार हैं। बाल्यवस्था में ही माता–पिता की मृत्यु हो जाने पर भी बीस वर्ष की आयु में एंट्रेस की परीक्षा उत्तीर्ण की। इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आर्थिक सहायता लेकर व्यापार आरंभ किया पर हानि होने पर हरिश्चन्द्र स्कूल में नौकरी कर ली। सन् 1871 ई0 में बंदोवस्त विभाग में नौकरी मिल गई। इसके बाद कानूनगो नियुक्त हुए और फिर दस वर्ष तक मिर्जापुर में पेशकार रहे। इटावा में छः वर्ष कार्य करके सन् 1896 में बनारस वापस चले अए। यहीं 29 जुलाई 1898 ई0 को इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने अपनी पुस्तकें 'आर्यभाषा पुस्तकालय (वाराणसी)' तथा अपनी सारी संपत्ति 'नागरी प्रचारिणी सभा' को दे दी।

बाबू गदाधर ने सर्वप्रथम बाणभट्ट द्वारा रचित 'कादंबरी' का अनुवाद किया, जो 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में क्रमशः छपता रहा और बाद में सन् 1879 ई0 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इन्होंने इसे सरल हिन्दी में लिखा इसमें कथानक मात्र लिया। इसके बाद सन् 1882 ई0 में इन्होंने बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके उपरान्त रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यास 'बंगविजेता' का अनुवाद सन 1886 ई0 में प्रकाशित हुआ। इनके सभी अनुवादों की भाषा अत्यन्त सरल बोलचाल की भाषा है। शैली सरल एवं सुबोध है।

ब्रजनन्दन सहाय :

इन्होंने हिन्दी साहित्य में अनेक रचनाएँ की। हिन्दी के अतिरिक्त इनको बंगला, संस्कृत साहित्य का भी अच्छा ज्ञान था। प्रारंभिक शिक्षा–दीक्षा के पश्चात् इन्होंने वकालत प्रारंभ कर दी। उपन्यास के अतिरिक्त इन्होंने नाटक तथा काव्य आदि की रचनाएँ की।

पटना से प्रकाशित 'समस्या पूर्ति' नामक पत्रिका का भी संपादन कार्य इन्होंने कुछ समय तक किया। इनकी कविताओं के दो संग्रह कृतियाँ 'सत्यनाम मंगल' तथा 'उद्धव' भी उपलब्ध हैं। अनूदित कृतियों में प्रायः सभी बंगला भाषा की प्रसिद्ध औपन्यासिक कृतियाँ हैं। इनकी मौलिक औपन्यासिक कृतियों में 'राजेन्द्र मालती', 'अद्भुत प्रायश्चित', 'सौन्दर्यो पासक', 'राधा कौन', 'लाल चीन', 'विस्मृत सम्राट', 'विश्वदर्शन' और 'आरण्य बाला' आदि महत्वपूर्ण हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा :

मेहता लज्जाराम शर्मा का जन्म 1873 ई0 में हुआ था। ये बूंदी राज्य के निवासी थे। ''इनके पूर्वज पहले गुजरात के बड़नगर नामक स्थान में रहकर व्यापार करते थे। संवत् 1815 (सन्1758) के लगभग इनके प्रपितामह बूँदी, कोटा आदि राज्यों से होते हुए सवाई माधवपुर पहुँचे। उनके पुत्र गणेशराम जी (मेहता लज्जाराम शर्मा के पिता) कई स्थानों से होते हुए बूंदी चले गए थे।''[47] संवत 1915 (1854 ई0) में मेहता लज्जाराम के पिता गोपालराम जी बूंदी राज्य में नौकरी करने लगे। 27 वर्ष तक उन्होंने अपना जीवन बिता दिया। संवत् 1938 (1881 ई0) में इनका देहावसान हो गया। इनके दस पुत्र और सात लड़कियाँ थी, पर दुर्भाग्यवश उसमें से मेहता लज्जाराम के अतिरिक्त कोई जीवित नहीं बचा।

मेहता लज्जाराम की शिक्षा बूंदी में कोई स्कूल न होने के कारण जैसी होनी चाहिए नहीं हो सकी। इन्होंने अपनी रुचिवश अंग्रेजी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसके अतिरिक्त संस्कृत, गुजराती, मराठी और उर्दू आदि भाषाओं की इनको अच्छी जानकारी थी। इनके पिता की मृत्यु के समय इनकी आयु 18 वर्ष थी इसलिए इनको पिता का पद मिल गया। इनकी रुचि विद्याभ्यास में अधिक थी इस कारण से तीन वर्ष उसी पद पर नौकरी करने के पश्चात् अपनी बदली शिक्षा–विभाग में करवा ली। उसमें 18 वर्ष तक नौकरी की। इसी बीच में कुछ दिनों तक श्रीरंगनाथ मुद्रालय के मैनेजर रहे। इसी प्रकार अपना जीवन बिता रहे थे। इसी बीच अंग्रेज अधिकारी से वाद–विवाद हो गया और सेठ खेमराज के

बुलाने पर 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का संपादन करने के लिए बंबई चले गए। सन् 1887 से 1904 तक इन्होंने वेंकटेश्वर पत्र का संपादन किया।

मेहता लज्जाराम अपने संपादन काल के दौरान सनातन धर्म, सामाजिक सुधार, कृषि शिल्प और वाणिज्य आदि विषयों पर लेख निकालते रहे। इन्होंने अपने जीवनकाल में अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार का लेखन किया । इनके मौलिक उपन्यासों में 'धूर्त रसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दंपत्ति', 'बिगड़े का सुधार', 'स्वतंत्ररमा और परतंत्र लक्ष्मी', 'सुशीला विधवा', 'बिगड़े का सुधार', 'सती सुख देवी' और 'आदर्श हिन्दू' आदि विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त इनकी 'अमीर अब्दुल रहमान', 'विक्टोरिया चरित्र', 'वीरबल विनोद', 'भारत की कारीगरी' आदि संपादित पुस्तकें हैं और 'कपटी मित्र', 'विचित्र स्त्री', 'चरित्र राज शिक्षा', 'बालो पदेश' और 'नवीन भारत' आदि रचनाएँ अनूदित हैं। इसमें से अधिकांश पुस्तकें इनके श्री वेंकटेश्वर पत्र के संपादन काल में ही लिखी गई। बंबई में स्वास्थ्य खराब होने के कारण बूँदी वापस लौट आए और अपने राज्य में एक अच्छे पद पर नियुक्त हो गए। इनके कार्य और व्यवहार से राजा प्रजा दोनों प्रसन्न थे। इसलिए राजा ने इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर इन्हें राजपूताने (राजस्थान) के एजेंट गर्वनर जनरल की सेवा में राज्य की ओर से वकील बनाकर भेज दिया। लज्जाराम वैष्णव धर्म के कट्टर समर्थक रहते हुए भी कभी सांप्रदायिक झगड़ों तथा अन्य विवादों में नहीं पड़े। सबसे प्रेम पूर्वक व्यवहार करते रहें। सन् 1931 में मेहता लज्जाराम शर्मा का देहावसान हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के विशिष्ट उपन्यासकारों में मेहता लज्जाराम शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इनके उपन्यासों में तत्कालीन मध्य वर्गीय जीवन का स्पष्ट चित्र अंकित है। अपनी रचनाओं में दाम्पत्य प्रेम, पारिवारिक जीवन और नैतिकता की बहुत सी समस्याएँ इन्होंने उठाईं। सामाजिक कुरीतियों पर भी उनकी दृष्टि थी। उनके उपन्यासों में मनोरंजन कम था शिक्षा ज्यादा थी। उन्नीसवीं सदी के सोउद्देश्य उपन्यासकारों में ये प्रमुख थे।

लाला श्रीनिवास दास

लाल श्रीनिवासदास जाति के वैश्य थे। इनके पिता मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद जी के प्रधान मुनीब थे। सभी भाषाओं का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इन्होंने घर पर ही हिन्दी उर्दू, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। लाला श्रीनिवासदास ने अठारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली की कोठी का सारा कामकाज अपने हाथों में ले लिया। इनकी योग्यता को देखकर पंजाब प्रांत की सरकार ने इन्हें म्युनिसिपल कमिश्नर बनाया और आनरेरी मजिस्ट्रेट की पदवी प्रदान की। लाला श्रीनिवास को दिल्ली की कोठी का कारोबार करने के अतिरिक्त इधर–उधर दौरा करके अन्य कोठियों की भी देखभाल करनी पड़ती थी, इससे इनको ज्ञान प्राप्ति का अच्छा अवसर मिलता था। इनको मातृभाषा हिन्दी के प्रति स्वाभाविक प्रेम था। लाला श्रीनिवास दास जब कहीं बाहर जाते थे तो अगर कोई हिन्दी का प्रेमी होता तो उससे अवश्य मिलते थे। यदि इनके यहाँ हिन्दी का कोई गुणग्राही जाता था, तो अपना सब काम छोड़कर अवश्य मिलते थे और उसका सत्कार करते थे। एक बार जब पंडित प्रताप नारायण मिश्र इनसे मिलने गए तो ''इन्होंने बड़े नम्रतापूर्वक उन्हें एक मोहर नज़र करनी चाही। इस पर पंडित प्रताप नारायण मिश्र बेहतर बिगड़े और बोले आप हमारे पास अपनी धन की गुरूरी बतलाने आए हो। इनके उत्तर में इन्होंने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उत्तर दिया कि ''नहीं महाराज मैं तो मातृभाषा के मंदिर में अक्षत चढ़ाता हूँ।''[48]

लाल श्रीनिवासदास को हिन्दी से बहुत प्रेम था, इन्होंने हिन्दी में अनेक गद्य रचनाएँ की जिनमें प्रमुख रुप से– 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता स्वयंवर', 'रणधीर प्रेममोहनी' और 'परीक्षा गुरू' आदि प्रमुख हैं। 'परीक्षा गुरू' को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना है। लाला श्रीनिवास दास की मृत्यु सन् 1887 ई0 में मात्र 36 वर्ष की अवस्था में हुई।

संदर्भ ग्रंथ–सूची

1. भारत में अंग्रेजी राज भाग–1, सुन्दरलाल, पृ0 688
2. वही, पृ0 584
3. भारतीय आन्दोलन का इतिहास, ताराचंद, पृ0 258
4. कांस्टीट्रशन हिस्ट्री आफ इंडिया 1600–1935, ए0बी0 कीथ, पृ0 104
5. भारत का संवैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, अनु0 सुरेश शर्मा, पृ0 16 1967
6. भारतीय आन्दोलन का इतिहास, तराचंद, पृ0 239
7. वही, पृ0 241
8. वेलेजली कालीन भारत, कु0 चंद्रावती गुप्ता, 1971, पृ0 174,
9. प्रारंभिक हिन्दी गद्य का स्वरूप, डॉ0 शारदा वेदालंकार, पृ0 81
10. मर्किस्स वेलजली लंदन 1961, डब्लू एच0 हट्टन, पृ0 120
11. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 339
12. नवबंर 20, 10 जुलाई 1800, एच0पी0ओ0सी0
13. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 295
14. हिन्दी भाषा और नागरी लिपि, हिन्दुस्तानी पत्रिका समग्र, सं0– लक्ष्मीकांत वर्मा, हिन्दुस्तान ऐकेडमी इलाहाबाद 1971 पृ0 186
15. लैटर टू पब्लिक कोर्ट, 21 दिसम्बर 1798 पृ0 385
16. वही, पृ0 385
17. फोर्ट विलियम कालेजः एक इतिहास, नीरज गोयल, पृ0 31–32
18. फोर्ट विलियम कॉलेज का इतिहास मा0 मार्टिन 'वेलजली का डिस्पेचेज खण्ड 2, 10 जुलाई 1800
19. फोर्ट विलियम कालेजः एक इतिहास, नीरज गोयल, पृ0 39–40

20. फोर्ट विलियम कॉलेजः एक इतिहास, नीरज गोयल, पृ0 42

21. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 296

22. वही, पृ0 309

23. प्रारंभिक हिन्दी गद्य का स्वरूप, डॉ0 शारदा वेदालंकार, पृ0 82

24. वही, पृ0 82

25. हिन्दी भाषा और नागरी लिपि, हिन्दुस्तानी पत्रिका समग्र, हिन्दुस्तान ऐकेडमी इलाहाबाद 1971 पृ0 182

26. फोर्ट विलियम कालेज, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 44–45

27. वही, पृ0 45

28. वही, पृ0 45–46

29. फोर्ट विलियम कॉलेज, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 51–52

30. वही, पृ0 51

31. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 380

32. फोर्ट विलियम कॉलेज, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 50

33. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय,पृ0 380

34. वही, पृ0 383

35. हिन्दी भाषा और नागरी लिपि, हिन्दुस्तानी पत्रिका समग्र, हिन्दुस्तान ऐकेडमी इलाहाबाद 1971 पृ0 187

36. गिलक्राइस्ट, हिन्दी स्टोरी टेलर, पृ0 99

37. वही, पृ0 189

38. प्रेमसागर, भूमिका, लल्लूलाल

39. दी हिन्दी रोमन अर्थ एप्टग्राफिक यूनिमाटीम पृ0 19

40. प्रेमसागर, लल्लूलाल, भूमिका,

41. खड़ी बोली का स्वरूप, ओंमकारनाथ शर्मा, पृ0 94

42. वही

43. वही, पृ0 98

44. राजनीति, लल्लूलाल, पृ0 11

45. खड़ी बोली का स्वरूप, डॉ0 शारदा वेदालंकार, पृ0 103

46. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपति चंद्र गुप्त, पृ0 828

47. हिंदी–कोविद–रत्नमाला भाग–2, श्यामसुन्दर दास, पृ0 38

48. वही, भाग–1, पृ0 45

नवजागरण और हिन्दी गद्य

नवजागरण नवीन चेतना या जागृति से संबंध रखता है, इसके अन्तर्गत कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, समाज, राजनीति संबंधी महत्वपूर्ण पहलुओं पर पुनर्विचार किया गया है। इसमें प्राचीन को पुनः नए रूप में, नए ढंग से, नए परिवेश के अनुसार स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह नवजागरण कहीं संस्कृतिगत, कहीं राजनीतिगत और कहीं प्रवृत्तिगत रूप में दिखाई देता है।

नवजागरण का अर्थ है नवीन उत्थान। यह उत्थान, कलागत, धर्मगत या अन्य किसी प्रकार का हो सकता है। इसके अंतर्गत क्लासिकल विचारों तथा अन्य मौजूद तत्वों पर विचार किया जाता है। नवजागरण (रेनेसाँ) इंग्लैंड में क्लासिक साहित्य को लेकर प्रारंभ हुआ था, इसमें विचारकों ने उपलब्ध प्राचीन कला, साहित्य सबंधी समाग्री या विचार पर पुनर्विचार किया जो वर्तमान समय में नए अर्थ एवं विचार के द्योतक थे। नवजागरण या रेनेसाँ का प्रारम्भ प्रत्येक क्षेत्र (देश) में अलग–अलग समय और अलग–अलग परिस्थितियों में हुआ। फ्रांस में रेनेसाँ की स्थिति कुछ और थी, इटली में कुछ और, तो मिस्र में कुछ और थी। रेनेसाँ (नवजागरण) प्रारम्भ होने की परिस्थितियाँ भले ही अलग–अलग रहीं हों परंतु, वैचारिक स्तर पर कमोबेश (कम या अधिक) सबके मूल में एक ही धारणा विद्यमान थी। ''नवजागरण का मूल प्रस्थान बिंदु है–मानव, मानव मंगल और मानव की स्वतंत्र सत्ता का विकास। इसकी मूल चेतना है–सुसुप्त जनमानस में नव–स्फूर्तचेतना, विवेक युक्तमुक्त चिंतन, और राष्ट्र–भाषा विज्ञान संवेदना का स्फुरण–जागरण। यह इतिहास है–आत्मबोध, आत्मपरीक्षण और आत्मचेतना प्राप्ति का जिसने मानव जाति को प्रबुद्ध, स्वाधीन आधुनिक और कर्तव्यशील बनाया।''[1]

रेनेसाँ (पुनर्जागरण) के उदय का मुख्य केंद्र यूरोप माना जाता है। यहाँ पर पुनर्जागरण का उदय 13वीं शती से 17वीं शती के मध्य माना जाता है। इस अवधि में रेनेसाँ का प्रारंभ कई यूरोपीय देशों में हुआ, परन्तु चौदहवीं शताब्दी में कला और साहित्य

के क्षेत्र में हुए पुनर्जागरण को महत्वपूर्ण माना जाता है। ऐतिहासिक परंपरागत मान्यता है कि यह आन्दोलन 14वीं सदी में इटली से 'कला और साहित्य की पुनर्स्थापना' के रूप में फ्रांसिस्को, पैट्ार्क तथा जियोमानी वोकेशियो आदि के द्वारा प्रारंभ हुआ और पन्द्रहवीं शताब्दी में पूर्णतः फल–फूल कर, संपूर्ण यूरोप में फैल गया, भले ही पुर्नजागरण का इटली में प्रारंभ माना जाता है, परन्तु इसके पूर्व अन्य कई देशों में इसकी पृष्ठभूमि देखने को भी मिलती है। इटली में नवजागरण होने के पीछे सबसे बड़ा कारण उसका अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुतीकरण (उभरना) उसकी अपनी विशिष्ठता है।

नवजागरण, जब भी किसी देश में हुआ वहां की कला, साहित्य, धर्म, राजनीति, विज्ञान, संस्कृति को उसने प्रभावित किया। नवजागरण के पीछे एक नये बौद्धिक वर्ग का उदय होना था, जिसने प्राचीन काल की समस्त कलाओं को नये रूप में किस प्रकार लागू या स्थापित किया जाए इस बात पर विचार किया। इसके साथ ही उन पहलुओं के विश्लेषण पर विशेष बल दिया, जिसके माध्यम से समाज (राष्ट्र) निर्माण में एक नई और सही दिशा मिल सके, जो नये परिवेश में अपने अस्तित्व को उसके अनुसार ढाल सके। अगर हम मध्य काल में देखें तो ईश्वर भक्ति पर ज्यादा बल दिया जाता था। जिसके केंद्र में मोक्ष प्राप्ति और अलौकिक के प्रति आस्था की प्रवृत्ति दिखाई देती है साथ में उसको प्राप्त करने के लिए कर्मकाण्ड का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। नवजागरण के बाद इन सबसे मनुष्य का मोह भंग होने लगा। वह अलौकिक की जगह लौकिक, आस्था की जगह तर्क, मोक्ष की जगह भौतिकवादी सुख की कामना करने लगा। यह बात नहीं है कि संपूर्ण नवजागरण कालीन विचारकों ने ईश्वर को पूरी तरह से नकार दिया था। भारतीय नवजागरण के प्रमुख विचारकों में स्वामी विवेकानन्द के विचार को इस संदर्भ में देख सकते हैं। इन्होंने नएपन एवं उसके गुणों को बतलाया ही नहीं अपितु, उसको (प्राचीन) स्वीकार करने के प्रमुख सूत्र भी दिए। पश्चिमी संस्कृति को प्रथमतः भारत में अस्वीकार किया गया, पर बाद में इसको सामाजिक विकास के संदर्भ में स्वीकार कर लिया गया। नवजागरण कालीन प्रमुख विचारक प्राचीन समय से चली आ रही रूढ़ियों का समर्थन करने की अपेक्षा उन रूढ़ियों की जगह ऐसे समाज और परंपरा के निर्माण पर बल देते थे, जिसमें समस्त

मनुष्यों के कल्याण की भावना छिपी हो। इस नई चेतना के कारण मनुष्य एवं उसके आपसी संबंधों का उल्लेख किया गया। जिसके परिणाम स्वरूप मानवतावाद और समाजवाद का जन्म हुआ। ''नवजागरण जनमानस की एक विशिष्ट जागरूक स्थिति को उजागर करता है। इस संक्रमण कालीन संस्कृति में नवीन परिवेश के अनुकूल जीवन और जगत् को एक सवर्था नए कोण से नव–चिंतन–बिंदु और नव आचार–संहिता से पुनरावलोकन तथा आत्मावलोकन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। नवजागरण की सांस्कृतिक–वैचारिक चेतना राष्ट्र और व्यक्ति दोनों पक्षों से सुसम्बद्ध होती है। नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना परंपरा और आधुनिक चिन्तन से निर्मित ऐसी तरंगें हैं जो देश, जाति–भाषा, सभ्यता और जीवन पद्धति आदि को अपने प्रवाह में ठहराकर ले जाती है, और जनसामान्य को नव–जागृति के चमत्कारी जल से आप्लावित कर जीवन का रूख बदल देती है। विवेक, विचार और अनुभूति, पुरातन और आधुनिक चिन्तनधारा सांस्कृतिक एवं वैचारिक उत्कर्ष और द्वन्द्व से मूर्त होती है।''[2]

मध्यकाल में राजा और राजनीतिक संबंधों को दैवीय सत्ता से जोड़कर देखा जाता था। राजा को तत्कालीन समय में हमेशा लोगों द्वारा दैवीय प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया, परन्तु नवजागरण के पश्चात् इस मान्यता को विचारकों ने अस्वीकार कर दिया। शासनकर्ता को समाज से उत्पन्न समान्य मनुष्य के रूप में ही स्वीकारा गया। नवजागरण के पश्चात् ही व्यक्तिवाद का उदय हुआ। इससे पहले मनुष्य अपनी अस्मिता को लेकर सबसे ज्यादा चिन्तित था उसकी अस्मिता अभी तक घर, परिवार तक ही सीमित थी। नवजागरण के कारण ही ऐसा सम्भव हुआ, जिसके कारण इसका स्वागत अधिक सम्मान जनक रूप में हुआ। इस युग में मानव के साथ भेदभाव रहित प्रवृत्ति और निजत्व की स्वतंत्रता का विकास हुआ। नवजागरण ने लगभग समस्त मध्ययुगीन चिंतन को वैज्ञानिक स्तर पर असिद्ध घोषित कर दिया और धर्म शास्त्रीय परिकल्पनाओं पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया। इसके फलस्वरूप सार्वभौम मानव और मानवतावादी विश्व दृष्टि का विकास हुआ और स्वतंत्र निरपेक्ष भावपूर्ण सत्ता स्थापित हुई जिसने मानव जीवन को एक नई शक्ति और सोच प्रदान की।

भारत में नवजागरण का उदय 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में हुआ। इटली के 14वीं शती के समान भारत में भी संक्रमण कालीन स्थिति थी। इसी समय परंपरा से चली आ रही सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा पर विचार करने की एक नई चेतना का विकास हुआ जैसा कि यूरोपीय देशों में हुआ भारत में नवजागरण आंग्ल औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत ही प्रारंभ हुआ भारत में सबसे पहले नवजागरण बंगाल में हुआ, क्योंकि बंगाल के बौद्धिक समाज को पाश्चात्य विचार धारा से परिचित होने का सबसे पहले अवसर मिला। जिसके फलस्वरूप नवचेतना जागृत हुई और नवजागरण की स्थिति पैदा हुई।

नवजागरण नाम भारत में यूरोपीय देशों के रेनेसाँ से उधार लिया गया है। इसको अनुवाद करके सीधे–सीधे बिना घटाए बढ़ाए प्रत्यक्ष स्वीकार कर लिया गया। ''संस्कृत भाषा का नव उपसर्ग 'जागृ' धातु व्युत से प्रत्ययन के योग से व्युत्पन्न है। जिसका मूल अर्थ है जागते रहने की अवस्था या भाव है। लाक्षणिक अर्थ में 'जागरण' वह अवस्था है, जिसमें किसी जाति देश और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है, और वह उन्नति और रक्षा के लिए सचेष्ट हो जाता है।''[3]

नवजागरण की चिन्तन पद्धति मुख्य रूप से भारत की दी हुई पद्धति नहीं है पर इसको हिन्दी में पुनर्जागरण, नवजीवन, नवयुग, नवजागृति, पुनरजीवन, नवोत्थान आदि नामों से अभिहित किया गया है। इन नामों को लेकर कुछ विद्वानों में मतभेद अवश्य है। आधुनिक समय में रेनेसाँ को भिन्न–भिन्न देशों में भिन्न–भिन्न भाषाओं में अनुवाद कर लिया गया है, पर सबका केन्द्रीय अर्थ एक ही है। रेनेसाँ नाम फ्रांसीसी शब्द 'रेनायते' से लिया गया है जिसकी उत्पत्ति लैटिन के 'रेनेसोर' से हुई है। इसमें धर्म, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, संस्कृति आदि को समाहित कर लिया गया। अगर हम यूरोपियन इतिहास देखें तो नवजागरण का प्रारंभिक क्षेत्र इसी में देखने को मिलता है। इस संदर्भ में भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में राजा राममोहन राय को देखा जा सकता है, जिन्होंने अपने प्रयत्नों से जनमानस में व्याप्त सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, और राजनैतिक रूढ़ियों से परिचय कराया तथा इसके सुधार के लिए आवश्यक कार्य किए। इस कार्य को करने के

लिए उनको अपने समाज की तीखी आलोचना का सामना करना पड़ा। राजा राममोहन राय समाज के इतने विरोध के बावजूद अपने कार्य में संलग्न रहे। इनको कई भारतीय एवं विदेशी भाषाओं का ज्ञान था, जिसके कारण इनको कई धर्मों के धर्मशास्त्रों और उसमें निहित विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। राजा राममोहन राय पर पाश्चात्य संस्कृति और चिन्तन का गहरा प्रभाव पड़ा। जिसके परिणाम स्वरूप उनमें सामाजिक मूल्यांकन की नई सोच विकसित हुई। उन्होंने बंगाल में हिन्दू धर्म में व्याप्त ऐसी रूढ़ियों का विरोध किया जो मनुष्य के विकास मार्ग में बाधक थी। समाज में व्याप्त रूढ़ियों (अन्धवश्विासों) का फायदा अधिकांशतः पुरोहित ही उठाते थे। उच्च वर्ग में अधिकतर ने अपने स्वार्थ के चक्कर में सामाजिक हितों का कोई ख्याल नहीं रखा। इसके साथ ही इन्होंने ईसाई और इस्लाम धर्म की दार्शनिक प्रशंसा करने के कारणों की भी निंदा की। ''1823 में राजा राममोहन द्वारा समर्थित शिक्षा के स्वरूप को स्वीकार कर तरूण बंगाल में हर्ष की लहर फैल गयी। उनकी धारणा थी कि उत्तम पाश्चात्य संस्कृति में ही निहित है।''[4] इसके साथ ही ''राजा राममोहन राय ने 1825 में वेदांत कालेज की स्थापना की जिसमें प्राच्य विद्या के साथ–साथ पाश्चात्य कला एवं विज्ञान के अध्ययन का भी प्रयास किया।''[5]

राजा राममोहन राय ने मूर्ति पूजा का खण्डन किया, साथ में जाति–पाति का कड़ा विरोध करते हुए कहा कि 'हमारे बीच एकता के अभाव का स्रोत रहा है। जाति प्रथा के प्रचलन को देश भक्ति जैसे गुणों के अभाव का कारण मानते हैं। उनका यह मत तर्क संगत भी है कि जब तक मनुष्य एक ही साथ न पर रहेगा तो तबतक उसकी आपसी दूरी कम न होगी और उसकों देश के बारे में सोचने का अवसर नहीं मिलेगा। क्योंकि छोटा समझे जाने वाला वर्ग अपने आपको हमेशा अपने बड़े वर्ग का गुलाम या उसके सामने हीन समझेगा। पहले हीनता से निकलना ही उसका प्रमुख लक्ष्य होगा बाद में देशभक्ति। राजा राममोहन राय ने 1827 में 'ब्रजसूची' नामक पत्र निकाला जिसमें जाति–पाति की तीब्र आलोचना की गई। इन्होंने स्त्री संबंधी कुछ समस्याओं को लेकर अत्यन्त नये ढंग से प्रश्न उठाया। समाज की क्या प्रतिक्रिया होगी, इसकी परवाह उनको नहीं थी। ''राम मोहन राय जिस बात को उचित समझते थे उसका निर्भय होकर समर्थन करते थे। 1822 में लिखित

'नारी जाति के प्राचीन अधिकार (एनशंट राइट ऑफ द फीमेल)' शीर्षक लघु शोध पत्रिका में उन्होंने विधवा माताओं तथा अविवाहिता अथवा विधवा पुत्रियों का पुरूष समुदाय पर कानूनी आश्रय अन्यायपूर्ण बताया और नारी जाति के लिए पारिवारिक संपत्ति में अधिकार की माँग की। उन्होंने बहुविवाह प्रथा का विरोध किया।''[6]

राजा राममोहन राय 'सती–प्रथा' उन्मूलन संबंधी कार्य और 'ब्रह्म समाज' की स्थापना के लिए भारतीय इतिहास में हमेशा चर्चा के विषय बने रहे हैं। सती–प्रथा के उन्मूलन के लिए ब्रिटिश सरकार से सिफारिश की, लेकिन कुछ रूढ़िवादियों ने संसद को यह याचिका देकर विलियम बैंटिंक को इसे नहीं पास करने को कहा, तब राजा राम मोहन राय ने अन्य प्रबुद्ध लोगों के साथ मिलकर इसके समर्थन में याचिका दायर की। सन् 1829 में सती प्रथा उन्मूलन कानून पारित कर दिया गया और इसको अवैध घोषित कर दिया। सतीप्रथा को मृत्युंजय ने शास्त्रों के आधार पर सन् 1817 में असंगत करार दे दिया था। राजाराममोहन राय जीवनपर्यंत मानव–उद्धार के प्रयत्न में लगे रहे। उनके विचारों में पहली बार राष्ट्र की झलक देखने को मिलती है। इनका कार्य ज्यादातर बंगाल के क्षेत्र में रहकर सपन्न हुआ परन्तु , उनकी विचारधारा केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं रही बल्कि संपूर्ण भारत में फैल गई। आगे चलकर प्रमुख विचारक, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक आदि ने इनकी विचारधारा को नई भूमि प्रदान की।

द्वारिकानाथ टैगोर के पुत्र देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज से संबंध रखने वाले उन प्रमुख व्यक्तियों में थे, जिन्होंने राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात ब्रह्म समाज को जीवित बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने सन् 1839 में 'तत्वबोधिनी सभा' की स्थापना की और अपने विचारों को समाज के सामने व्यक्त करने के लिए 'तत्वबोधिनी' नामक पत्रिका निकाली। उस समय के प्रमुख समाज सुधारक (चिंतक) ईश्वरचंद्र विधासागर और अक्षयकुमार दत्त जैसे लोगों ने इनके कार्यों में सहयोगी भूमिका निभाई। अक्षय कुमार दत्त ने 'तत्वबोधिनी' पत्रिका का सम्पादन संभाला। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 1843 में ब्रह्मसमाज का पुनर्गठन किया तथा समाज में सक्रियता के साथ विधवा–विवाह, नारी शिक्षा, रैयत, बहूविवाह आदि कई मुद्दों को उठाया। देवेन्द्रनाथ टैगोर, द्वारका नाथ से प्रभावित थे।

इनके अन्दर राजा राममोहन राय जैसी सक्रियता और आत्मबल का आभाव सा दिखता है। इनके कार्य करने की पद्धति जैसी भी रही पर इनके केन्द्र में समाज सुधार ही था।

बंगाल के डिराजियो एक महान कवि, दार्शनिक और चिंतक थे। इन्होंने पुरानी परंपराओं, शास्त्रों पर मुक्त रूप से तर्क संगत चर्चा करने पर बल दिया। इन्होंने छात्रों को विवेकपूर्ण और मुक्त ढंग से चिन्तन करने के लिए प्रेरित किया। डेराजियो ने चर्चा ही नहीं अपितु रहन–सहन, खान–पान पर भी स्वतंत्रता अपनायी। वे किसी प्रकार के भेदभाव से मुक्त थे। इन्होंने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं का खंडन किया और साथ में स्त्री शिक्षा की हमेशा माँग करते रहे। इनकी इस विचारधारा से प्रायः कुछ लोग अप्रसन्न रहते थे। ''विद्यालय के ऐसे विद्यार्थी डिरोजियो के इर्द–गिर्द जमघट लगाने लगे, जो प्राचीन परंपराओं की खिल्ली उड़ाते, सामाजिक एवं धार्मिक रीतियों की उपेक्षा करते, नारी शिक्षा की मांग रखते तथा मद्यपान एवं गोमांस भक्षण द्वारा अपने स्वतंत्र विचारों को प्रदर्शित करते।''[7] प्रमुख समर्थकों में ब्रह्मसमाज के प्रथम सचिव ताराचंद्र चक्रवर्ती, प्यारीचांद्र मित्र, कृष्णमोहन बनर्जी, रसिक कृष्ण मलिक, अक्षय कुमार दत्त और ईश्वर चंद्र विद्यासागर, आदि प्रमुख थे। इनकी मृत्यु के बाद इनके सहयोगियों ने इसे 'यंग बंगाल'नाम दिया।

बंगाल के प्रमुख चिन्तक एवं समाजसेवी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। ये उच्चकोटि के बौद्धिक क्षमता सम्पन्न व्यक्ति थे। अपनी शिक्षा पूरी करने के पश्चात् 'फोर्ट विलियम कालेज' में प्रधान पंडित के पद पर नियुक्त हुये। 1851 में वहीं प्रधानाचार्य हो गए। ये संस्कृतशास्त्र के विद्वान होते हुए भी पाश्चात्य विचारों से भी प्रभावित थे। इन्होंने संस्कृत तथा पाश्चात्य ग्रंथों को संरक्षण प्रदान किया और उनमें जो अच्छाईयां थी उनको ग्रहण करने का समर्थन किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पूरे समाज को एक समान मानने वालों में थे। इन्होंने उन सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया जिसमें जाति–पाति, ऊँच–नीच, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, बहू विवाह, बहू पत्नी विवाह और बहु पति विवाह आदि प्रमुख है। संस्कृत कालेजों में गैर–ब्राह्मणों को शिक्षा देने का समर्थन किया, जहाँ केवल ब्राह्मणों को ही शिक्षा दी जाती थी।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर की जिस कार्य के लिए सबसे ज्यादा चर्चा की जाती है वह उनके नारी सुधार से संबंधित कार्य हैं। न जाने कितनी सदियों से पद्दलित नारी जाति के उद्दार के लिए उन्होंने संघर्ष किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सन् 1850 में बाल विवाह के साथ–साथ बहुविवाह का भी विरोध किया। ये नारी की उच्च शिक्षा के प्रबल समर्थकों में से एक थे। इसके लिए इन्होंने चार जिलों में 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना की। इनके पूर्व स्त्रियों को शिक्षित करने से संबंधित कार्य ईसाई मिशनरियों द्वारा 1821 में हुआ था, पर उनके केंद्र में ईसाई धर्म का प्रचार करना था, जिसके कारण सफल न हो सका। ऐसी बात नहीं कि स्त्री–शिक्षा के संदर्भ में पूर्वाग्रहों से ग्रसित भारतीयों ने विरोध नहीं किये, पर वे सफल नहीं हो सके।

इन्होंने विधवा–पुनर्विवाह के लिए एक बड़ा संघर्ष किया। अपने इस संघर्ष में इन्होंने राजा राममोहन राय की ही तरह पारंपरिक शिक्षा को आधार बनाया। इनको राजा राममोहन राय का उत्तराधिकारी माना जाता है। इनके प्रभाव से 1855 में बंगाल, मद्रास, बंबई, नागपुर आदि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विधवा–पुनर्विवाह के समर्थन में सरकार को याचिका दी गयी। पहली बार 7 दिसबंर 1856 में कानूनी हिन्दू विवाह ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की देख–रेख में सम्पन्न हुआ। विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करने के कारण रूढ़िवादी हिन्दुओं का कोपभाजन बनना पड़ा और इसका बहुत बड़े स्तर पर विरोध भी हुआ। इसके बावजूद ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने जो सोचा वही किया। इसमें प्रबुद्ध वर्ग ने उनका समर्थन किया, जिसके फलस्वरूप वह अपने कार्यों को सम्पन्न कर सके। इनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। इस बात का अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है कि इन्होंने अपने पुत्र का विधवा से विवाह सम्पन्न कराया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की सोच प्रगतिशील तथा दूरदर्शी थी जिसने देश के भविष्य को अपने कार्यों से एक नई दिशा देने की भरसक कोशिश की।

रामकृष्ण परमहंस बंगाल के एक मंदिर के पुजारी थे, इन्होंने भारतीय जनता में सामाजिक, धार्मिक, और सांस्कृतिक स्तर पर व्याप्त मतभेद को समाप्त करने में सक्रिय योगदान दिया। इन्होंने धार्मिक स्तर पर एकता की बात की। सभी धर्मों के प्रति सम्मान

जताया। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी था। इनके विचारों का प्रचार प्रसार इनके शिष्यों ने किया। उनमें से स्वामी विवेकानन्द का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है जिन्होंने अपने गुरू की शिक्षाओं का भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी प्रचार–प्रसार किया।

स्वामी विवेकानन्द ने सन् 1893 में अमेरिका के शिकागो शहर में रहते हुए 'धर्म महासम्मेलन' में सनातन धर्म का प्रतिनिधत्व किया। स्वामी विवेकानन्द अपने गुरू से गहरे तक प्रभावित थे उन्होंने कहा है कि 'जो कुछ मैं सत्य और कल्याणकारी बोलता हूँ वो सब मेरे गुरू का वचन है और जो कुछ मैं असत्य अकल्याणकारी वचन बोलता हूँ, वह सब सिर्फ मेरा अपना है।' स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण अपने गुरू के ही समान मानवतावादी था। वे भी ऊँच–नीच, भेद–भाव जाति–पॉति आदि का विरोध करते थे। भारत प्रचलित जाति व्यवस्था के बारे में असंतोष प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि 'मुझे मत छूओ हिन्दू धर्म का पर्याय बन गया है। हमारा धर्म रसोईघरों तक सीमित हो गया है, अगर कुछ दिन ऐसा चलता रहा तो हममें हर एक, एक दिन पागलखाने में होगा।''[8] विवेकानन्द ने स्त्रियों को पुरूषों के समान माना और उन्होंने स्त्रियों में ही नहीं अपितु पुरूषों में भी यौन पवित्रता की मांग की–'पत्नी को अपने पति को छोड़कर पुत्र और पति को अपनी पत्नी को छोड़कर माता–बहन, पुत्री के समान देखना चाहिए।' इन्होंने धार्मिक रूढ़ियों का विरोध किया और ईश्वर की जगह मनुष्य को प्रमुखता दी उनका मानना था कि नर की सेवा नारायण तक पहुंचती है। उन्होने धार्मिक विचार धारा से प्रभावित होते हुए पाश्चात्य और भौतिकवाद का समर्थन किया।

स्वामी विवेकानन्द एक महान विचारक चिंतक थे जिन्होंने धार्मिक, आर्थिक, और सामाजिक दृष्टि से विचार किया। उनके विचारों में भारत को एकता में बांधने के सूत्र आज भी मौजूद हैं। उस समय घोर आडम्बर और उनके समर्थकों के बीच उनकी आलोचना का जो कार्य स्वामी विवेकानन्द ने किया वह अत्यन्त सराहनीय है। स्वामी विवेकानन्द मानवीय सेवा कार्य से इतना प्रेरित थे कि इन्होंने 1896 में 'रामकृष्णमिशन' नामक संस्था की स्थापना की, जो आज भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सेवा कार्य में संलग्न है।

बंगाल के नवजागरण का प्रभाव धीरे–धीरे भारत के अन्य क्षेत्रों में भी पड़ा। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जो विचारधारात्मक गतिविधियाँ थीं, उनमें स्त्री शिक्षा, मूर्तिपूजा, विधवा–पुनर्विवाह सती–प्रथा, बाल–विवाह, आर्य धर्म आदि प्रमुख मुद्दे केंद्र में थे।

पाण्डुरंग सेन और रानाडे के सहयोग से 1867 में बम्बई में 'प्रार्थना–समाज' की स्थापना की गयी। इसकी समाज सुधार संबंधी गतिविधियां ब्रह्म–समाज जैसी ही थी। इसमें जस्टिस एम0जी0 रानाडे ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये कांग्रेस के संस्थापकों में से एक थे।` समाज सुधार में अधिक रूचि होने के कारण उसी को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। जब ये न्यायाधीश थे तो तब भी सार्वजनिक सभाओं में सक्रिय भूमिका निभाते रहे। जिसके कारण इनको जनता का समर्थन मिला। रानाडे 1887 में 'इंडियन सोशल कांफ्रेस' (भारतीय सामाजिक संगठन) नामक एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की। जिसमें 14 वर्षों तक महासचिव के पद पर रहे और हमेशा सबकी धर्मनिरपेक्ष भाव से सेवा में लिप्त रहे। इनके समाज सुधार संबंधी प्रमुख मुद्दे–जाति प्रथा का उन्मूलन, अंतर्जातीय विवाह का समर्थन, विवाह की आयु में वृद्धि, बहूपत्नी प्रथा तथा बहु–विवाह प्रथा का विरोध, विधवा–पुनर्विवाह का समर्थन, स्त्री शिक्षा और हिन्दू–मुस्लिम एकता आदि पर विचार किया। इसके अलावा धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, आदि मुद्दों पर भी विचार किया और राष्ट्र की प्रगति में इनको आवश्यक माना। रानाडे के बाद 'प्रार्थना–समाज' की कार्य करने की परंपरा शिथिल सी पड़ गयी। और अपने विस्तृत फलक (लक्ष्य) से सीमित हो गई।

'थियोसोफिकल सोसाईटी' की स्थापना 1882 में मद्रास में अड्यार में मैडम ब्लेवात्सकी ने की थी। महाराष्ट्र के प्रमुख समाज सुधारकों में ज्योतिराव गोबिन्द राव फूले का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनको लोग ज्योतिबा फूले के नाम से जानते हैं। इन्होंने महाराष्ट्र में पीड़ित जातियों के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने उत्पीड़ित वर्गों की समानता के मांग के लिये आंदोलन किये। 1873 में 'सत्यशोधक' समाज की स्थापना की। इन्होंने प्रमुख रूप से उन स्त्रियों की शिक्षा की बात उठाई जो पीड़ित समाज में उत्पीड़ित थी। सदियों से उत्पीड़ित होती चली आई स्त्रियों के सुधार के लिए अनेक कार्य किए जिसमें शिक्षा कार्य महत्वपूर्ण है। '' राजा राममोहन राय ने न सिर्फ हिन्दू

कालेज की स्थापना में योगदान दिया अपितु आत्मीय सभा के माध्यम से नारी शिक्षा के प्रश्न पर बहस की। किंतु भारतीय प्रयासों के माध्यम से स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य 19वीं सदी के मध्य में आरंभ हो सका। सर्वप्रथम 1848 में ज्योतिबा फूले ने पुणे में बालिका विद्यालय की स्थापना की।''[9]

हिन्दू धर्म के सुधार के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में 'आर्य–समाज' की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती ने वेद में वर्णित मान्यताओं की ओर लोगों का ध्यान दिलाया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वेद ईश्वर द्वारा रचित है। इसकी रचना किसी पुरूष विशेष ने नहीं की। इसमें सृष्टि के प्रलय और सृजन के बारे में सब कुछ उल्लेख है। ईश्वर कृत होने के कारण इसमें जो कुछ लिखा गया है, वह सत्य है। दयानन्द सरस्वती चली आ रही पुरानी रूढ़िगत परंपरा के विरोधी थे। इन्होंने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की आलोचना की। उनका मानना था कि मनुष्य द्वारा लिखित होने के कारण ये झूठ एवं काल्पनिक हैं। जो कुछ वेद में है, उसे उन्होंने बिना तर्क–वितर्क किए स्वीकार कर लिया, जहाँ गलत भी था, उस पर दृष्टि नहीं गड़ाई और माना कि वेदों के अनुसार चलने में ही मनुष्य का कल्याण है। दयानन्द सरस्वती ने जाति–पाति जैसी परंपरागत चली आ रही रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया। इसके अलावा बाल विवाह, मूर्तिपूजा और पुरोहितवाद का भी खण्डन किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया। लोगों को शिक्षित करने के लिए अनेक स्कूल कालेजों की स्थापना की। छोटी कक्षाओं में शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाती थी पर बड़ी कक्षाओं में अंग्रेजी अनिवार्य रूप से रख दिया गया। इन्होंने हिन्दी को समबद्ध करने का प्रयास किया। ''1867 में हरिद्वार के कुंभ में 'पाखंड–खण्डिनी' पताका फहराकर उन्होंने हिन्दुओं में फैले धार्मिक–पाखण्ड, कुरीतियों, अंधविश्वासों और भ्रष्टाचार के खिलाफ अपनी लंबी लड़ाई शुरू की। 1869 सनातनी हिन्दू पंडितों के गढ़ बनारस में पहुंचकर मूर्तिपूजा के खिलाफ पंडितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। जो 19 वीं सदी के धार्मिक नवजागरण की सबसे मशहूर घटना बन गई। यह शास्त्रार्थ उन्होंने संस्कृत भाषा में किया था। 1973 में कलकत्ते में पहली बार ब्रह्मसामाजी नेता केशवचन्द्र सेन ने उन्हें यह

सलाह दी कि अगर वे भारत की जनता को जगाना चाहते हैं तो, उन्हें अपनी बात संस्कृत में नहीं, हिन्दी में कहनी चाहिए। दयानन्द सचमुच जनता को जगाना चाहते थे। लिहाजा दृढ़ संकल्प वाले दयानंद सरस्वती ने महज़ एक साल के अन्दर कामचलाऊ हिन्दी सीखकर 'सत्यार्थप्रकाश' जैसा विलक्षण और बड़ा ग्रंथ तैयार कर डाला। 'सत्यार्थप्रकाश' के जरिए दयानंद ने हिन्दी भाषा को वैदिक धर्म से जोड़कर एक नया नाम – 'आर्य–भाषा' दिया और हिन्दी का एक खास रूप विकसित किया।''[10]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सबको अन्धविश्वासों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था पर वे खुद ही अंधविश्वासों से उबर नहीं पाये। उनके अन्दर सबसे बड़ा अंधविश्वास वैदिक धर्म को लेकर था। जिसके अलावा अन्य धर्मों (ईसाई, इस्लाम, सिख आदि) की आलोचना की। दयानन्द सरस्वती ने स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए बाल–विवाह का विरोध किया और बेमेल–विवाह की बुराई की। जब विवाह के लिए स्त्री और पुरूष की उम्र का निर्धारण किया तो स्त्रियों की उम्र 24 और पुरूषों की 48 वर्ष बताई। इसके अलावा उन्होंने विधवा–पुनर्विवाह का समर्थन किया। इसके लिए अनेक सीमाएं निर्धारित की जिसको पंजाब के आर्य समाजियों ने इसका विरोध करके अनेक विवाह संपन्न करवाएँ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों ने तत्कालीन भारतीय जनता को सबसे ज्यादा प्रभावित किया, पर बाद के समय में आर्य समाजियों ने ही उनके कुछ विचारों से असहमति ज़ाहिर की । वेदों के प्रति अंधी आस्था होने के कारण वह ऐसी स्थापना न दे पाए जो कि राष्ट्रवाद का समर्थन कर सके।

सर सैयद अहमद खाँ भारतीय मुस्लिम समाज सुधारकों में प्रमुख थे। ये राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की तरह ही अंग्रेजी शासन व्यवस्था के हिमायती थे। इनका उद्देश्य मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा से परिचित करना और उनको रोजगार दिलाना था। इन्होंने मुसलमान जनता को आधुनिक ज्ञान–विज्ञान से परिचित कराने के लिए 1862 में 'सांइटिफिक सोसायटी' की स्थापना की, और 1975 में 'मोहम्मडम एंग्लो ओरियंटल' कालेज की स्थापना की। जो बाद में 'अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय' बना। सर सैयद अहमद खां

ने जाति प्रथा, पर्दाप्रथा तथा धर्मगत रूढ़ियों का विरोध किया। उनका धर्म के बारे में मानना था कि अगर धर्म समय के साथ परिवर्तनशील न हो तो जड़ हो जाएगा। सर सैयद अहमद खां का सभी धर्मों के प्रति सम्मान जनक दृष्टिकोण था वे कभी अपने निजी संबंधों में धर्मगत निंदा नहीं आने देते थे। वे हिन्दू और मुसलमान को एक ही 'कौम' का मानते थे और इस शब्द का राष्ट्र के अर्थ में प्रयोग करते थे। इन्होंने स्त्रियों के पर्दाप्रथा तोड़ने, स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने और उनकी स्थिति सुधारने का समर्थन किया।

नबाब अब्दुल लतीफ ने सन् 1863 में बंगाल में'मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी' की स्थापना की। इनका उद्देश्य अंग्रेजी भाषा और आधुनिक शिक्षा की जाँच करना और पाश्चात्य शिक्षा मुसलमानों को अपनाने के लिए प्रेरित करना ताकि उनमें आधुनिक चिंतन की सही दृष्टि का विकास हो सके।

बदरूद्दीन तैयबज़ी ने समाज सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अपने आन्दोलन स्त्री मुक्ति के प्रमुख मुद्दों, स्त्री–शिक्षा बहूपत्नी–विवाह और बाल विवाह आदि को केंद्र में रखकर सदियों से चली आ रही रूढ़िगत परम्पराओं का विरोध किया। फिरोजशाह और अन्य कई दूसरे सहयोगियों के साथ मिलकर राष्ट्रीय हितों की उन्नति के लिए बंबई 'प्रेसीडेंसी एसोशियेशन' की स्थापना की। बदरूद्दीन तैयब जी कांग्रेस के संस्थापकों में से एक थे। वह रानाडे द्वारा स्थापित 'इंडियन सोशल कांफ्रेंस' के सक्रिय कार्यकर्ता रहे। बदरूद्दीन तैयबज़ी अपने जीवन काल में कई आंदोलनों से संबद्ध रहे और समाज सुधार (नवजागरण) के क्षेत्र में आजीवन योगदान दिया।

हिन्दी नवजागरण

हिन्दी गद्य के विकास में नवजागरण का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, ''क्योंकि तर्क और स्वतंत्रता के तीव्र अनुभव के लिए गद्य से अधिक उपयुक्त माध्यम नहीं है। जिस समाज में बंधी धारणाएँ जितनी कठोर हों, उस समाज में गद्य की उतनी जरुरत होती है। बदलाव की प्रक्रिया का अंग बन रहा पाठक गद्य में ज्यादा ताप और आत्मोत्कर्ष पाता है। नवजागरण युग के सजीव, पारदर्शी और सादगीपूर्ण गद्य में विवेकवाद की हर नस तनी दिखेगी और वैचारिक मुठभेड़ के अनोखे चिन्ह मिलेंगे।''[11] नवजागरण को आगे बढ़ाने में गद्य साहित्य की अहम भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। हालांकि बांग्ला और मराठी में हिन्दी की अपेक्षा काफी पहले सुधार हो चुका था। लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं में गद्य का विकास बहुत बाद में शुरू हुआ।

भारतीय भाषाओं में गद्य का विकास स्कूल कालेजों के चलन से शुरू हुआ। कलकत्ता में पहला कालेज खुला जिसके पाठ्यक्रम में अंग्रेजी उपन्यास पढ़ाए जाते थे। उर्दू में गद्य की परंपरा हिन्दी से पहले शुरू हुई क्योंकि उर्दू को फारसी दास्तानों की परंपरा मिली थी तथा उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू का हिन्दी से अधिक महत्व था। क्योंकि फारसी सैकड़ों वर्षों से हिंदी प्रदेश की राजभाषा थी। फारसी के हटने के बाद यह जगह व्यवहार में उर्दू को मिली इसलिए हिंदी प्रदेश में मध्यवर्ग की भाषा उर्दू बनी रही। बहरहाल हिन्दी गद्य का संबंध नवजागरण से जुड़ा हुआ है। नवजागरण का प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर साफ तौर से देखा जा सकता है। बंगाल और महाराष्ट्र में नवजागरण हिन्दी प्रदेश से पहले हो चुका था। इसलिए समाज सुधार की समस्या को लेकर 1860 के लगभग बंगाल में 'अलालेर घरेर दुलाल' उपन्यास लिखा जा चुका था। ठीक इसी तरह 1870 में हिन्दी में 'देवरानी जेठानी की कहानी' के पहले पढ़ी और अनपढ़ी बहू के लाभ–हानि को बताने वाला उपन्यास उर्दू में डिप्टी नज़ीर अहमद द्वारा 'मिरातुल उरूस' लिखा जा चुका था। मुसलमानों के बीच समाज सुधार आंदोलन जोर पकड़ चुका था। इन्हीं कारणों से उर्दू में उपन्यास की रचना हिन्दी से पहले हो चुकी थी। साथ में फ़ारसी की दास्तानों की परंपरा भी चल रही थी। प्रेमचन्द इसी

उर्दू परंपरा से हिन्दी की ओर आए। नाटक, उपन्यास, निबन्ध लेखन में नवजागरण की महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में उपन्यास लेखन का प्रारंभ समाज सुधार मुद्दों को लेकर हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण था कि उस समय प्रचलित विचारधारा के प्रचार के लिए काव्य जैसी विधा का पर्याप्त न होना।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तर्गत समूचे भारत में नवजागरण की लहर दौड़ गई। एक प्रकार से नवचेतना की धारणा इतनी प्रबल हुई कि उसने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। ध्यान देने की बात यह है कि जब भी कोई आन्दोलन प्रारंभ होता है तब उसकी जड़ और कहीं नहीं, हमारे सामाजिक आधार में छिपी होती है। जब तक सामाजिक आधार पूरी तरह स्पष्ट न हो, उसे कोई व्यक्ति ठीक–ठीक नहीं समझ सकता, तब तक उभरे हुए आन्दोलन की प्रमुख विशेषता को सम्यक् रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है कि अंग्रेजों के आगमन के पहले भारतीय समाज में पूँजीवादी तत्वों का उदय तो हो गया था, किन्तु वे पूँजीवादी तत्व प्रबल नहीं हो पाए थे। एक प्रकार से उनमें इतनी शक्ति नहीं आ पाई थी कि जिसके आधार पर मध्यकालीन सामन्ती ढाँचे को बदला जा सके। पूँजीवादी व्यवस्था और उससे जुड़े हुए तत्व मानवीय संबंधों और नवीन जीवन–मूल्यों का सामना करने में समर्थ नहीं थे। तत्कालीन आत्मनिर्भर ग्राम–व्यवस्था बाधा बनी हुई थी। उसके माध्यम से सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों और उसके मूल्यों, प्रतिमानों और मानदण्डों की सफलता पूर्वक रक्षा नहीं हो पा रही थी। सम्पूर्ण भारतीय समाज कर्मफल, भाग्यवाद, पुनर्जन्म, बहूदेवाद, मूर्ति पूजा, सती–प्रथा, और बालविवाह इत्यादि कुरीतियों से ग्रसित था। उस समय ऐसा नहीं लग रहा था कि ये कुरीतियाँ आसानी से दूर हो सकती हैं। भारत में जो पूँजीवादी तत्व थे, वे भी अपनी शक्ति को केंद्रित करके इसके विरोध में कोई कारगर कदम नहीं उठा पा रहे थे।

ऐसी रूढ़िग्रस्तता और कुरीतियों से ग्रसित समाज की स्थिति को देखकर अधिक शक्ति संपन्न विदेशी पूँजीवादी शक्तियों ने भारत के रंगमंच पर पदार्पण किया। परिणामतः भारत के उद्योग धंधों को धक्का लगा व कच्चे माल का निर्यात करने और तैयार माल की मण्डी तैयार करने की भूमिका बन गई। इस नई स्थिति के कारण आत्मनिर्भर ग्राम व्यवस्था

आहत हुई। यही वे परिस्थितियां हैं जिससे भारतीय नवजागरण की शुरूआत हुई। यह नवजागरण प्रमुख रूप से धार्मिक और सामाजिक सुधार के रूप में सामने आया।

उन्नीसवीं शताब्दी के चिन्तकों ने समाज की मुख्यधारा में भागीदारी निभाने वाली स्त्रियों की प्रमुख समस्याओं की ओर ध्यान दिया। जब इनकी दशा में सुधार करने की कोशिश की तो उस समय अंग्रेजों ने तो साथ दिया, लेकिन अपने ही लोगों द्वारा इसका विरोध होने लगा। स्त्री संबंधी आंदोलनों के विरोधियों को चली आ रही रूढ़िवादी परंपरा अच्छी लग रही थी। इन्हीं परंपरा पोषकों ने तत्कालीन समय में स्त्रियों के पक्ष में बनाए गए कानून का विरोध किया। उदाहरण स्वरूप–सती–प्रथा निषेध कानून, बाल–विवाह निषेध कानून और विधवापुनर्विवाह कानून इत्यादि को देखा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ, वह स्त्रियों को शिक्षित करने का पक्षधर था शायद उसको यह समझ में आ गया था कि स्त्रियों को शिक्षित किए बिना हमारी उन्नति नहीं हो सकती। इस संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए 'कविवचन सुधा' के 3 नवंबर 1873 में 'स्त्री शिक्षा' नामक लेख में भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने कहा था कि "यह बात तो सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी क्योंकि जब तक यहां की स्त्रियाँ शिक्षित न होगी, क्योंकि यदि पुरूष विद्वान और पंडित होवेंगे और उनकी स्त्रियां मूर्ख होवेंगी तो उनमें आपस में कभी स्नेह नहीं होगा और नित्य कलह होगी"[12] भारतीयों के पश्चिम के संपर्क में आने के बाद स्त्रियों की शिक्षा के संबंध में चली आ रही मानसिकता में परिवर्तन हुआ। इसका प्रमुख कारण "औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जब पुरूष स्कूल कालेजों में अंग्रेजी शिक्षा पाकर निकलने लगे तो उनकी स्त्रियों का अनपढ़ और जाहिल रहना उन्हें खटकने लगा। नये शासन के नियम–कायदों और सभ्यता संस्कृति के असर से उनकी अपनी जीवन शैली बदल गई थी और उन्होंने शिष्टाचार के नए तौर तरीके अपना लिए थे। अब उन्हें अपने घरों में स्त्रियों के बर्ताव और काम करने के पुराने ढंग फूहड़ और असुविधा जनक लगने लगे थे। उनके सामने अंग्रेज परिवारों की स्त्रियाँ थीं, जिनके कपड़ों की सफाई, व्यवहार कुशलता, बातचीत का ढंग, शिष्टाचार और कार्य निपुणता उन्हें अपनी घरेलू स्त्रियों के लिए आदर्श (मॉडल) लगता था। लिहाजा ये सुधारक पितृसत्तात्मक ढाँचे में

कोई सुधार किए बगैर, औरतों पर अपना परंपरागत नियंत्रण ज़रा भी ढीला किए बिना, अपनी स्त्रियों को एक खास क्षेत्र में घरों के अन्दर नए 'आदर्श' रूप में ढालने की कोशिश करने लगे। स्त्रियों को इससे पहले भी पुरुषों की नई रूचियों और नई जरूरतों के मुताबितक तय की गयी भूमिका को बेहतर ढंग से निभाने के लिये कहा जा रहा था।''[13] इसी पढ़े लिखे मध्यवर्ग ने स्त्री शिक्षा की ओर अपना कदम सबसे पहले बढ़ाया और स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ, उसने स्त्री–शिक्षा की बात तो की परन्तु उनकी उच्च शिक्षा के बारे में पहल करने की जरूरत भी नहीं समझी, बल्कि इसका विरोध ही किया। वे स्त्रियों को उतनी ही शिक्षा देने के पक्षपाती थे, जितने में वे घर का हिसाब–किताब रख सके, चिट्ठी–पत्री लिख सकें, अतिथियों से उचित व्यवहार कर सके, घर का सब काम अच्छे ढंग से निपटा सकें और बच्चों का सही तरह से पालन–पोषण कर सकें इत्यादि। इस बात का समर्थन भारतेंदु हरिश्चन्द्र जैसे लोग भी कर रहे थे। स्त्री–शिक्षा को लेकर केवल भारतेन्दु ही नहीं रूढ़िग्रस्त पूर्वाग्रहों से ग्रसित दिखाई देते हैं, बल्कि तत्कालीन हिन्दी के लगभग सभी लेखकों में ऐसी स्थिति देखने को मिलती है। उस समय के बहुसंख्यक लोगों का स्त्री–शिक्षा के बारे में मानना था कि 'स्त्रियाँ, पढ़ लिखकर चरित्रहीन हो जाएगी, पति का सम्मान नहीं करेंगी, पर पुरूषों को चोरी–छिपे पत्र लिखेगीं। पुरूषों की बातों में टाँग अड़ाएँगीं, उनके कहने में नहीं रहेगीं और पति–ससुर, पिता–भाई का नाम डुबोएगीं। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में एक पात्र के माध्यम से लेखक द्वय सामान्य वर्ग की मानसिकता की ओर संकेत करते हुए एक पात्र जमुनादास से कहलवाते हैं कि ''जो लड़कियाँ पढ़ लिख जाएँगी और बड़े होकर अपने सासरे जायेंगी तो वहाँ जाकर किसी के बस में नहीं रहेंगी।– निडर और निर्लज्ज होकर जिसको चाहेंगी चोरी छिपे चिट्ठी पत्री लिख भेजा करेंगी।''[14] भारतेंदु हरिश्चंद्र पाठशाला में पढ़ने वाली लड़कियों के बारे में कहते हैं – ''ये सब लड़कियाँ बाला पाठशाला में पढ़ती हैं। यह बात सुन मुझे बड़ा पश्चाताप हुआ कि हाय क्या स्त्री–शिक्षा का यही फल हुआ क्या इसी दिन के लिए हमारे बाबू हरिश्चन्द्र इत्यादि पंडित सुजान बालाबोधिनी आदि पुस्तकें छाप–छापकर इतना अमूल्य

काल खोते हैं? क्या स्त्रियाँ पढ़ लिखकर स्वेच्छाचारी होना और बाप–ससुर का नाम डूबोना चाहती हैं।''[15] हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत माने जाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस विचार को देखकर साफ तौर पर कहा जा सकता है कि ये स्त्रियों की उच्च शिक्षा के तो विरोधी थे ही साथ में उनकी स्वतंत्रता के भी विरोधी थे। प्रताप नारायण मिश्र ने स्त्री–स्वतंत्रता के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि 'स्त्री तभी तक सती है, जब तक उसको स्वतंत्रता नहीं मिली।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे लोग भी उस समय तक परंपरागत रूढ़ विचारों से मुक्त नहीं हो पाए थे। भारतेन्दु का स्त्री–शिक्षा को लेकर जो विचार है वह उस समय केवल उनका विचार नहीं था, बल्कि लगभग पूरे समाज की सोच थी। यह वही समाज था जो स्त्रियों के सामने अपने को विद्वान ईश्वर तुल्य समझता था और अज्ञानता के कारण उनकी स्त्रियाँ भी उनको इन्हीं रूप में देखती थी।

हिन्दी नवजागरण के प्रमुख रचनाकारों प्रतापनारायण मिश्र के विचार भी स्त्रियों को लेकर स्वस्थ नहीं थे। इन्होंने स्त्रियों पर पूर्ण अधिकार रखने के लिए साम, दाम, दंड, और भेद को अपनाने को कहा। उन्होंने 'पतिव्रता' नामक लेख में पतिव्रता स्त्रियों के अकाल पड़ जाने की चिन्ता जाहिर करते हुए उनको दी जा रही आधुनिक शिक्षा को प्रमुख कारण मानते हुए लिखा है कि –''बहुत सी दो–दो चार–चार पैसे की ऐसी पुस्तकें छप गई हैं जो पुरूषों के लिए खैर जी बहलाने को अच्छी सही, पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं। बाबू साहब बाजार से आये घर में डाल दिया। बबुआईन साहिबा ने खोल के पढ़ा तो ... भला कौन आशा करे। ऐसी किताबें बाबू साहब खरीदकर लाएं और पढ़े तो जी बहलाना हुआ, जिसमें कोई बुराई नहीं। पर बबुआईन इसे हर्गिज न पढ़ें उन्होंने पढ़ा कि व्यभिचारिणी हुई।''[16] पं0 प्रतापनारायण मिश्र के उपुर्यक्त विचारों को देखने से ऐसा लगता है कि जैसी सारी बुराईयां स्त्रियों में ही विद्यमान हैं। । पुरूष जिस किताब को पढ़कर व्यभिचारी नहीं हो सकता, स्त्री उसको पढ़कर क्यों व्यभिचारिणी हो सकती है। उनके विचारों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि वे स्त्रियों का मूल्यांकन पुरुषवादी दृष्टिकोण से करते हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने स्त्रियों को दी जाने वाली आधुनिक शिक्षा और उनको पढ़ाने वालों के बारे में कहा कि ''स्त्री शिक्षा का चाल उठ सा गया है, यदि कोई लोग पढ़ाते भी हैं तो

मेमों से या मेमा .... भला वे ईसा के गीत और लिबर्टी सिखावेंगी या पतिव्रता''[17] अगर प्रताप नारायण मिश्र के इन विचारों को देखा जाए तो स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि वे पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य विचारों से आतंकित लगते हैं। उनका मानना था कि अगर ईसा के गीत स्त्रियाँ गाएँगी तथा उनके सामने स्वतंत्रता जैसी बातें की जाएँगी तो वे अपने पतिव्रता धर्म को छोड़ देंगी। पश्चिम की शिक्षा को लेकर उनका दृष्टिकोण अनेक पूर्वग्रहों से ग्रसित दिखाई देता है। उनके इस मत का खण्डन रूक्मनीबाई और महादेवी वर्मा के माध्यम से किया जा सकता है। रूक्मनीबाई और महादेवी वर्मा दोनों ने अपने पति के घर जाने से इनकार कर दिया और उच्च शिक्षा प्राप्त की। इनमें से किसी ने ईसा के गीत नहीं गाए थे। रूक्मनीबाई को प्रतापनारायण मिश्र 'आदर्श हिन्दू नारी' नहीं स्वीकार करते थे। उन्होंने पतिव्रताओं के अकाल पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा है कि 'पर हाय। एक बहुत दिन थे। हमारे यहाँ सतीत्व उस पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था कि जीते जल जाना तक रिवाज हो गया था, और एक दिन है कि पतिव्रता ढूँढे मिलना कठिन है। हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि सारी स्त्रियाँ रूक्मनीबाई की साथिनी हो रही हैं पर इसमें भी संदेह नहीं है कि पति के सुख–दुःख में अपना सचमुच दुःख सुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह निभाने वाली स्त्रियां भी हजारों में दस ही पाँच हो तो हो।''[18]

इसी क्रम में यदि बालकृष्ण भट्ट के स्त्रियों से संबंधी विचारों को देखा जाए तो उनके अन्दर भी अपने साथियों (समकालीन रचनाकारों) के समान पूर्वाग्रह देखने को मिलता है। उन्होंने शिक्षित स्त्रियों के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''अगर कहा जाए यह अविद्या और मूर्खता के कारण है तो भी नहीं इसलिए कि अच्छे विद्वानों के यहां यही हाल देखा और सुना जाता है। स्त्रियों का मूर्ख रहना भी इसका हेतु माना गया है किन्तु विचार कर देखो तो स्त्रियां कितनी ही पढ़ी लिखी क्यों न हो पर जो उनका स्वभाव है वह नहीं बदल सकता। कुनबे में दूसरे कपड़े देख आप भी वैसा ही गहने और कपड़ों के लिए कहेंगी और न मिला तो मन ही मन कुढ़ती रहेंगी और जैसे होगा पति को कुनबे वालों को कुनबे वालों से अलग कर देगी।'[19] समाज में उस समय स्त्रियों को लेकर अनेक

रूढ़ियाँ प्रचलित थीं और आज भी ये रूढ़ियाँ और पूर्वाग्रह स्त्रियों में व्याप्त हैं जिनमें प्रमुख धारण यह है कि–स्त्रियाँ ही एक संयुक्त परिवार को विभाजित कर देती हैं, उनके अन्दर आभूषण पिपासा बनी रहती है उसको पाने के लिए कुछ भी कर सकती हैं। स्त्रियों के कारण पुरूषों में प्रेम नहीं रहता। इस प्रकार की धारणाओं को बालकृष्ण भट्‌ट अपने मन से निकाल पाने में असमर्थ रहे, यह धारणा उन्नीसवीं सदी में ही नहीं बल्कि आज भी प्रचलित है। स्त्रियों की आभूषण प्रियता को लेकर अनेक लोक कथाएं प्रचलित हैं।

प्रत्येक साहित्य अपने युग से प्रभावित होता है यही स्थिति हमें नवजागरण कालीन रचनाकारों में देखने को मिलती है। वे अपने समय से आगे बढ़कर सोचते थे पर सामाजिक स्तर पर किसी प्रकार का निर्णय दे पाने में असफल रहे। उनमें हमेशा द्वन्द्व की स्थिति देखने को मिलती हैं ''भारतीय नवजागरण मुख्यतः धर्म और सुधार का आन्दोलन था जबकि हिन्दी नवजागरण का मुख्य लक्ष्य यह कभी नहीं रहा। उलटे इसके नेता धर्म के परंपरागत स्वरूप में बुनियादी सुधारों का विरोध करते थे। सामाजिक सुधार में सबसे प्रधान मुद्दे स्त्री प्रश्न पर उनका नजरिया पिछड़ा हुआ और दुविधाग्रस्त था। आर्यसमाज या ब्रह्मसमाज की तरह उन्होंने स्त्री शिक्षा का उत्साह पूर्ण आन्दोलन कभी नहीं चलाया। बाल विवाह का विरोध करते हुए उन्होंने इसके खिलाफ कोई प्रभावशाली प्रचार नहीं किया। विधवा विवाह के प्रश्न पर एकाध अपवाद छोड़कर या तो वे इसके विरोधी रहे या दुविधाग्रस्त रहे। उन्होंने स्त्री चेतना के किसी नए आधार को प्रोत्साहित नहीं किया।'[20]

हिन्दी नवजागरण कालीन रचनाकारों में सामाजिक सुधारों के बारे में निर्णय देने की स्पष्टता भले न हो, पर अक्षमता नहीं थी। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने कविवचन सुधा में 8 सितम्बर 1884 में लिखे 'बाल–विवाह' नामक लेख में स्त्रियों से संबंधी प्रमुख समस्याओं–बालविवाह, बेमेल–विवाह, कन्या विक्रय, स्त्री संपत्ति एवं कन्या वध आदि पर एक सार्थक निर्णय देने का प्रयास किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बाल–विवाह पर विचार करते हुए उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान दिलाते हुए बाल–विवाह से उचित कन्यावध को ठहराते हुए लिखा है कि ''बचपन में विवाह कर देना कन्या वध की अपेक्षा अधिक हानिदायक है क्योंकि वह तो एक घड़ी का झगड़ा था कि जिसमें वह कन्या

अचेतन दशा में रहती थी पर यह बालवस्था का विवाह जीवन भर हर कन्या को सताया करता है।''[21] भारतेंदु हरिश्चन्द्र उस समय की प्रमुख कुरीतियों का मूल कारण अशिक्षा मानते हैं और इसका निवारण सर्वसाधारण को शिक्षा देने में मानते है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि ''सर्वसाधारण को शिक्षा दी जाए और फिर वही शिक्षित लोग इस दोष को विचारे और तुलना करें इसमें संदेह नहीं यह बड़ी पुष्ट बात है पर जहां इतने अन्तर में एक छोटे खण्ड ने शिक्षा पाई है साधारण लोगों को इस दुर्दशा से बचाने के लिए असर डालना एक बड़ी कठिनता है।''[22] समाज की किसी भी बुराई को समाप्त करने के लिए सबसे सफल उपाय यह है कि सबको अच्छा बुरा समझ सकने के लायक बनाया जाए। यह कार्य शिक्षा के बिना असंभव है। नवजागरण काल में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ वह काफी हद तक पश्चिम के शिक्षा और विचारों से परिचित हो चुका था। इसी मध्यवर्ग ने सबसे पहले अपना कदम बढ़ाया। ये जब पश्चिम की स्त्रियों से अपनी स्त्रियों की तुलना करते तो अपने को हीन अवस्था में पाते थे। इसका सबसे बड़ा कारण अशिक्षा है यह समझ में आ गया था। इसी पर विचार करते हुए इस वर्ग ने अपनी स्त्रियों को शिक्षित करने की आवश्यकता महसूस की। ताकि उनकी स्त्रियों को नए रहन–सहन, तौर–तरीके, आचार–व्यवहार का पता चले।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ, उसको यह समझ में आ गया था कि स्त्रियों को शिक्षित किए बिना देश की स्थिति में किसी प्रकार का बदलाव संभव नहीं है। 23 जून 1874 को 'बिहार से निकलने वाले 'बिहार बन्धु' पत्र ने स्त्रियों की शिक्षा पर बल देते हुए लिखा कि –''शास्त्र में स्त्री पुरूष को अर्द्धांग लिखा गया है तो विचारने की बात है कि आधा अंग जिसका मूरख रहेगा वह कभी ज्ञानी नहीं हो सकता और देखना चाहिए कि सिर्फ इसी रोग से हिन्दुस्तान की ऐसी दशा है कि इस घड़ी सब देश वालों से हम लोग ज्यादह खराबी हाल में हैं।''[23] उपर्युक्त विचारों में मात्र स्त्री–शिक्षा की बात ही नहीं की गई है बल्कि स्त्रियों के शिक्षित न होने से उससे होने वाली राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक हानियों की ओर भी संकेत किया गया है। आज भी हमारा देश जिस पायदान पर खड़ा है इसके पिछड़े होने का सबसे बड़ा कारण स्त्रियों का शिक्षा से लंबे

समय तक वंचित रहना ही है। स्त्रियों की समाज निर्माण के क्षेत्र में जो भूमिका थी उसको हमेशा नज़रअन्दाज किया गया एवं उनके मूल्यों को हमारे समाज ने कोई महत्व नहीं दिया। जिसके फलस्वरूप हमारा समाज पिछड़ा दिखाई देता है। किसी भी युग में स्त्री को शिक्षा से वंचित करना आने वाली अगली पीढ़ी के लिए दिशाहीनता का पर्याय ही हो सकता है। इसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझ सकते हैं कि प्रत्येक पीढ़ी के प्रत्येक मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था स्त्रियों के बीच ही गुजरती है। 15 मई 1878 में 'बिहार बन्धु' में प्रकाशित 'औरतों की तालीम' नामक संपादकीय लेख में लिखा गया है कि हमारे मुल्क में सबसे बड़ी जरूरत औरतों के हालात की तरक्की करने की है।'[24]

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन का प्रारम्भ नवजागरण के साथ ही हुआ। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों का लेखन स्त्री शिक्षा को लेकर हुआ है। उस समय स्त्रियों की शिक्षा के लिये अंग्रेज सरकार द्वारा पुस्तकें तैयार करवाई गयी। जिसके लिये अंग्रेजी सरकार ने इनाम की घोषणा कर रखी थी। इसी के फलस्वरूप पंडित गौरीदत्त द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) की रचना मुख्य रूप से स्त्री शिक्षा को ध्यान में रखकर की गयी थी। इसमें स्त्री–शिक्षा के महत्व को कथानक के माध्यम से बताने का प्रयास किया गया है। इसमें पढ़ी लिखी और अनपढ़ स्त्री द्वारा किए जाने वाले व्यवहार की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश की गयी है और अन्ततः शिक्षा के महत्व को स्थापित किया गया है। पं0 गौरीदत्त ने इसकी भूमिका में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''पढ़ी और वेपढ़ी स्त्रियों में क्या अन्तर है, बालकों का पालन–पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस–किस काम में व्यतीत होता है और क्यों कर होना उचित है। वेपढ़ी स्त्री जब उसी काम को करती है तो उससे क्या–क्या लाभ होता है।''[25] प्रमुखतः इस उपन्यास की रचना स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये की गयी थी। इस उपन्यास में एक पिता अपनी पुत्री को पत्र लिखता है कि –''तुम्हारा पढ़ना–लिखना उसी दिन काम आवेगा, जब अपने सास की आज्ञा में रहोगी। सास को माता के समतुल्य जनाना। ननद और जेठानी को अपनी बहिनों से अधिक मानना। .... जो ज्ञानवान लड़कियाँ है घबराती नहीं। सब काम किए जाती है ....

आए गए का सम्मान करना, सबसे मीठा बोलना, संतोष से अपने कुटुंब गुजारा आपको तुच्छ जानना यह अच्छे कुल की बेटियों का धर्म है।"[26] उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों के स्त्री–शिक्षा के पीछे उद्देश्य अपनी स्त्रियों को 'उच्चकुल' की स्त्रियों के समान 'आदर्श रूप' में ढालना था। डिप्टी नज़ीर अहमद के 'मिरातुल–उरूस को सरकारी खर्चे पर छापा गया, और हिन्दी में 'देवरानी जेठानी की कहानी' को 100 रूपये का सरकार की तरफ से इनाम मिला था। तत्कालीन समय में लिखी गई इन पुस्तकों में स्त्री को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने की ओर ध्यान ज्यादा दिया गया।

यदि हिन्दी नवजागरण के प्रभाव की बात करें तो हम हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों–'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', निःसहाय हिन्दू, आदि में देख सकते हैं। इन उपन्यासों की रचना जिस समय हुई उस समय नवजागरण का समय था तो स्वभाविक है कि इन उपन्यासों पर नवजागरण का प्रभाव पड़ा होगा। हिन्दी नवजागरण का शुरूआती दौर सुधार आन्दोलनों का ारहा। जिसमें प्रमुख समाज सुधार संस्थाओं के द्वारा समाज में व्याप्त रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं कुरीतियों इत्यादि का जोर–शोर से विरोध हुआ। इन सबका चित्रण हिन्दी के इन उपन्यासों में हुआ है। जिसकी विस्तार से चर्चा पाँचवें अध्याय में की गयी है।

नवजागरण कालीन उपन्यासकार स्त्री को परिवार की सीमा से बाहर देखने की हिम्मत नहीं जुटा पाए। अपने उपन्यासों में अधिकांश ने स्त्री को मात्र ऐसे रूप में देखा और प्रस्तुत किया, जो अपने अस्तित्व की चिन्ता किए बगैर हमेशा पुरुषों के सामने अपने को तुच्छ समझे। ऐसे स्त्रियों को आदर्श भी समझा गया। नवजागरण कालीन उपन्यासों में जैसे–'परीक्षा गुरु', 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी, 'लवंगलता वा आदर्शबाला' , 'निःस्सहाय हिन्दू', 'सुशीला विधवा', 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्श दम्पत्ति', 'सुन्दर', 'बलवंत भूमिहार', 'श्यामा स्वप्न' और 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' आदि उपन्यासों में स्त्री की तत्कालीन सामाजिक स्थिति को देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी में चल रहे सामाजिक सुधार आन्दोलन से साहित्यकार भी अप्रभावित नहीं रहे। इस संदर्भ में हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को देख सकते हैं। जिन्होंने बाल विवाह, बेमेल विवाह, दहेज और कन्या विक्रय आदि के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बेमेल विवाह को गंभीर समस्या मानते हुए इसके विषय में लिखा है कि ''एक छोटी कन्या का विवाह एक वृद्ध मनुष्य से हो जाता है जिसमें कन्या के पिता का मुख्य अभिप्राय यह रहता है कि उसको अधिक रूपया मिले। यह विवाह वैसे ही है जैसे कोई कन्या को दासी बनाने को बेच देगा।''[28] इसकी रोक–थाम के बारे में विचार करते हुए आगे लिखते हैं कि ''यह नियम निकाल दिया जाए कि जो रूपया दुल्हन को मिले अर्थात जो लड़की को बेचने से मिले वह रूपया बेचने वाला नहीं पा सके वरन उसी दुल्लहन के बरताव में रहने के लिए कहीं जमा कर दिया जाए, यह नियम निकालने में ऐसा विवाह बंद हो सकता है वह उसके विधवा होने पर काम आ सकता है, क्योंकि मनुष्य की इस दशा में स्त्रियों का विधवा होना सिद्ध ही हैं''[28] उपर्युक्त विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र समाज में चल रहे सुधार आन्दोलनों से अप्रभावित नहीं थे। वे बेमेल विवाह से पैदा होने वाली समस्याओं के मामले में राजा राममोहन राय के विचारों के करीब दिखाई देते हैं। राजा राममोहन राय ने विधवा स्त्रियों की दयनीय दशा देखकर इसमें सुधार हेतु 'आत्मीयसभा' में स्त्री के संपत्ति सम्बन्धी अधिकार की बात की थी। अतः दोनों के विचार अलग–अलग होते हुए भी कहने का उद्देश्य एक ही था। तत्कालीन समय में बेमेल–विवाह का प्रचलन अधिक था। उस समय जितनी भी विधवाएँ थीं, उसमें से अधिकतर वे विधवाएँ होती थी जो 12–15 वर्ष में 60 वर्ष के पुरुष के पल्ले बांध दी जाती थीं। यह बात उस समय ही नहीं अपितु आज भी हमारे समाने दिखाई देती है। उस समय कुछ लड़कियाँ तो ऐसी उम्र में विधवा हो जाती थीं कि उनको पता ही नहीं होता था कि विवाह होता क्या है इस संसार में उनके होने का क्या अर्थ है ? जिसमें उनको एक वस्तु के सिवाय कुछ समझा नहीं गया। बाल विवाह के संदर्भ में पंडित अंबिकादत्त व्यास द्वारा प्रकाशित 'पीयूष प्रवाह' नामक पत्र में प्रकाशित एक लेख में लिखा गया है कि ''एक लड़की का दो वर्ष की उम्र में व्याह हुआ है अब वह तीन बरस की हुई है पर नंगी फिरा करती और यही हाल इसके दुलहे का भी है।''[29]

विधवा पुनर्विवाह के संदर्भ में हिन्दी नवजागरण कालीन रचनाकारों ने न अधिक लिखा और न ही अधिक मुखर होकर विरोध किया। इनके विरोध और समर्थन में कमोबेश एक होड़ देखने को मिलती है। विधवा के परम्परागत रूपों को स्पष्ट करते हुये हिन्दी नवजागरण कालीन कुछ लेखकों ने इसका शास्त्र के आधार पर समर्थन किया है। हिन्दी के प्रमुख रचनाकारों पर 19वीं सदी में चल रहे प्रमुख सामाजिक सुधार आन्दोलनों का प्रभाव हमें देखने को मिलता है। अगर उस समय चल रहे सामाजिक सुधार आन्दोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी का अभाव दिखता है तो उसके पीछे उनकी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था थी जिसका विरोध न कर पाने के कारण हिन्दी नवजागरण का रूप इस तरह से दुविधाग्रस्त दिखाई देता है। फिर भी कुछ रचनाकारों ने इस संदर्भ में महत्वपूर्ण योगदान दिया पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने पुनर्विवाह का समर्थन करते हुए अपने भग्यवती उपन्यास में एक पात्र उमादत्त से कहलवाते हैं कि–''बहुत कम पुरुष ऐसे देखे जाते हैं जो अकेले रहने में अपने मन को बिगड़ने नहीं देते फिर स्त्रियों की क्या गति है। यही बात सोच यदि ... विधवाओं पर दया आई तो क्या बुरी बात है।''[30] जब हम इस संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट के विचार की ओर नजर डालते हैं तो वे विधवाओं के अपार कष्ट को महसूस करते हुए दिखाई देते हैं। एक जगह होली माह में विधवाओं के कष्ट को अपनी कविता के माध्यम से चित्रित करते हुए लिखते हैं कि ....

माध्यम विधवा दुखियारी सुनों कोई टेर हमारी

डालत रही जीवत जो पिय संग सो हम भारत नारी।

बालवयस पति मरन विपत्ति अति–समझ–समझ दुःख भारी, हाय विरहा नल जारी।''[31]

हिन्दी नवजागरण के साहित्यकारों ने तत्कालीन समय में स्त्रियों से संबंधी कुछ समस्याओं पर अपना मत तो दिया लेकिन कुछ ऐसे मुद्दे थे जिसके बारे में जानते हुए भी विचार नहीं किए। उनमें दहेज उस समय के समाज की प्रमुख समस्याओं में से एक था। इसके बारे में लगभग सभी रचनाकार मौन दिखाई देते हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने

उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' में इस तरफ संकेत करने का प्रयास किया है। 'आदर्श हिन्दू' में एक पात्र प्रियंवदा कहती है कि ''मेरा अपराध इतना ही न था कि मैं गरीब घर की बेटी हूँ मेरे विवाह से उनकी साध पूरी नहीं हो सकी। बस इस बात का हरदम ताना दिया करती थीं और कभी जुबान से कुछ निकल गया तो मार बैठती थी।''[32]

हिन्दी नवजागरण कालीन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन्होंने तत्कालीन धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इत्यादि अनेक पक्षों और उनकी कमियों की तीखी आलोचना की। बालकृष्ण भट्ट ने जहाँ जैसा देखा उसके ऊपर वैसी ही टिप्पणी की। इन्होंने सनातन धर्म के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''जिसमें सात वर्ष की कन्या व्याही जाए, जिसमें आठ कनौजिया नौ चूल्हे हो, जिसमें लड़कपन से क्षीर कण्ठ बालक का व्याहकर स्वच्छन्द जीवन के पाँव तोड़ दिया जाए .... हमारा सनातन धर्म वह है जिसकी आराधना त्रिभुवन में, त्रिकाल में, सार्वजाति के लोग कर सकते हैं। वह नहीं जिसे तीन वर्ण मात्र भारत वर्ष भर में ही कूपमण्डूक बनकर गँदला करें। हमारा सनातन धर्म स्वभाविक है, कल्पित नहीं है। सनातन धर्म हमें लोक और परलोक दोनों में बचने बचाने वाला है न कि लोभ में दुः,ख और परलोक में नजाने देने वाला हैं''[33] बाल विवाह के बारे में माता–पिता को जिम्मेदार ठहराते हुए बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि ''हिन्दुस्तान के माँ–बाप को गोली मार देने लायक है जो अपने लड़कों की शिक्षा आदि का कुछ खयाल न करके उनकी अपनी शादी बचपन में ही कर देते हैं मानों अपने लड़को की शादी कर देना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य हैं।''[34] पंडित बालकृष्ण भट्ट धर्म, राजनीति तथा बाल–विवाह की बुराइयों पर सार्थक टिप्पणी करते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु जब विधवा–पुनर्विवाह की बात आती है तो वहाँ बालकृष्ण भट्ट परंपरावादी हो जाते हैं। इन्होंने विधवा–पुनर्विवाह के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''हमारी कुलवधू की शोभा इसी में है कि हर तरह के कष्ट झेलते हुए भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करें।''[35] बालकृष्ण भट्ट उनके दुःख दर्द को महसूस करते हुए अपनी रूढ़िवादी परंपरा के प्रति इतने आग्रही दिखाई पड़ते है कि उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हैं। हिन्दी नवजागरण–कालीन अधिकांश रचनाकारों ने विधवाओं के दुःख को समझते हुए भी उन्हे

मर्यादा के नाम पर दुःख झेलने के लिए कहते हैं। इसी में समाज का हित देखते हैं। बालकृष्ण भट्ट ने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में अपने विचारों को दो टूक शब्दों में व्यक्त किया हैं पर विधवाओं के संबंध में उनका विचार सम्मान करने योग्य नहीं हैं।

यद्यपि हिन्दी नवजागरण कालीन साहित्य में शिल्प और भाषा के स्तर पर एक नया परिवर्तन देखने को मिलता है। इस समय की रचनाओं में तत्कालीन समय की धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में दिखाई देती हैं। पं0 गौरीदत्त शुक्ल, श्रद्धाराम फिल्लौरी, मुंशी कल्याण राय, मुंशी ईश्वरी प्रसाद, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, गोपालराम गहमरी, किशोरी लाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास और लाला श्रीनिवासदास इत्यादि में तत्कालीन सामाजिक परितर्वनों के प्रति एक नई क्रिया–प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। भले ही सबके अभिव्यक्ति का माध्यम अलग–अलग क्यों न हो। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर–नगरी' आदि प्रमुख नाटकों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की सच्चाई को बयान किया। उस समय के सभी रचनाकार वो चाहे निबंधकार हो, नाटककार हो या उपन्यासकार सभी ने अपने विचारों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रस्तुतीकरण करके जनता को जागृत करने का प्रयास किया है। अपनी बातों को लोगों तक पहुँचाने का सबसे सशक्त और आसान तरीका गद्य का माध्यम था काव्य इसके लिए उपयुक्त नहीं था।

भारत में नवजगरण की शुरुआत मात्र समाज सुधार अन्दोलनों को लेकर नहीं हुई। यह दो संस्कृतियों की टकराहट का समय था। दोनों संस्कृतियों के टकराहट की फलस्वरुप कला, साहित्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आदि क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन आए। रामविलास शर्मा ने नवजागरण पर विचार करते हुए लिखा है कि ''भारत में नवजागरण की समस्याएँ साहित्य तक सीमित नहीं है; उनकी परिधि में दर्शन, विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नृत्य, संगीत आदि ललित कलाएँ भी आती हैं।''[41] समाज सुधार संबंधी अन्दोलनों का प्रभाव उस समय प्रबल रुप में दिखायी देता है, इसलिए तत्कालीन अन्य मुद्दे आँखों से ओझल हो जाते हैं। ज्यादातर विद्वान भी नवजागरण को औपनिवेशिक शासन की देन मानकर

अपने ढंग से तर्क सम्मत सिद्ध करते हैं। बाकी अन्य मुद्दों को उठाने का प्रयास नहीं किया गया है जो समाज सुधार अन्दोलनों के समान ही कमोबेश चल रहे थे।

संदर्भ

1. राष्ट्रीय नवजागरण और पत्रकारिता, ऋषभ जैन, पृष्ठ 17
2. वही, पृष्ठ 25
3. मानक हिन्दी कोश, दूसरा खण्ड, पृष्ठ 353
4. बंगला नवजागरण, सुशोभन सरकार, पृष्ठ 28
5. वही, पृष्ठ 8
6. वही, पृष्ठ 1
7. वही, पृष्ठ 16
8. आधुनिक भारत, बिपिनचंद, पृष्ठ 153
9. भारत में उपनिवेशवाद और रष्ट्रवाद, शिवानी किंकर, पृष्ठ 69
10. हिन्दू नवजागरण की विचारधारा, वीरभारत तलवार, पृष्ठ 10
11. पहल–53 जनवरी फरवरी मार्च 1996, पृ0 167
12. कविवचनसुधा, सं0 भारतेंदु हरिश्चंद्र, 3 नवम्बर 1873
13. रस्साकशी, वीरभारत तलवार, पृष्ठ 212
14. वामा–शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय, पृष्ठ 20
15. कविवचनसुधा, सं0 भारतेंदु हरिश्चंद्र, जून 1874
16. कविवचनसुधा, ले0– प्रतापनारायण मिश्र, जून 1874
17. पहली किताब नवजागरण, आलोचना पत्रिका, अक्टूबर,2000, वीरभारत तलवार
18. प्रतापनारायण ग्रंथावली, सं. विजयशंकर मल्ल, पृष्ठ 133
19. हिन्दी प्रदीप, सं0 बालकृष्ण भटट् 1907 जि0 29 पृष्ठ–19
20. रस्साकशी, वीर भारत तलवार, पृष्ठ 397
21. कविवचनसुधा, सं0 भारतेंदु हरिश्चंद्र, 8 सितबंर 1884
22. कविवचनसुधा, 8 सितबंर 1884

23. बिहार बन्धु, 23 जून मंगलवार 1874
24. बिहार बन्धु, 15 मई1878
25. देवरानी जेठानी की कहानी, पं0 गौरीदत्त शुक्ल, भूमिका
26. वही, पृष्ठ 18
27. कविवचनसुधा, सं0 भारतेंदु हरिश्चंद 'बाल विवाह' 8सितबंर 1884
28. वही
29. पीयूष प्रवाह, सं0–अम्बिकादत्त व्यास, 25 अप्रैल 1884
30. भाग्यवती, पं0 श्रद्धाराम फिलौरी, पृ0 8
31. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर–दिसम्बर सन् 1889 जि013, पृष्ठ–28
32. आदर्श हिन्दू , पृष्ठ 153
33. हिन्दी प्रदीप, सं0 बालकृष्ण भट्ट, 1907, जि0 29
34. बालकृष्ण भट्ट, सं0–पद्यमाकर पाण्डेय, पृष्ठ 20
35. वही, पृष्ठ 13
36. भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, पृ0 163

नागरी आन्दोलन

नागरी आन्दोलन की शुरूआत उन्नीसवीं सदी में उर्दू को कार्यालयी भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने के विरोध में हुआ। इस भाषा को जानने वालों की संख्या नाम मात्र थी। इस भाषा को जानने वाले ज्यादातर उच्चवर्गीय हिन्दू या मुसलमान थे। बाकी बहुसंख्यक वर्ग के समझ से परे थी। इससे पूर्व मुगल दरबारों में काम काज की भाषा फारसी थी। इसमें यह व्यवस्था थी कि फारसी में किए गए कार्य को हिदुस्तानी में अनुवाद किया जाता था ताकि सामान्य लोगों के समझ में आ सके। लेकिन कम्पनी के शासन में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई। उस समय जो राज–काज की भाषा थी वह न तो शासक वर्ग को समझ में आती थी न ही शासित वर्ग को। शासन में आने वाली कठिनाइयों से निपटने के लिए दुभाषिए से काम लिया जाता था। ऐसे लोग शासक वर्ग के खुशामद के पात्र थे । जो दो भाषाओ (अंग्रेजी और फारसी) का ज्ञान रखते थे। इस समस्या को ध्यान में रखते हुए कम्पनी के अधिकारियों ने भारतीय भाषाओं के अध्ययन की ओर कदम बढ़ाया जिसके फलस्वरुप बनारस के संस्कृत कालेज और कलकत्ता मदरसे की स्थापना हुई। जॉन गिलक्राइस्ट का नाम इस क्षेत्र में योगदान के लिए विशेष रूप से लिया जाता है। जब गिलक्राइस्ट भारत आये तो उसने भारत के विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण किया और शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए हिन्दुस्तानी भाषा का समर्थन किया । जब फोर्टविलियम कॉलेज की स्थापना हुई तो इन्हें हिदुस्तानी भाषा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया । कॉलेज में पढ़ाने के लिए अपने सहयोगियों के साथ उन्होंने मिलकर हिन्दुस्तानी और उर्दू में अनेक पुस्तकें तैयार करवाई ।

जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दवी और हिदुस्तानी को अलग–अलग ''शैली माना और तीन प्रचलित शैलियों का उल्लेख किया ; 1. दरबारी या फारसी शैली 2. हिन्दुवी शैली 3. हिन्दुस्तानी शैली . . . यह बात मानने के लिए तैयार नहीं थे।''[1] ''इसने हिन्दवी, अरबी और फारसी के मेल से भाषा को हिन्दुस्तानी भाषा माना। हिन्दी के 'उर्दू और रेख्ता' आदि . . . का समर्थन किया।''[2]

सन् 1837 में सरकार ने पश्चिमोत्तर प्रांत की राजभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को मान्यता प्रदान की। इसमें अरबी–फारसी शब्दों की बहुलता थी। उस समय कार्यालयों और राजनीतिक गतिविधियों में उर्दू के समर्थकों का प्रभुत्व होने के कारण इसकी लिपि फारसी ही स्वीकार की गयी। यहीं से नागरी और उर्दू विवाद धीरे–धीरे बढ़ने लगा और आगे चलकर आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। फारसी लिपि के विरोध में जो आन्दोलन शुरू हुआ वह था प्राथमिक स्तर पर शिक्षा देने के लिए तैयार की गयी पुस्तकों को लेकर हुआ। एक ही साथ एक ही कक्षा में पढ़ने वाले बच्चों की लिपि अलग–अलग हो गयी जिससे शिक्षा के क्षेत्र में अनेक कठिनाईयाँ आने लगी।

नागरी और उर्दू आन्दोलन मुख्य रूप से लिपिगत समस्या को लेकर प्रारंभ हुआ। इस आन्दोलन के फलस्वरूप तीन वर्ग उभरकर सामने आए– एक वह वर्ग था जिसने केवल उर्दू का समर्थन किया जिसके प्रतिनिधि के तौर पर सर सैयद अहमद खाँ को देखा जा सकता है। दूसरा वह वर्ग था जो केवल संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहा था जिसके प्रतिनिधि के के रूप में राजा लक्ष्मण सिंह को देखा जा सकता है। तीसरा वह वर्ग था जो उर्दू मिश्रित हिन्दी का समर्थन कर रहा था जिसके प्रतिनिधि के रूप में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द को देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दी के प्रमुख उन्नायकों में 'राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द' का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन्होंने हिन्दी–उर्दू मिश्रित भाषा का समर्थन किया। उस समय उर्दू प्रेमी हिन्दी का अस्तित्व मिटाने पर तुले थे, और सरकार भी इस संबंध में अपनी दोहरी भूमिका निभा रही थी। तत्कालीन समय में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और सर सैयदअहमद खाँ दोनों अंग्रेजी सरकार के विश्वास पात्रों में थे, इसलिए सरकार कभी नागरी का समर्थन करती तो कभी उर्दू का। ऐसी स्थिति में राजा शिवप्रसाद सिंह ने मध्यम मार्ग को अपनाया, इन्होंने स्कूलों में पढ़ाने के लिए दो दर्जन से भी ज्यादा पुस्तकें तैयार की। इसके अलावा अन्य भाषाओं संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी आदि की रचनाओं का अनुवाद किया और अपने सहयोगियों को ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली भाषा के बदलाव की मांग नहीं कर रहे थे, अपितु उसकी लिपि

बदलना चाहते थे। उनका मानना था कि एक स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की लिपि अलग–अलग करना उनकी प्रगति के मार्ग में अवरोध पैदा करना होगा। उनको ऐसी भाषा में शिक्षा दी जानी चाहिए जिसे बहुसंख्यक वर्ग आसानी से समझ सके। भाषा के संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए 'भाषा का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है कि ''हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम–फहम और खुशपसंद हों अर्थात जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिमफजिल, पंडित, विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए; जहाँ तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत साबित न हो जाए अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और खास जरूरत साबित हो जाय।''[3] स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली किताबों की भाषा को लेकर अनेक समस्याएँ सामने आयीं। ''स्कूली किताबे तैयार करते समय शिवप्रसाद के सामने समस्या सिर्फ यही नहीं थी कि बच्चों को कैसे रोचक ढंग से, आसान भाषा में आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाए। उनके सामने एक सामाजिक समस्या भी थी, जो ज्यादा कठिन थी। स्कूल में हिन्दू बच्चे थे और मुसलमान भी। ज्यादातर हिन्दू बच्चे हिन्दी माध्यम से पढ़ते थे, मुसलमान बच्चे उर्दू माध्यम से। दोनों माध्यमों की लिपि अलग–अलग थी। शिवप्रसाद यह मानने को राजी नहीं थे कि लिपि अलग हो तो उसकी भाषा भी अलग–अलग होनी चाहिए। यही मूल समस्या थी। अपनी बुनियादी एकता के बावजूद आज हिन्दी और उर्दू न सिर्फ़ दो अलग–अलग भाषाओं के रूप में स्थापित हो चुकी हैं बल्कि एक ही विषय को हिन्दी की किताब में अलग और उर्दू की किताब में अलग ज़ुबान में पेश किया जाता है। समान विषय को पढ़ने वाले हिन्दी भाषी बच्चे उर्दू किताब की भाषा नहीं समझ पाते। इस स्थिति को मानने को शिवप्रसाद तैयार नहीं थे। उन्हें हैरानी थी कि एक शहर में एक ही मुहल्ले में रहने वाले और एक ही क्लास में समान विषय पढ़ने वाले बच्चों की लिपि भले ही अलग हो, पर भाषा अलग–अलग कैसे हो सकती है ? शिवप्रसाद चाहते थे कि एक ही दरजे में एक जैसे विषय पढ़ने वाले बच्चों की किताबें उर्दू

में हो चाहे हिन्दी में, उनकी भाषा एक ही होनी चाहिए, जो उनकी जातीय (नेशनल) या प्रांतीय भाषा हो सकती है।''[4]

राजा साहब द्वारा लिखित पुस्तकों की भाषा में पंडितों और मौलवियों ने बाद में अपनी सुविधा अनुसार परिवर्तन कर लिया। तत्कालीन पश्चिमोत्तर लेफ्टिनेंट गवर्नर के कहने पर शिक्षा विभाग के निदेशक मि. स्टोवर्ड रीड ने प्रयोग के तौर पर 'विद्यांकुर' को मदरसों एवं स्कूल में दे दिया। यह पुस्तक दो भागों में थी। इसकी उपलब्धि का पता इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसके 29 संस्करण प्रकाशित हुए। इसमें उर्दू और हिन्दी शब्दों दोनों का साथ–साथ प्रयोग किया गया था जिससे आम लोगों को समझ में आ सके। पंडितों ने फारसी की जगह संस्कृतनिष्ठ शब्दों को और मौलवियों ने संस्कृतनिष्ठ शब्दों की जगह फारसी के शब्दों को भरना शुरू कर दिया। इस संबंध में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''दो छोटी पुस्तकें मालुमात और भूगोल की पुस्तकें पश्चिमोत्तर गवर्नर मि. जॉनसन की आज्ञा से तैयार की गई। जिसे मि. स्टेवर्ड रीड ने प्रयोग के तौर पर उर्दू और हिन्दी माध्यम वाले स्कूलों को दिया। जिसमें पंडितों ने फारसी के जगह संस्कृतनिष्ठ और मौलवियों ने संस्कृत शब्दों की जगह फारसी शब्द भर दिये।''[5] भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी पंडितों और मुल्लाओं द्वारा भाषा में किए जा रहे अनावश्यक परिवर्तन की आलोचना करते हुए कहा है कि ''मौलवियों और पंडितों के लगातार युद्ध ने हिन्दी के हित को बहुत हानि पहुँचाई है। हमारी बोली न तो मौलवियों की भाषा है और न पंडितों की, वह कुछ इन दोनों के मध्य की चीज है, वह 'सुनहला मध्यमान' है।''[6] स्पष्ट है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के ही भाषा को आदर्श रूप में स्वीकार किया। प्राथमिक स्तर पर क्षेत्रिय भाषाओं में शिक्षा देने का समर्थन किया। साहित्य में सायास आए अरबी–फारसी शब्दों का समर्थन किया।

राजा साहब चाहते थे कि भाषा भले ही अलग–अलग हो पर लिपि नागरी हो जिससे कि सामान्य लोगों को समझने में आसानी हो सके। इनके इस विचार का तत्कालीन उर्दू प्रेमियों ने तो विरोध किया ही साथ में हिन्दी के प्रबल समर्थकों ने भी नहीं छोड़ा। उर्दू के समर्थकों ने इनको हिन्दी का समर्थक समझकर विरोध किया तो हिन्दी के समर्थकों ने उर्दू

का समर्थक समझकर आलोचना की। इनको हिन्दी आलोचकों और इतिहासकारों द्वारा न समझ पाना हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। इनका अभी तक सही ढंग से मूल्यांकन नहीं हो पाया है। जिस समय सरकार भी नागरी का समर्थन नहीं कर रही थी, उस समय राजा साहब ने बीच का रास्ता निकालते हुए उर्दू मिश्रित हिन्दी का समर्थन किया। इस काम में तन–मन से लगे रहे। इन्होंने स्कूलों में पढ़ाने के लिए हिन्दी की पुस्तकें तैयार की। राजा साहब ने जिस हिन्दी मिश्रित उर्दू का प्रयोग किया था उसका हिन्दी आलोचकों ने सही मूल्यांकन किए बिना इसकी आलोचना प्रारंभ कर दी। इससे चिढ़कर जनवरी 1868 में भेजे गए मेमोरण्डम में उर्दू को मात्र भाषा तक कह दिया। परंतु सात माह बाद भेजे गये दूसरे मेमोरण्डम में हिन्दी को मात्र भाषा कहा। इन दोनों भेजे गए मेमोरण्डम में बस इतना ही अन्तर था कि पहले में अनावश्यक संस्कृत के शब्दों को रख देने की आलोचना की और दूसरे में उर्दू में अनावश्यक फारसी के शब्दों के भरे जाने की आलोचना की। इन्होंने हमेशा ऐसी भाषा का समर्थन किया जो जन सामान्य के समझ में आ सके। इस संबंध में अपनी पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण' में लिखा है कि ''सख्त मुश्किल (यानी कठिन कूट) संस्कृत शब्दों को जो हजारों बरस दाँत–दाँत–जीभ से टकराते–टकराते गोल–मटोल पहाड़ी नदी की वाटिका बन गये हैं पंडित जी फिर वैसी सिघाड़े की तरह नुकीले पत्थर के ढ़ोके बनाना चाहते हैं और मौलबी साहब इतने ऐन–काफ काम में लाना चाहते है कि बेचारे लड़के बलवलाते–बलवलाते ऊँट ही बन जाते हैं।''[7] राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने सरकार को भेजे गए मेमोरण्डम में नागरी लिपि को सामान्य जनता के शोषण से न जोड़कर हिन्दू जातीयता से जोड़कर देखना दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा। अभी तक यह आन्दोलन भाषा विवाद को लेकर चल रहा था, यहीं से इसका साम्प्रादायिक रूप निर्मित होना शुरू हो गया आगे चलकर उर्दू को मुसलमानों के साथ और हिन्दी को हिन्दुओं के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। इस संबंध में वीरभारत तलवार ने लिखा है कि ''मेमोरण्डम में जिस नागरी आन्दोलन की शुरूआत हुई, उसने पश्मिोत्तर राजनीति की भावी दिशा तय कर दी। इसके बाद नागरी लिपि को लेकर जितने भी आन्दोलन हुए और जितने भी मेमोरेण्डम सरकार को दिए गए, सबमें उन्हीं बुनियादी तर्कों को दुहराया और विस्तार दिया गया, जिन्हें पहली बार शिवप्रसाद ने अपने मेमोरण्डम में दिया था। अपने मेमोरेण्डम में शिवप्रसाद ने नागरी लिपि

और हिन्दी भाषा को हिन्दू जातीयता के साथ जोड़कर एक सांप्रदायिक चरित्र दे दिया था। आगे आने वाले आन्दोलन में भी यह सांप्रदायिक चरित्र लागू रहा। मेमोरेण्डम का राजनीतिक सार तत्व यह था कि पश्चिमोत्तर प्रांत में भद्रवर्ग के अन्दर हिन्दू–मुस्लिम शक्ति संबंधों के समीकरण को बदलने की गंभीर शुरूआत की। आदालती लिपि के सवाल को हिन्दू–मुस्लिम के बीच होड़ का ऐसा मुद्दा बना दिया जिससे शिक्षित हिन्दू–मुसलमानों के साँझे भद्रवर्ग में दरार पड़ गयी और वे लिपि के सवाल पर अपने–अपने धर्म के आधार पर गोलबंध होने लगे।''[8] भाषा को जातीय संदर्भों से जोड़ देने के कारण यह विवाद मात्र भाषा या लिपि का नहीं रह गया अपितु हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक मुद्दों का कारण बन गया। जिसके फलस्वरूप इसका दूरगामी परिणाम देश विभाजन भी था।

राजा साहब के समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों के आलोचना करने के दो सबसे बड़े कारण थे। एक अंग्रेजों का वफादार होना, दूसरा भाषा विरोध न करके लिपि विरोध करना था। इस संदर्भ में किशोरीलाल गोस्वामी ने 1900 में सरस्वती के अप्रैल अंक में लिखा है कि– ''राजा साहब की इतनी गुणावली को वर्णन करने के उपरान्त हमें खेद के साथ कहना पड़ता है जैसे ही राजा साहब गवरमेण्ट के कृपापात्र थे वैसे ही निज देशवासियों के क्रोधभाजन थे। सच पूछिए तो इसका प्रधान कारण केवल यही था कि इनका हृदय परोपकारिता शून्य था। भारतेंदु बाबू हरिचंद्र ने इन्हीं पर लक्ष्य करके ''अंधेर नगरी'' के समर्पण में लिखा था–

'मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाए।

मान्य योग्य ते नर जे केवल परहित जाए।।'

राजा साहब से किसी का काम निकलना कठिन ही था। सिफारिस वह कभी किसी की भी न करते। निदान अपने इष्ट साधन के अतिरिक्त लोकोपकारक काम राजा साहब से कुछ न हो सकता, तथापि अंगरेजों की तुष्टि के लिए उन्हें कोई कार्य भी अकर्तव्य न था। इसी से सर्व साधारण जन उनसे चिढ़ते थे और उनके प्रति सर्वदा अश्रद्धा दिखलाते थे।''[9] भारतेंदु हरिश्चंद्र जो कि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के शिष्य थे। यही कारण था कि

आज भी तत्कालीन रचनाकारों के आधार पर हिन्दी साहित्य में इनकी भरपूर अवहेलना की जाती है। आज के आलोचक एक शब्द में ही यह कहकर कि 'वे अंग्रेजों के चाटुकार थे' उनके पूरे साहित्य की अवहेलना करते हुए इनके द्वारा हिन्दी के लिए किए गये कार्यों को मटियामेट कर देते हैं।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की रचनाओं में लक्ष्मण सिंह जैसी भाषागत कट्टरता नहीं दिखाई देती है। राजा साहब ने भाषा के संदर्भ में जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया उसका ही फल है कि आज हिन्दी साहित्य का इतना समृद्ध भंडार हमारे पास है। भाषा के संदर्भ में अपनी पुस्तक 'भाषा के इतिहास' में लिखा है कि ''इस जबान का दरवाजा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा। उनमें शब्द वेशक आयें और बराबर चले आते हैं। क्या संस्कृत, क्या यूनानी (यहाँ तक की यूनानी लफ्ज 'दीनार' संस्कृत पोथियों में भी पाया जाता है।) क्या रूसी, क्या फारसी, क्या अरबी, क्या तुर्की, क्या अंग्रेजी या किसी मुल्क के शब्द जो कभी इस दुनिया के पर्दे पर बसे हैं, या बसते हैं सबके वास्ते इसका दरवाजा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा अब इसे बंद करने की कोशिश करना सिवाय इसके कि किस कदर मूजिब हमारे हानि और नुकसान का है सोचना चाहिए कि कैसा असंभव है। रोक–टोक बेशक मुनासिब है वह कौन मनुष्य है कि अपने ताल में जिससे तमाम गाँव सिंचते हैं पानी आने की नालियाँ बंद करे, गंगा की धारा का बहना तो आप बंद नहीं कर सकते लेकिन यह अवश्य कर सकते हैं कि बांध बनाकर उन्हीं के दर्मियान उसको रक्खें। अगर बढ़ जाए समय–समय पर उन बांधों को हटाकर उसकी मरम्मत कराकर ज्यादा फैलाव देते आवें।''[10] राजा साहब ने प्रवाह को बनाएँ रखने के लिए अन्य भाषाओं के समिश्रण का समर्थन किया और भाषागत संकीर्ण दृष्टिकोण की आलोचना की। इन्होंने उस समय मध्यमार्ग को इसलिए अपनाया क्योंकि हिन्दी के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं। हिन्दी का भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा था। तत्कालीन भारत में भद्रवर्गीय मुसलमानों के साथ–साथ कायस्थ भी इसके प्रबल विरोधी थे। 1879 में 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने इस संबंध में लिखा है कि ''और लोग हिन्दी को कुछ उत्साह देते हैं, पर कायस्थ लोग हिन्दी की उन्नति का नाम सुन नाक–भौ सिकोड़ने लगते हैं। और यही लोग अन्य लोगों

की अपेक्षा पढ़े–लिखे और सभ्य होते हैं पर मातृ भाषा हिन्दी के प्रबल शस्त्रु हैं खासकर बिहार के कायस्थों ने तो उर्दू को ही मातृ भाषा और अपने जीवन का सर्वस्व मान बैठे हैं।''[11]

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इन विपरीत परिस्थितियों में जिस सूझबूझ का परिचय दिया वह अत्यन्त सराहनीय है। इनके समकालीनों ने इनकी जिस तरह से आलोचना की उसका सबसे बड़ा कारण इनका व्यक्तिगत जीवन था। व्यक्तिगत जीवन को साहित्यिक जीवन से अलग करके इनका मूल्यांकन करने से उनकी भाषागत दृष्टिकोण का सही स्वरूप सामने आता है। राजा साहब उन प्रतिकूल परिस्थितियों में अगर आक्रामक मुद्रा अपनाते तो शायद हिन्दी को विद्यालयों में पढ़ाने के लिए अवसर मिल पाना संभव नहीं था। ''इन सब बाधाओं और कठिनाईयों के होते हुए राजा शिवप्रसाद और उनके सहयोगियों ने हिन्दी भाषा का ध्यान रखा यह कोई मामूली बात न थी।''[12] राजा साहब सदैव नागरी लिपि का समर्थन करते रहे। कभी लिपि के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। अगर फारसी लिपि का बहिष्कार होता तो उर्दू स्वतः खत्म हो जाती। सरकार भी कभी उर्दू का तो कभी हिन्दी का समर्थन कर रही थी। इस बात को राजा साहब अच्छी तरह समझ रहे थे। हिन्दी के प्रति उनके समर्पण का पता तब चलता है जब डिप्टी नज़ीर अहमद इनकमटैक्स के अनुवाद करते समय हिन्दी की जगह फारसी शब्दों को भरना शुरू किया तो राजा साहब ने इसका प्रत्यक्ष रूप से विरोध किया। श्री हरिनारायण ने 'हिन्दी पत्रिका' में शिवप्रसाद सितारेहिन्द की रक्षा' नामक लेख में हआतुआ नज़ीर के लेखक इफ्तार आलिम विलग्रामी का मत व्यक्त किया है। जिसमें एक जगह लिखा है कि ''बाबू शिवप्रसाद ने खुफ़िया तौर पर तरजमें में शरीक होने की कोशिश की। चूँकि साहेब लियाकत थे, कामयाब हो गए। मौलाना तरजुमा की संगलाख (पथरीली) राह के निस्फ से ज्यादा तय कर चुके थे कि जनबा बाबू साहब धम्म से कूद पड़े और कूदे भी तो इस हैसियत से कूदे कि मौलाना को अपनी पेशदस्ती (अधीनता) में रखकर बकिया निस्फ का तरजमा करने लगे। यह बाबू साहब हिन्दुओं के बड़े मुतअस्तुब (विद्वेषी) थे। बाबू साहब में मजहबी तअस्सुब बहुत था वे चाहते थे कि कुल मुसलमानों की गरदन हो और मैं उसको एक झटके मैं उड़ा दूँ।''[13] राजा

साहब का हिन्दी उर्दू के समर्थकों ने विरोध किया इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ये अंग्रेजी सरकार के घोर समर्थकों में एक थे। इन सबके बावजूद इन्होंने जन सामान्य के समझ में आने वाले शब्दों का चयन किया। एक बार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा के संदर्भ में इनसे पूछा कि 'आप किस प्रकार की भाषा का समर्थन करते हैं तो राजा सहब ने पूछते ही जबाब दिया था, जो सरल एवं सबके समझने योग्य हो। फिर भारतेंदु ने पूछा आप मेरी प्रणाली को कैसी समझते हैं राजा साहब बोले उत्तम, यदि मैं काशी में नाटक लिखने बैठूंगा तो इसी प्रणाली का अनुसरण करूँगा।''[14] बदरी नारायण 'प्रेमघन' राजा साहब के भाषा की संदर्भ में भारतेन्दु के क्या विचार थे इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''एक दिन मैं अपने अभिन्न मित्र भारतेंदु से संयोगात कह उठा– मैंने सबकी लिखी हिन्दी पढ़ी परंतु जो स्वाद मुझे राजा साहब के लिखावट में मिलता है वह दूसरों की लिखावट में नहीं। भारतेंदु मुस्कुराकर बोले–'उनकी क्या कहें, वैसी लच्छेदार इबारत कोई लिख ही नहीं सकता पसंद कैसे न आवे, सचमुच उनकी कलम में जादू का असर है।''[15] राजा साहब के बारे में किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखा है कि ''गदर के समय इस देश में इस देश के यूर्निवर्सिटी स्थापित हो चुकी थी। उस समय पाठ पुस्तकों की ऐसी दशा थी कि पुरानी बारह खड़ी, वर्णमाला, पहाड़ा और कविताओं के शिवाय ऐसी पुस्तकों का पूरा पूरा अभाव था कि जो पाठशालाओं में पढ़ाई जातीं। उस समय मुसलमानों की बहुत चढ़ बनी थी। उनके यहाँ असंख्य पुस्तकें पाठोपयोगी भी प्रस्तुत थीं। उनका ज़ोर, दबाव और अनुरोध भी शिक्षा विभाग के अफसरों पर बहुत पहुँचता था। इस कारण से हिन्दी पुस्तकों के अभाववश सर्कारी अफ़सरों की भी पूर्ण इच्छा थी कि पाठशालाओं में मियाँ जी फारसी और पंडित जी संस्कृत पढ़ावें, और हिन्दी का द्वार एक दम से सदा के लिए बन्द कर दिया जाय। उस समय एक भी ग्रंथ हिन्दी का और राजा शिवप्रसाद के अतिरिक्त एक भी व्यक्ति हिन्दी–हितैषी न था जो कि हिन्दी का पक्ष लेता। निदान अकेले राजा शिवप्रसाद ने दृढ़ता के साथ समस्त हिन्दी के विरोधियों का सामना किया और पूर्ण उद्योग, तत्परता और अध्यवसाय से हिन्दी का द्वार खुला रखा। यदि उस गाढ़े समय में राजा शिवप्रसाद सरीखा हिन्दी का पक्षावलम्बी वीर न उठ खड़ा होता तो आज दिन हिन्दी किस अवस्था में कहाँ रहती, इसे मनस्वी जन स्वयं अनुभव कर सकते हैं।''[16] हिन्दी और उर्दू के संबंध में

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मानना था कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा हैं इस संबंध में शिक्षा आयोग द्वारा सन् 1884 में पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर में लिखा था कि ''खड़ी बोली दो विभिन्न रुपों में सारे प्रान्त में बोली जाती है। जब उसमें फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है और वह फ़ारसी शब्दों में लिखी जाती है, तो वह उर्दू कहलाती है, जब वह वाह्य मिश्रण से अछूती होती है और नागरी लिपि में लिखी जाती है, तब वह हिन्दी कहलाती है; अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उर्दू–हिन्दी में कोई वास्तविक भेद नहीं है।''[17] कचहरियों एवं दफ्तरों में उर्दू जानने वाले लोगों द्वारा हो रहे अनपढ़ जनता के शोषण के बारे लिखा है कि ''यदि हिन्दी को मान्यता मिल जाय तो फिर अदालतों के लघुए बंधुए लोग जिन्होंने प्रचलित लिखावट को स्थायी आय का साधन बना लिया है, अपनी जेबें न भर पावेगे। ऐसे बड़े और कठिन फारसी शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो जमींदारों, किसानों तथा व्यापारियों ने कभी सुने ही नहीं। उद्देश्य यह कि इनका अर्थ समझाने वाले उर्दू ज्ञाता लोग खूब खाते कमाते रहें। यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाय तो सम्मन पढ़वाने के लिए दो–चार आने कौन देगा, और साधारण सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया–आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वाले को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दे।''[18]

भारतेंन्दु हरिश्चंद्र ने स्वीकार किया कि भारतीय भाषाओं (हिन्दी, संस्कृत) में कला एवं विज्ञान की पुस्तकें नहीं लिखी जा सकती। इसके लिए विदेशी शब्दों के प्रयोग का समर्थन किया। इस संबंध में उनका कहना है कि ''हिन्दी रचना से सम्पूर्ण फारसी शब्दों को निकालने का आग्रह करना भारी भूल है। हम निम्न प्रकार की हिन्दी भी नहीं चाहते– 'नभोमण्डलन घनघटाच्छत्र होने लगा। विविध वाट बाहुल्य से इतस्ततः कुजझटिका निपात द्वारा रसातल तमोमय हो गया।' और न निम्न शैली की उर्दू चाहते हैं– चूँकि दावा–ए–मुद्दई बिल्कुल बईद अज़ अक्ल व गुज़िश्ता–अज–हद्दे समआत व खिलाफ़ अज कानून–ए–मुरव्विजा–ए– सरकार है।' हम विशुद्ध सरल भाषा चाहते हैं। जिसे जनता समझती है और बहुसंख्यक लोगों के लिपि में लिखी जाती है। विज्ञान की पुस्तकों में अवश्य हमें प्राविधिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है क्योंकि उनके लिए हमारी भाषा में

समानार्थक शब्द नहीं हैं। परंतु हम चाहते हैं कि बच्चों कि स्कूली पुस्तकों के लिए अदालती काग़जों में, समाचार–पत्रों में और सार्वजनिक भाषणों में सरल और सामान्य वार्तालाप की भाषा का प्रयोग हो; उसे ही सच्चे और सही अर्थ में मातृभाषा कह सकते हैं।''[19]

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने एक ओर हिन्दी–उर्दू में कोई भेद नहीं माना लेकिन आगे अपने भेजे गये उत्तर में लिखा था कि ''उर्दू नर्तकियों तथा वेश्याओं की भाषा है। जब धनी हिन्दुओं के भ्रष्ट लड़के और लंपट चरित्र के संपन्न युवक कुख्यात स्त्रियों, रखैलों, तथा दल्लालों की संगत में पड़ जाते हैं तो उर्दू बोलने लगते हैं, और उनका शीन, गैन और काफ दुरुस्त हो जाता है।''[20] यहाँ भाषा के स्तर पर उनमें काफ़ी अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देता है। यह उनका मुसलमानों के प्रति व्याप्त पूर्वाग्रह हो सकता है।

रमेश कुंतलमेघ ने राजा साहब का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि ''हिन्दी गद्य के महान प्रचारकों में तीन का नाम नहीं भुलाया जा सकता– 1. बनारस के राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द 2. पंजाब के नवीनचंद्र राय एवं बिहार के 3. भूवदेव मुखर्जी।''[21]

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के बाद हिन्दी के प्रारंभिक उन्नायकों में राजा लक्ष्मण सिंह का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। ये दोनों एक समय, एक आन्दोलन और एक ही सरकार के छत्रछाया में रहते हुए भी विचारों में एक दूसरे के प्रबल विरोधी थे। इनका विरोध पद और प्रतिष्ठा को लेकर नहीं अपितु भाषा को लेकर था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द जहाँ उर्दू, फारसी, और अंग्रेजी के शब्दों को सहजता से स्वीकार कर लेते थे वहीं राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृत के अलावा किसी अन्य भाषा के शब्द का प्रयोग के सक्त विरोधी थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा मानते थे लेकिन केवल लिपि के आधार पर दो मानते थे, वहीं राजा लक्ष्मण सिंह हर तरह से दोनों को अलग–अलग भाषा मानते थे। राजा शिवप्रसाद ऐसी भाषा को उत्तम मानते थे जिसमें अपनी बात कोई भी सामान्य तरीके से कह सके। राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी में सहजता पर न ध्यान देकर संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग उत्तम माना। राजा लक्ष्मण सिंह का यह हिन्दी समर्थक आन्दोलन पूर्णतः हिन्दूवादी मानसिकता से प्रेरित दिखाई देता है। राजा शिवप्रसाद की भाषा शैली में जहाँ बहुरूपता दिखाई देती है वहीं राजा लक्ष्मण सिंह में एक रूपता दिखाई देती है। इसके अलावा भाषा को लेकर वे दोनों अनेक स्तरों पर भिन्न–भिन्न दिखाई देते हैं।

शिवप्रसाद सितारेहिन्द भाषागत इतना प्रयोग करने के बावजूद इस हकीकत से वकिफ थे कि अनावश्यक शुद्धता का आग्रह किसी भी भाषा के मृत्यु का पर्याय बन सकती है। इस संदर्भ में राजा साहब ने 'भाषा के इतिहास' में लिखा है कि ''साबित है कि यहाँ (भारत) के भूमि एवं इस मुल्क के हर हिस्से के जुदा–जुदा किस्म की बोलियाँ बोलते थे। इससे यह मतलब नहीं कि हर कदर कदम–व–कदम हटते हुए दक्खन को चले गए खोह अगम्य जंगल पहाड़ों के पनाहगीर हुए''[22] राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भाषा के केंद्र में जनसामान्य रखा और राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी को हिन्दू और उर्दू को मुसलमान जाति विशेष से जोड़कर देखा। आगे धीरे–धीरे यह भाषा विवाद जातिगत रूप में उभरकर सामने आया। ''हिंदी की रक्षा के लिए उन्हें उर्दू के पक्षपातियों से उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को विद्या की उन्नति के लिये लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित की। संवत् 1923 के उसके एक अधिवेशन में किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान देकर उर्दू को देश में प्रचलित होने के योग्य कहा उस की बैठक में नवीनबाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का खंडन करते हुए कहा–उर्दू प्रचलित होने से देशवासियों का कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों के व्यर्थ बहुत से अरबी फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छंदोबद्ध रचना के लिए भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिन्दुओं का यह कर्तव्य है कि अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।''[23] राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी और उर्दू को दो न्यारी बोलियाँ मानते थे। उर्दू को न स्वीकार करने का सबसे बड़ा कारण था उसको विदेशी भाषा मानना। इस तर्क के पीछे उनकी संस्कृत के प्रति अन्धभक्ति दिखाई देती है। उन्होंने रघुवंश की भूमिका में लिखा है कि ''हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमान और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फारसी के, परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय; और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं। जिसमें अरबी, फारसी के शब्द भरे हो।''[24]

राजा लक्ष्मण सिंह जिस संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहे थे वह केवल साहित्य के लिए उत्तम हो सकती थी, भूगोल, कला और विज्ञान के लिए नहीं। राजा शिवप्रसाद की भाषा इन दोनों दृष्टियों से उपयोगी थी। जहाँ राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा अल्पायु अर्थात मृत्यु का प्रतीक है वहीं राजा शिवप्रसाद की भाषा प्रगतिशीलता का प्रतीक है। इन दोनों हिन्दी के अग्रदूतों की भाषा का प्रभाव हिन्दी के परवर्ती रचनाकारों– भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बाल कृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, किशोरीलाल गोस्वामी आदि पर आसानी से देखा जा सकता है। अगर देखा जाए तो राजा लक्ष्मण सिंह जिस भाषा को आदर्श भाषा के रूप में स्थापित करना चाहते थे उसका विकास नहीं हो सका। इसका सबसे बड़ा कारण था भाषा की ग्रह्यता पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध लगा देना। विश्व की कोई भी भाषा जब तक उसमें ग्रहण करने की क्षमता नहीं रहेगी वह आदर्श भाषा के रूप में कभी स्थापित नहीं हो सकती एक निश्चित समय के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की भाषा में ग्रह्य क्षमता होने के कारण बाद के दिनों में भी आदर्श भाषा के रूप में स्थापित हुई। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इसमें अन्धा धुन्ध संस्कृत और फारसी के शब्दों के प्रयोग का विरोध किया। वह जानते थे कि अनावश्यक शब्दों के ठूँसने से भाषा का रूप विकृत तो हो जाएगा साथ ही यह भाषा जन सामान्य से भी कट जाएगी। हिन्दी के क्षेत्र में उनके इस योगदान को उन्नीसवीं सदी के लगभग सभी रचनाकारों ने अस्वीकार तो कर ही दिया था, बीसवीं सदी के रचनाकारों ने उनके साथ लगभग सौतेला व्यवहार ही किया। हिन्दी साहित्य में इतने बड़े योगदान के बाद भी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की उपेक्षा करने का प्रमुख कारण था उनका अंग्रेजी राज भक्ति और उर्दू और हिन्दी दोनों को एक ही भाषा स्वीकार करना। मूल्यांकन करते समय साहित्येहासकार अपने इन पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं हुए। अगर राजा लक्ष्मण सिंह का व्यक्तिगत जीवन देखा जाए तो ये भी भारतीयों के बहुत बड़े हितैषी नहीं थे। दोनों अंग्रेजों के कृपा पात्र थे। फिर राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के साथ ऐसा होने का सबसे बड़ा कारण था उनकी भाषा नीति, जो उनके समकालीन और परावर्ती रचनाकारों को पसंद नहीं आई। भारतेंदुयुगीन प्रमुख साहित्यकारों– प्रतापनारायण मिश्र, बाल कृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, किशोरीलाल गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, लाला श्रीनिवासदास और गौरीदत्त

का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन रचनाकारों की भाषा के संबंध में अपनी अलग–अलग समझ थी। इनमें अधिकांश वे हैं जो भारतेंदु मण्डल के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी ने राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सिंह को अपना आदर्श माना। इनकी भाषा नीति इन्हीं के की परंपरा को आगे बढ़ाने का काम कर रही थी। अगर भाषा के संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट की बात की जाए तो बालकृष्ण भट्ट का दृष्टिकोण राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के लगभग समकक्ष दिखाई देता हैं। बालकृष्ण भट्ट ने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की ही तरह भाषा को जन सामान्य से जोड़कर देखा। इन्होंने राजा साहब की हिन्दी और उर्दू को एक भाषा माना। इस संबंध में लिखा है कि ''बहुत लोगों का मत है कि हम लिखने–पढ़ने की भाषा से यावनिक शब्दों को बीन–बीनकर अलग करते रहें। कलकत्ता और मुम्बई के कुछ पत्र ऐसा करने का यत्न भी कर रहे हैं किन्तु ऐसा करने से हमारी हिन्दी बढ़ेगी नहीं वरन् दिन–दिन संकुचित होती जाएगी। भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलाते जाएँ और उसे अपना करते जाएँ। अरबी, फारसी कौन कहे, अब तो अंगरेजी के अनेक शब्द हमारी हिन्दी के एक अंग होते जा रहे हैं, जैसे लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन, फैशन, जज, टिकट आदि। ये सब शब्द अपने शुद्ध रूप से बिगड़ अपभ्रंश हो हमारे हो गये हैं।''[25] बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी और उर्दू को भले ही एक ही भाषा स्वीकार की पर लिपि के रूप में नागरी का ही समर्थन किया हैं। इस संदर्भ में इन्होंने लिखा है कि ''गद्य चाहे जैसी भाषा का देवनागरी अक्षर में लिखा हो मैं सबको हिन्दी ही समझूँगा। हमारी हिन्दी गद्य भाषा जहाँ तक और जैसे बढ़े सब हमें स्वीकृत है।''[26] बालकृष्ण भट्ट ने भाषा को कहीं धर्म से जोड़कर नहीं देखा न ही अरबी–फारसी और अंग्रेजी के शब्दों के प्रयोग से परहेज किया। अरबी फारसी के शब्दों को बीन–बीन कर निकाले जाने की कटु आलोचना की। उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक तक हिन्दी–उर्दू विवाद साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया था। आठवें दशक तक इसका पूरा रूप ही बदल गया। इस अस्त–व्यस्त माहौल में बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी उर्दू की एकता पर बल दिया। उस समय तक विवाद इतना बढ़ चुका था कि दोनों पक्ष के समर्थक एक–दूसरे की आलोचना करते नहीं थकते थे। इस संदर्भ बालमुकुन्द गुप्त का कहना है कि ''ऊपर से देखिए तो उर्दू और हिन्दी में इस समय बड़ी अनबन है। उर्दू

के तरफदार हिन्दी वालों को और हिन्दी के पक्ष वाले उर्दू वालों को कुछ–कुछ टेढ़ी दृष्टि से देखते हैं, पर वास्तव में उर्दू हिन्दी का बड़ा बल है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं। केवल फारसी जामा पहनाने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिन्दी।''[27] बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी और उर्दू को एक भाषा तो माना ही साथ में ग्रामीण क्षेत्रों में लायी जाने वाली भाषा को नागरी का अंग माना। उनका मानना था कि आज जिस भाषा को असभ्य कहकर टाल दिया जाता है उससे सभ्य कही जाने वाली भाषा के रूप का निर्माण हुआ है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि ''उर्दू भी अरबी–फारसी मिश्रित हिन्दी है। जो भाषा हिन्दुस्तान के नगर, ग्राम तथा सर्वसाधारण में बोली जाए वह सिवाय हिन्दी के अलावा दूसरी भाषा हो ही नहीं सकती। जैसे इंग्लैण्ड में जो भाषा बोली जाय वह इंगलिश, फ्रांस में जो काम में आवे वह फ्रेंच, वैसे ही हिन्दुस्तान में हिन्दी''[28]

बालकृष्ण भट्ट जी का मानना था कि भाषा की उन्नति तभी हो सकती है जब वह जन सामान्य के समझ में आए। फारसी लिपि को कार्यालयों में रखे जाने के विरोध का यही कारण था। फ़ारसी लिपि बहुसंख्यक वर्ग को समझ में नहीं आने के कारण कार्यालयों में आम जनता को दरख्वास देने के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती थी। कभी–कभी तो ऐसा भी होता था कि दरख्वासों में कुछ और लिखकर कुछ और बताया जाता था, जिससे एक बड़ा वर्ग हमेशा शोषित होता आ रहा था। इस समस्या की ओर इशारा करते हुए अपने निबन्ध 'हिन्दी के दिन भी बहुरेंगे' में व्यंग्यात्मक रूप में लिखा है कि ''हिन्दी का अक्षर अदालतों में जारी होने से बड़ा कल्याण तो यह दिख पड़ता है कि ललाट लिपि से विधिना के अक्षर के समान शिकस्ता उर्दू अदलातों से उठा दी जाए तो अमलों के चंगुल से प्रजा का जी छुटै और गवर्नमेंट के शुद्ध न्याय में बट्टा ना लगे। कई बार की आँख की देखी बात है कि दिहातों में एक साधारण सम्मान के आने पर भी लोगों में तहलका फैल जाता है लोग घर–घर उसे पढ़ाते फिरते हैं और बहुधा मतलब साफ नहीं होता' और 'हिन्दी हिन्दी हिन्दी! नागरी !!' निबन्ध(1880) में उन्होंने लिखा ''आप लोग तो केवल इतनी बात चाहते हैं कि प्रजा के नाम जो कागज सरकार से निकले वह नागरी अक्षर में हो और हार–जीत की

डिग्री वा फैसला जो कुछ हो सो ऐसे अक्षरों में लिखा जाए जिसे आप घर बैठे पढ़ लिया करें, मुंशी वा मौलवी ढूँढ़ने की जरूरत है''[29] बालकृष्ण भट्ट जहाँ भाषा के विकास में जनसामान्य की भूमिका को देख रहे थे। वहीं बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' नागरी की तरफ सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैये से उदासीनता भी थे। उनका मानना था कि उच्चवर्ग जब तक इसके समर्थन में सामने नहीं आएगा तब तक इसको सरकार स्वीकार नहीं कर सकती। ये वे लोग थे जो हिन्दी को निचले तबके की भाषा मानते थे अर्थात् इसको पिछड़ेपन की निशानी मानते थे जैसे की भारत में आज अंग्रेजी बोलने–पढ़ने वाले लोगों को विद्वान समझा जाता है, उसी प्रकार फारसी पढ़ने या व्यवहार में लाने वालों को समझा जाता था। इस वर्ग पर व्यंग करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि ''कहिए तो आपने किस राजा महाराजा के दरबार में कभी कोई हिन्दी समाचार–पत्र या मासिक पत्र पढ़ा, सुना व देखा जाते देखा है? किस राजकर्मचारी के मेज पर रक्खा भी लिखा है और किस ग्रेजुएट के चश्मे के तले उसे पढ़ा जाता जाते पाया है। कदाचित् आप अवश्य अवश्य ही कहेंगे कि, नहीं नहीं वा, कदाचित।''[30] उन्नीसवीं सदी में धार्मिक रूढ़ियाँ ही स्वस्थ समाज के विकास में बाधक नहीं बन रही थीं अपितु भाषागत रूढ़ियाँ इन्हीं से जुड़कर कहीं–कहीं बाधा उत्पन्न कर रही थीं। विदेशी भाषाओं की उपेक्षा से साहित्यिक ग्रंथों की कमी भले ही महसूस न की जाए पर वैज्ञानिक ग्रंथों का प्रायः अभाव ही दिखाई देता है। इस संदर्भ में बदरीनाराण प्रेमघन ने लिखा है कि ''ग्रंथ भी बहुत प्रकाशित होते हैं तौ भी लोग यही कहते हैं कि हमारी भाषा में अच्छे ग्रंथ नहीं हैं, अच्छे लेखक नहीं हैं। क्या यह वास्तव में सच है तो इसका क्या कारण है ? हम यह कहेंगे की हमारी भाषा की यह दशा हो गयी है कि जब तक कोई संस्कृत, ब्रजभाषा, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी भी न जाने वह अच्छा लेखक नहीं हो सकता . . . अंग्रेजी अब सबसे अधिक आवश्यक हो गयी है जिसके बिना वर्तमान समय में कुछ कार्य ही नहीं चल सकता। इसी से उन लोगों के पीछे के जो लोग हुए उनमें से जितनी ही अधिक भाषाओं के ज्ञाता थे वैसी अच्छी भाषा लिख सके।''[31]

प्रतापनारायण मिश्र ने नागरी के प्रचार के लिए 'ब्राबण' नामक मासिक पत्र निकाला। जिसके प्रथम अंक की प्रस्तावना में लिखा है कि–''हम गुणी हैं वा औगुणी यह तो आप

लोग कुछ दिन में आप ही जान लेंगे, क्योंकि हमारी आपकी आज पहिली भेंट है। पर यह तो जान रखिए कि भारतवासियों के लिए क्या लौकिक क्या पारलौकिक मार्ग में एक मात्र अगुआ हम और हमारे थोड़े से हिन्दी समाचार पत्र भाई ही बन सकते हैं। हम क्यों आए हैं ? यह न पूछिए। कानपुर इतना बड़ा नगर ! सहस्रों मनुष्यों की बस्ती ! पर नागरी पत्र, जो हिन्दी–रसिकों का एक मात्र मन बहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक और सभ्यता दर्शक अच्युच्च ध्वज यहाँ एक भी नहीं। भला यह हमसे कब देखी जाती है ? हम तो बहुत शीघ्र आप लोगों की सेवा में आते और अपना कर्तव्य पूरा करते परंतु अभी अल्पसामर्थी अल्पवयसक हैं, इसलिए महीने में एक ही बार आ सकते हैं।''[32] 1882 में हंटर कमीशन द्वारा हिन्दी की उपेक्षा किए जाने पर हिन्दी प्रेमियों को गहरा असंतोष हुआ। प्रतापनारायण मिश्र ने ब्राह्मण में 15 जनवरी 1884 को लिखा कि ''मनुष्य को हतोत्साह तो कभी न होना चाहिए। शिक्षा कमीशन ने देवनागरी का तिस्कार कर दिया, कुछ परवाह . . . दे मेमोरियल, दे लेख पर लेख, दे चंदा पर चंदा, देखें सर्कार कहाँ तक न सुनेगी और सर्कार न भी सुने, जब देश हितैषी महाशय सेतुआ बाँध के पीछे पड़ जाएँगें, नगर–2 जन–जन में नागरी देवी का यश फैला देंगे, आप ही स्वदेश भाषा की उन्नति होगी, आप ही उर्दू बीबी के नखड़े सबको तुच्छ जँचने लगेंगे।''[33] प्रतापनारायण मिश्र नागरी के प्रचार–प्रसार के लिए आजीवन प्रयासरत रहे। उन्होंने 18 अप्रैल 1884 को अपने लेख 'हिम्मत रखो, एक दिन नागरी का प्रचार होगा ही' में लिखा है कि ''हमारे देश भक्तों को श्रम, साहस और विश्वास चाहिए, हम निश्चय पूर्वक कहते हैं कि हमारे आर्य भाई अधीर न होंगे तो वह दिन अवश्य होगा कि एक दिन भारतवर्ष भर में नागरी देवी अखंड राज्य करेंगी उर्दू देवी अपने सगों के घर में बैठी कोदों दरेंगी। लोग कहते हैं, कि सर्कार नहीं सुनती। हमारी समझ में तो सर्कार सुनेगी और चार धान नाचेगी कोई कट्टर सुननेवाला हो, यदि मनसा, वाचा, कर्मणा दो सौ मनुष्य भी यह संकल्प कर लें कि देवनागरी वा प्रचार ये सर्वस्व स्वाहा करिये' तो देखें सरकार कैसे नहीं सुनती और सर्कार न सुने तो कोई और सुनेगा। कोई न सुने अवश्यमेव सुनेगा।''[34] प्रतापनारायण मिश्र ने बनारस से निकलने वाले 'भारत जीवन' पत्र में 28 अप्रैल 1884 को प्रकाशित कविता 'चाहे गाना समझो या रोना' में हण्टर कमीशन के नागरी विरोधी रवैये का विरोध करते हुए लिखा है कि

''हक में हिन्दी के नहीं कमीशन देते राय
छूटे हैं खरगोश पर कुत्ते शिकारी हाय–हाय
वक्ते काफ़िर नागरी भी छानती है या खुदा
थी बुज़ुर्गों की यही एक यादेगारी हाय–हाय।''[35]

प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'अब तो बातों का काम नहीं है' नामक लेख में शासन की हिन्दी के संदर्भ में क्या राय है इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ''हिन्दी अक्षर सब अक्षरों से सहज और शुद्ध है। हिन्दी ही भाषा सब भाषाओं से उत्तम है। विशेषतः हिन्दुओं का सच्चा गौरव, सच्चा लौकिक पारलौकिक सुख सौभाग्य इसी पर निर्भर है। इन बातों को हम और हमारे सहयोगीगण एक बार नहीं सौ बार सिद्ध कर चुके हैं इससे बार 2 लिखना पढ़ना व्यर्थ है।. . . अभी तक एक आशा थी कि आज नहीं तो दश वर्ष में तुम्हें बोध होगा, तब हमारी नागरी देवी की महिमा जानोगे और इसके लिए तन मन धन निछावर करने में अपनी प्रतिष्ठा समझोगे। किंतु अब हमारी आशा के गले पर छुरी रख दी गई है।''[36] प्रतापनारायण मिश्र ने नागरी को हिन्दू जाति विशेष के दायरे से निकालकर देखने का प्रयास नहीं किया, इसे हमेशा हिन्दुओं के अस्तित्व से ही जोड़कर देखा है।

हिन्दी उर्दू विवाद समय के साथ अपना अलग रूप धारण कर लिया। अब यह भाषा या लिपि के प्रश्न तक सीमित नहीं रहा अपितु ''यह दो सम्प्रदायों, दो भाषियों के जातिय गौरव का रूप ले चुका था। यह दो समाजों के मध्य ऐतिहासिक परम्परा, राजनैतिक महत्व और सांस्कृतिक श्रेष्ठता का महत्व तो था ही, रोजी रोटी का बुनियादी सवाल भी इससे जुड़ा हुआ था। यह विवाद अपर इंडिया में ही मुख्य रूप से केन्द्रित रहा, लेकिन इसका प्रभाव किसी–न–किसी रूप में पूरे भारत पर पड़ा था। जब तक हिन्दी के समर्थकों ने उर्दू के प्रभुत्व के विरूद्ध आवाज नहीं उठाई, इस विवाद का क्षेत्र केवल भाषा शात्रियों तक सीमित रहा, लेकिन हिन्दी पत्रकारिता ने इसे प्रशासन, न्याय शिक्षा और प्रशासनिक व अन्य राजकीय सेवाओं से जोड़ दिया था।''[37] प्रारंभ में उर्दू किसी धर्म या सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी, यह व्यापार की भाषा थी, जिसे मुसलमानों ने साहित्यिक भाषा

के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह राजवाड़ों से जुड़े उच्चवर्गीय हिन्दुओं की भी भाषा बन गयी।

अंग्रेजों ने हिन्दी–उर्दू विवाद को कुछ कट्टर पंथी हिन्दू–मुसलमान नेताओं के सहयोग से धर्म, संस्कृति और इतिहास से जोड़कर आपसी वैमनस्य का जामा पहना दिया। इन्होंने भाषा और लिपि के इस झगड़े को साम्प्रदायिक रूप प्रदान करने में कोई कसर नहीं छोड़ा। वे राजनीतिक तौर पर कभी नहीं चाहते थें कि हिन्दू–मुस्लिम एकता कायम रहे। अतः इस विवाद को जितना हो सका जैसे भी हो सका बढ़ाने का भरसक प्रयास किया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 1857 की क्रांति को देख सकते हैं। जिसके फलस्वरूप 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना और 1947 में भारत–पाकिस्तान विभाजन जैसी त्रासदी दोनों को झेलनी पड़ी। सर सैयदअहमद खाँ जो यह कहते नहीं थकते थे कि ''हिन्दुस्तान उस दुल्हन की तरह है जिसकी दो चमकीली आंखें हैं–हिन्दू और मुसलमान हैं।''[38] वहीं आगे चलकर फारसी लिपि को केवल मुसलमानों से जोड़ते हुए कहते है कि ''फारसी में लिखी हुई उर्दू मुसलमानों की निशानी है।''[39] शुरूआती दौर में अंग्रेज जब भारत आए उस समय मुगल शासन के राजकाज की भाषा फारसी थी फिर भी आम जनता का ध्यान रखकर फारसी में की गयी कार्यवाही का अनुवाद हिन्दुस्तानी में करने की सुविधा उपलब्ध थी। जॉन गिलक्राइस्ट ने विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण किया और जिस हिन्दुस्तानी का समर्थन किया वह उस समय के उच्चवर्गीय मुसलमानों और हिन्दुओं की भाषा थी। जो जन सामान्य के लिए वैसे ही विदेशी थी जैसे कि अंग्रेजी। इस भाषा को वही लोग समझते थें जो प्रशासनिक कार्यों में कार्यरत थे ''हिन्दी उर्दू के विवाद को गिलक्राइस्ट से लेकर मोनियार, फैलन, बीम्स, और ग्राउज़ जैसे भाषा शास्त्रियों ने शास्त्री आधार प्रदान किया था। लेकिन इसमें उग्रता नवजागरण काल के हिन्दू पुनरूत्थान से ही आई थी। 19वीं शताब्दी में भारतीय भाषाओं का जो साहित्यिक विकास हुआ था और गद्य की विधा को भाषा की संमृद्धि के लिए आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया था, उसके कारण सभी भारतीय भाषाओं में प्रशासन, न्याय, शिक्षा, साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्रों में सामर्थ्य और क्षमता थी वृद्धि हुई थी। अब इन भाषाओं के समर्थक यह माँग करने लगे थे कि उपयुक्त क्षेत्रों में इन भाषाओं क्या प्रयोग किया जाए। उत्तर भारत हिमालय से लेकर विंध्याचल और सतलज से

लेकर गंगा, सोन तक का क्षेत्र हिन्दी उर्दू का क्षेत्र था। दोनों भाषाओं के समर्थक इस क्षेत्र में अपने प्रतिद्वंद्वी दावे प्रस्तुत कर रहे थें। हिन्दी समर्थक यह कहते थें कि हिन्दी न केवल उत्तर भारत की जन भाषा है, बल्कि पूरे भारत की सम्पर्क भाषा है। देश की चौथाई आबादी इसका प्रयोग करती है और शेष में से लगभग आधे इसे थोड़ा बहुत समझते हैं। हिन्दी की प्राचीनता, उसकी साहित्यिक संमृद्धि और व्यापकता की दुहाई देकर हिन्दी समर्थक उसे राजकाज, न्याय व शिक्षा की भाषा बनाना चाहते थे, परंतु इस उद्देश्य में सबसे बड़ा अवरोध सरकार द्वारा उर्दू को प्रोत्साहन व प्रश्रय प्रदान किया जाना था।''[40]

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में पंडित गौरीदत्त ने जो महत्वपूर्ण योगदान दिया उससे इनकी ध्येय निष्ठता और कार्य कुशलता का परिचय मिलता है। जब पंडित गौरीदत्त मेरठ में मिशन स्कूल के अध्यापक थे तब महर्षि दयानन्द मेरठ आए थें। स्वामीजी ने अपने भाषणों में एकाधिक बार इस बात के लिए बहुत खेद व्यक्त किया था कि हमारे देशवासी हिन्दी और देवनागरी को त्यागकर उर्दू, फार्सी और अंग्रेजी के दास होते जा रहे हैं। दयानन्द सरस्वती के भाषणों से गौरीदत्त ने देवनागरी का प्रचार प्रसार करने का संकल्प लिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने तत्कालीन भाषणों में राष्ट्रीयता का प्रचार भी किया करते थे, अतः अंग्रेज सरकार इनको राजद्रोही मानती थी। जब मिशन स्कूल के अधिकारियों को यह पता चला कि गौरीदत्त स्वामी जी के भाषणों को ध्यान से सुनते हैं और उनके प्रति आदर प्रकट करते हैं उनके विचारों की सराहना करते हैं। अंग्रेज अधिकारियों ने इस पर नाराजगी प्रकट की पंडित गौरीदत्त ने इस व्यवहार को देखकर मिशन स्कूल से त्याग पत्र दे दिया। इसके दूसरे दिन मेरठ के बैद बाड़ा नामक एक चबूतरे पर देवनागरी की पाठशाला स्थापित कर दी। यही पाठशााला बाद में देवनागरी कॉलेज के रूप में स्थापित हो गया।

पंडित गौरीदत्त लोगों को नागरी लिपि सिखाने के अलावा गली–गली में घूम–घूमकर उर्दू फरसी और अंग्रेजी की जगह हिन्दी और देवनागरी लिपि को पढ़ने की प्रेरणा दिया करते थे। कुछ दिन बाद इन्होंने मेरठ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की और सन् 1894 में उनकी ओर से सरकार को एक ज्ञापन दिया गया कि ''अदालतों में

नागरी लिपि को स्थान दिया जाना चाहिए। इन्होंने देवनागरी की उपयोगिता और विशेषता को बताते हुए ज्ञापन में लिखा था कि 'देवनागरी इतनी सरल एवं वैज्ञानिक लिपि है कि उसके 9 अक्षर और 12 मात्राएँ केवल 3 दिन में आसानी से सीखे जा सकते हैं। तथा 6 महीने में तो उसका पूरा अभ्यास किया जा सकता है। अन्य किसी भी लिपि में जैसा लिखा जाता है वैसा उच्चारण नहीं होता, जबकि देवनागरी लिपि में जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है। पढ़ने और लिखने में कुछ भी अन्तर नहीं रहता।''[39] इसी ज्ञापन के अन्त में पंडित गौरीदत्त ने लिखा था कि ''उर्दू और फ़ारसी के शब्दों को यदि नागरी लिपि में लिखना शुरू कर दिया जाए तो बहुत सरल हो जायेंगे।''[42]

पंडित गौरीदत्त नागरी–प्रचार के लिए तन–मन से जीवन भर लगे रहे। इन्होंने नागरी के प्रचार के लिए कई ऐसे खेल या गोरख धंधे बनाए जिन्हें देखते ही आदमी की रूचि उसमें पैदा हो जाए और उसे नागरी के अक्षरों का ज्ञान हो जाए। इन्होंने हिन्दी भाषा का एक कोश भी तैयार किया था। पंडित जी नागरी और हिन्दी के इतने बड़े चाहने वाले बन गए थे कि अपने अंगरखे पर देवी देवताओं के नाम की जगह 'जय नागरी' शब्द अंकित कर लिया था तथा लोगों से प्रणाम और राम राम की जगह परस्पर अभिवादन के समय जय नागरी कहा करते थे। देवनागरी के प्रचार के लिए पं0 गौरीदत्त ने एक गीत भी बनाया था जो इस प्रकार था –

''भजु गोविन्द हरे हरे
भाई भजु गोविन्द हरे हरे
देवनागरी हित कुछ धन दो,
दूध न देगा धरे धरे।''[43]

नागरी के प्रचार के प्रति इतना समर्पित थे कि सन् 1903 को जो उन्होंने अपना वसीयतनामा लिखा था उसमें अपनी पूरी संपत्ति नागरी के प्रचार के लिए दान कर दिया था। उनकी इच्छा थी कि उनके इस पैसों से देवनागरी की पाठशालाएँ खोली जाएँ। इन्होंने

अपनी जिंदगी भर के खून–पसीने की कमाई 32 हजार रूपये की राशि दे दी। जब बनारस में 'नागरी प्रचारिणी' संस्थान (16 जुलाई 1893) की स्थापना हुई इसमें समुचित दान दिया।

पं0 गौरीदत्त ने देवनागरी के प्रचार के लिए जहाँ स्थान–स्थान पर अनेक स्कूलों की स्थापना की वहीं अपनी लेखनी को भी इस दिशा में लगाया। इन्होंने 'नागरी–सौ अक्षर अक्षर दीपिका, नागरी की गुप्त वार्ता, लिपि बोधिनी, देव–नागरी के भजन और 'गौरी नागरी कोश' आदि पुस्तकों की रचना की । पं0 गौरीदत्त ने 'देवनागरी की पुकार' नामक एक पुस्तक की रचना करने के अतिरिक्त इन्होंने देवनागर, देवनागरी, प्रचारक, देवनागरी गजट तथा नागरी पत्रिका नामक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन भी किया। इस कार्य के लिए ये अपने क्षेत्र के मेलों, खेलों में जाया करते थे और वहाँ नाटक प्रदर्शित करके और भाषण आदि देकर जनता को देवनागरी के महत्व से परिचित कराते थे। 'नागरी और उर्दू का स्वांग' नामक नाटक में नागरी और उर्दू के विवाद को दिखाते हुए उन्होंने उर्दू पर नागरी की विजय दिखाया है। इसमें उर्दू की बुराई करते हुए लिखा है कि

"देखो अब शहर शहर इश्क के बाजे
उर्दू ने फॉस लिए यहां के राजे।।
भोगे सब भोग ऐश चैन उड़ावें
विद्या और गुण के नाम आग लगावे।।"[44]

पंडित गौरीदत्त के इन कार्यों को देखकर लोग उनको 'देवनागरी प्रचारानन्द' और 'हिन्दी प्रचार का सुकरात' भी कहते थें। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा (आर्य भाषा पुस्तकालय) की स्थापना के पूर्व 1892 में 'देवनागरी प्रचारक' नामक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन करके उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य किया।

बाबू राधाकृष्णदास, ने बाबू श्यामसुन्दरादस के साथ मिलकर पुरानी पाण्डुलिपियों की खोज करके उनको पुनः प्रकाशित करवाया। इनके इस काम में बहुबल्लभ चटर्जी विशेष रूप से मदद की। इसी वज़ह से 'एसियाटिक सोसाइटी' से जुड़े रहे। इन्होंने इस संदर्भ में

गवर्मेंट से बात की पर कुछ निष्कर्ष नहीं निकला। 1900 में संयुक्त प्रांत(उत्तर प्रदेश) की सरकार ने हिन्दी पुस्तकों की खोज का काम सभा को सौंप दिया। पुस्तकों की खोज के बाद इस बात पर ध्यान दिया गया कि इनपर सिर्फ संक्षिप्त टिप्पणी लिखे जाने से कुछ लाभ नहीं होगा। जब तक उसमें से अच्छे–अच्छे ग्रंथों को प्रकाशित न कराया जाये। इसके लिए 'नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला' की स्थापना की गई। इसके संपादन का भार बाबू राधाकृष्णदास को सौंपा गया। इस कार्य में बाबू श्यामसुन्दर, पंडित माधव प्रसाद सप्रे, पंडित रामराव चिंचोलकर, पंडित विश्वनाथ शर्मा, और बाबू माधव प्रसाद ने सभा को सुदृढ़ करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उस समय नागरी प्रचार के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को देखकर सभा ने नागरी प्रचार की एक कमेटी बनाई जिसका सभासद बाबू राधाकृष्णदास को नियुक्त किया गया। बाबू राधाकृष्णदास ने सभा के लिए अनेक सराहनीय कार्य किये। शुरूआती दौर में सभा का निजी भवन नहीं था, इस कारण से सभा के होने वाले अधिवेशन हरिश्चंद्र विद्यालय में हुआ करते थे। ज्यादा भीड़ होने के कारण लोगों को दिक्कत होती थी। सभा के पास इतना पैसा नहीं था कि और एक सभा भवन बनवा सके। इस कार्य को करने के लिए कुछ हिन्दी प्रेमी आगे आए। बाबू राधाकृष्णदास ने इसका प्रारूप तैयार किया। 14 दिसम्बर 1902 को डेपुटेशन बनारस के राजा के पास भेजा गया। 21 फरवरी को इसकी नींव डाली गयी। इसका ठेका बाबू राधाकृष्णदास को दिया गया। अनेक आर्थिक कठिनाईयाँ होने पर भी सभा भवन बनकर तैयार हो गया। 18 फरवरी 1904 ई0 प्रांतीय लाट सर लाटूश ने इस भवन का उद्घाटन किया। इस कार्य को सम्पन्न कराने में हर तरह से सहयोग करने वालों में बाबू श्यामसुन्दरदास, पंडित मदनमोहन मालवीय, महामहोउपध्याय, रायशिवप्रसाद,बाबू इन्द्रनारायणसिंह, मुंशी गंगा प्रसाद, बाबू रामप्रसाद चौधरी और बाबू सॉवल सिंह आदि का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इसके अलावा इन्होंने 'मुशलमानी दफ्तरों में हिन्दी' नामक लेख में हिन्दी का काम–काज के रूप में आदिकाल से प्रचलित होने का प्रमाण देते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि अंग्रेजी राज में यह व्यवस्था नहीं है और इसे न होने के पीछे मूल कारण क्या है, इन्होंने एक जगह लिखा है कि ''जान पड़ता है कि उस समय के अंगरेज लोग भारतर्ष की बातों से वैसे परिचित नहीं होते थे जैसे कि मुसल्मान थे, इसीलिए अदालत के अमलों ने अपना

मतलब साधने के लिए हिन्दी अनुवाद उठा दिया और उस समय के हकीमों ने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया,।''[45] नागरी के समर्थन में राधाकृष्णदास ने अनेक लेख, निबन्धों एवं नाटकों की रचना की। सन् 1902 में राधाकृष्णदास द्वारा लिखित सचित्र एकांकी प्रकाशित हुई जिसमें नागरी को पूर्ण रूप से पुरातन और उर्दू को उसकी बेटी के रूप मे चित्रित्र किया गया है। उदाहणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है–

''उर्दू– अरी क्यों री चुड़ैल ! तू मर कर भी नहीं मरती ?

हिन्दी– बेटी ! तू जुग जुग जी, मुझे क्यों मारे डाले है ? मैंने तेरी क्या विगाडा है ?

उर्दू– तेरे आछते मुझे जो राजगद्दी नहीं मिलती।

हिन्दी– ठीक है बेटी ! कलजुग न है। तुझे इसी दिन के लिए बड़े साध से जनमाया था ! अच्छा तेरे जी में जो आवै सो कह; पर मेरी तो माता की आत्मा ठहरी; मैं तो आसीस ही दूँगी।''[46]

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की शुरूआत नागरी आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। इसकी अभिव्यक्ति प्रारंभिक उपन्यासों 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षक' में देखी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में नागरी शिक्षा का प्रचलन अंग्रेज़ी, फ़ारसी, और उर्दू पढ़े उच्च मध्यवर्ग में अधिक था। यह वर्ग अपने घरों में अपनी स्त्रियों को नागरी की शिक्षा दे रहा था ताकि स्त्रियों को गृहस्थ की शिक्षा मिल सके। दस्तावेज़ के रूप में हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों को देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि, सं. लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ0 188
2. हिन्दी भाषा विकास और स्वरूप, पृ0 106–107
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ0 240
4. शिवप्रसाद सितारेहिन्द, वीरभारत तलवार, पृ0 58–59
5. राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी गद्य के विकास में अवदान, रमेशचंद्र सिन्हा, पृ0 62
6. स्वतंत्रता–पूर्व हिन्दी गद्य, रामगोपाल, पृ0 101
7. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संख्या 8, फरवरी 1913
8. शिवप्रसाद सितारेहिन्द, वीरभारत तलवार, पृ0 52
9. सरस्वती भाग 1, संख्या 4, अप्रैल 1900, पृ0 112
10. राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी गद्य के विकास में अवदान, रमेशचंद्र सिन्हा, पृ0 145
11. हिन्दी प्रदीप, बालकृष्ण भट्‌ट, 1879
12. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ0 99
13. हिन्दी पत्रिका, जनवरी.सितम्बर 1944, पृ0 30–31
14. सरस्वती अप्रैल 1900, भाग–9, संख्या 4, पृ0 117
15. राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्द का हिन्दी गद्य के विकास में योगदान, पृ0 11
16. सरस्वती, अप्रैल 1900, भाग–9, संख्या 4, पृ0 113–114
17. स्वतंत्रता–पूर्व हिन्दी गद्य, रामगोपाल, पृ0 97
18. वही, पृ0 98–99
19. वही, पृ0 102
20. वही, पृ0 100
21. सम्मेलन पत्रिका, डॉ0 रमेश कुंतलमेघ, भाग–46, संख्या 4, शक 1882, पृ0 1–2
22. शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी गद्य के विकास में अवदान, रमेशचंद्र सिन्हा, पृ0 185

23. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ0 242–243
24. सरस्वती, अगस्त 1900, भाग–1, संख्या 8, पृ0 239
25. राष्ट्रीय पत्रकार और अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, सं. पद्माकर पाण्डेय, पृ0 124
26. हिन्दी प्रदीप, बालकृष्ण भट्ट, जुलाई 1888, पृ0 4
27. गुप्त निबन्धावली भाग–1, सं. बनारसीदास चतुर्वेदी/झाबरमल शर्मा, पृ0 55
28. राष्ट्रीय पत्रकार और अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, सं. पद्माकर पाण्डेय, पृ0 124
29. वही, पृ0 132
30. वही, पृ0 122
31. वही, पृ0 119
32. हिन्दी साहित्य के निर्माता, प्रतापनारायण मिश्र, रामचंद्र तिवारी, पृ0 31–32
33. ब्राह्मण, 15 फरवरी सन् 1884, पृ0 3
34. ब्राह्मण, 15 अप्रैल सन् 1884, पृ0 14
35. भारत जीवन, 21 अप्रैल, 1884, पृ0 6
36. प्रतापनारायण ग्रंथावली, विजयशंकर मल्ल, पृ0 246–247
37. हिन्दी का नवजागरण काल एवं भाषा विवाद, श्रीश जैसवाल, पृ0 113
38. 1857 हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, सं. शंभुनाथ, पृ0 138
39. वही, पृ0 39
40. हिन्दी का नवजागरण काल एवं भाषा विवाद, श्रीश जैसवाल, पृ0 114–115
41. दिवंगत हिन्दी सेवी, क्षेमचन्द्र सुमन, पृ0189
42. वही, पृ0189
43. वही, पृ0190
44. नागरी और उर्दू का स्वांग अर्थात् नागरी और उर्दू का एक नाटक,पण्डित गौरीदत्त, पृ012
45. हिन्दी निबन्ध, सं. सुधाकर पाण्डेय नागरी प्रचारिणी काशी, पृ0 40
46. सरस्वती संख्या 11, भाग 3, नवम्बर 1902, पृ0 359

सन् 1857 की क्रांति और हिन्दी साहित्य

सन् 1857 की क्रांति भारतीय इतिहास में अपना अलग महत्व रखती है। इस क्रांति में केवल जनता के किसी विशेष वर्ग या समुदाय ने ही हिस्सा नहीं लिया था अपितु राजाओं, जमींदारों, सैनिकों, किसानों, मजदूरों, बुनकरों और आदिवासियों ने संयुक्त रूप से 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के शासन के विरूद्ध संघर्ष किया। इस विद्रोह के पीछे प्रमुख रूप से धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारण थे।

सन् 1857 की क्रांति के महत्वपूर्ण कारणों में राजनैतिक कारण प्रमुख था। इस क्रांति के मूल में डलहौजी की नीतियों को देख सकते हैं। डलहौजी की महात्वाकांक्षा ने ही भारतीय शासकों को आगे चलकर विद्रोह करने पर मजबूर किया। उसने हड़प नीति के तहत भारतीय राजाओं के साथ हुई संधियों को अनदेखा कर देशीय(भारतीय) रियासतों को अपने(ब्रिटिश) साम्राज्य में मिलाने लगा। सतारा(1840), जैतपुर(1844), संभलपुर(1849), वाघट(1850), उदयपुर(1852), और नागपुर(1854) आदि राज्यों को कंपनी के अधीन कर लिया। उसका यह हस्तक्षेप भारतीय राजाओं के लिए अपमान की बात थी, जिसके फलस्वरूप भारतीय राजाओं में इस दासता से मुक्ति के लिए बेचैनी पैदा होने लगी।

'सतारा' के महाराज की मृत्यु के बाद वहाँ की महारानी ने एक बच्चे को गोद लिया, इसको अंग्रेजों ने अस्वीकार कर दिया और सन् 1826 में हुई संधि की अवहेलना करते हुए सतारा को अपने अधिकार में ले लिया। सतारा की महारानी ने महारानी विक्टोरिया को इस अन्याय के संबंध में पत्र (1874) भी लिखा लेकिन इस पत्र पर कोई कार्यवाही नहीं हुई। इसी तरह नागपुर के राजा की मृत्यु के बाद वहाँ की महारानी के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया गया जैसा कि सतारा की महारानी के साथ। अंग्रेजों ने नागपुर के महल को लूटकर खंडहर बना दिया और वहाँ से लूटे गये हीरे, जवाहरात, सोना, चांदी कपड़े, हाथी, घोड़े, ऊँटों और बैलों को बाजारों में नीलाम कर दिया गया। सन् 1853 में झाँसी के राजा गंगाधर के मृत्यु के बाद 1817 ई0 में कंपनी और रामचंद्रराव के बीच हुई उस संधि को भंग कर

दिया जिसमें कहा गया था कि 'झाँसी के समस्त राज्य सदा के लिए राजा रामचंद्रराव के उत्तराधिकारियों और वंशजों के शासन को पैतृक रूप से रहने दिया जायेगा।' कंपनी के अधिकारियों ने इसकी अवहेलना करते हुए 3 मार्च 1856 ई0 में झाँसी को अपने अधिकार में ले लिया। इसी तरह अंग्रेजों ने अवध के नबाब वाजिद अली शाह पर कुशासन का आरोप लगाकर अवध को अपने अधीन कर लिया और उसको गिरफ्तार करके कलकत्ता भेज दिया। अवध पर कंपनी के शासन के उपरान्त वहाँ अंग्रेजों द्वारा लूट–पाट के साथ–साथ वहाँ की स्त्रियों को अपमानित भी किया गया। उस समय अवध के अधीन जितने जमींदार और ताल्लुकेदार थे लगभग सभी की पैतृक जमींदारियाँ छीन ली गयी। अवध के साथ सन् 1801 और 1837 में हुई संधि की कोई परवाह नहीं की गयी, न ही वाजिद अली के साथ किसी प्रकार की हमदर्दी दिखाई गयी। अंग्रेजों ने अपनी कमियों को छुपाने के लिए वाजिद अली शाह को भरसक बदनाम करने का प्रयास किया। बाद के दिनों में लगभग सभी भारतीय एवं विदेशी इतिहासकारों ने यही काम किया इसी समय ''भारत में सबसे छोटी जमींदारियों के लिए लार्ड डलहौजी ने 'इनाम कमीशन' नामक जाँच कमेटी कायम की। इस कमेटी ने भारत की 35 हजार जागीरों और इनामों की जाँच की और दस बरस के अन्दर उसमें से करीब 21 हजार को जब्त करके कंपनी के राज में मिला लिया''[1] जिनके अधिकार पत्र खो गये थे उनकी जागीरें छीन कर उनको अपनी परंपरागत जागीरों से वंचित कर दिया गया। 1852 में स्थापित इस 'इनाम कमीशन' का मुख्य उद्देश्य था कि भूमि रहित जागीरों का पता लगाकर उनको अपने अधिकार में लेना। इनकी इस योजना के कारण अनेक जमींदारों और ताल्लुकेदारों की दशा बदतर हो गयी। भारतीय जनता कंपनी के शासन से तो त्रस्त हो गयी थी। राजाओं को अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता होना स्वाभाविक था।

कंपनी ने भारतीय राजाओं को अपने अधीन करने से पहले उनकी सैन्य शक्ति को ध्वस्त(सैनिकों की संख्या कम करके उनको सुरक्षा की दृष्टि से पूर्णतः कंपनी के ऊपर आश्रित कर दिया।) किया। और इसके साथ ही देशीय राजाओं को दिए गए अधिकार और पेन्शन बंद कर दी गयी, और इनकी पदवी छीन ली गई।

भारत में चली आ रही धार्मिक मान्यताओं और परंपराओं के बीच में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से बहुसंख्यक जनता खुश नहीं थी। पाश्चात्य शिक्षा के साथ–साथ ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए सरकार द्वारा प्रोत्साहन दिया जा रहा था। इन मिशनरियों द्वारा अन्य धर्मों को मानने वालों को, ईसाई धर्म मानने के लिए मजबूर किया जा रहा था। अन्य धर्मों को मानने वाले अधिकारियों एवं सैनिकों की पदोन्नति उनकी योग्यता देखकर नहीं अपितु धर्म के आधार पर की जाने लगी। ईसाई मिशनरियों से जुड़े कुछ लोगों का मुख्य उद्देश्य ही ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार करना था। उनके ऊपर किसी प्रकार का सरकारी प्रतिबंध नहीं था। सन् 1813 ई0 के चार्टर एक्ट के तहत भारतीय शिक्षा में सुधार के लिए मनोनित की गयी एक लाख राशि का मूल उद्देश्य भारतीयों को शिक्षा देना नहीं था अपितु ईसाई धर्म का प्रचार करना था। भारतीय सैनिकों को दूसरे देशों में युद्ध के लिए भेजा जाता था, जो उनके धर्म के विरूद्ध था। ''धर्म और जाति भ्रष्ट होने को लेकर 1806 में बेल्लोर के सैनिकों ने विद्रोह कर अपनी आहत भावनाओं का परिचय पहले ही दे दिया था। सैनिकों में इतनी संवेदनशीलता थी कि 1824 में बैरकपुर छावनी के तीन टुकड़ियों ने समुद्र पार कर वर्मा के युद्ध में जाने से मना कर दिया और 'इसी बात को लेकर बैरकपुर छावनी के सैनिकों ने विद्रोह किया। जिसके दमन के दौरान दो सौ सैनिक मारे गये और बारह को फाँसी दे दी गयी। इसी दौरान रंगपुर(असम) में भी मोर्चे पर जाने को लेकर सैनिकों ने विद्रोह किया। बेलौर, बैरकपुर, और रंगपुर तीनों ही स्थानों पर सैनिकों ने जाति भ्रष्ट होने के प्रश्न पर विद्रोह किया था।''[2] इन अभियानों में जाने वाले सैनिकों को अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। ''सूबेदार सीताराम पांडे ने जाति से बहिकृत होने का दंश कुछ यूँ व्यक्त किया है : हमरे साथ अबहीं तक अछूतन वाला ब्यौहार होत रहा। हमसे खाली मुसलमान, ईसाई नगाड़ची औ बाजा बजाने वाले बतियात रहे। हमरे लगे इतना पईसा नहीं रहा कि हम ऊ दईकै अपने जात मा आ जाई।''[3] सेना में ज्यादातर सैनिक उच्च जातियों से ही थे, सरकार के इस रवैये से सैनिकों में भारी असंतोष फैल गया। कंपनी सरकार भी इन पर अतिरिक्त खर्च नहीं करना चाहती थी। जिसके फलस्वरूप जहाँ सन् 1815 ई0 में उच्च जाति के सैनिकों की संख्या अस्सी प्रतिशत थी, 1857 तक आते–आते लगभग आधी हो गयी। सरकार ने सन् 1834 ई0 में

सेना में उच्च जाति को अतिरिक्त दी जाने वाली बरीसता को समाप्त कर, सेना में कुछ जगह प्रतिबंधित नीची जातियों की भर्ती से रोक हटा दिया। भारतीय सैनिकों को विदेश भेजते समय अंग्रेज सैनिकों के समान अतिरिक्त राशि नहीं दी जाती, न ही उनके रहने और खाने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस संबंध में सैनिकों द्वारा शिकायत भी की गयी पर इसे अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अनदेखा कर दिया जाता था, जो 1857 ई0 के विद्रोह के प्रमुख कारणों में यह भी एक था। विद्रोह का दूसरा महत्वपूर्ण कारण उस समय में आयी नई तरह की कारतूस इस विद्रोह के प्रमुख कारणों में से एक था। इसका प्रयोग करने से पहले दाँतों से खीचना पड़ता था और इसे और आसान बनाने के लिए ग्रीस का प्रयोग किया जाता था। ग्रीस बनाने के लिए सुअर की चर्बी का प्रयोग किया जाता था, इसको बनाने के लिए बैरकपुर में एक कारखाना खोला गया था। किसी तरह यह बात सैनिकों को पता चल गयी और यह खबर पूरे हिन्दुस्तान में आग की तरह फैल गयी। हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों में यह निषिद्ध था। इस पर सरकार ने परदा डालने की कोशिश की पर सफल नहीं हो पायी। इस बात की पुष्टि 23 फरवरी 1857 को लंदन से प्रकाशित 'दि् टाइम्स' की रिर्पोट के आधार पर होती है जिसमें लिखा गया था कि ''नवी एनफील्ड राइफल के कारतूसों के एक सिरे पर ग्रीस का इस्तेमाल किया जाता है ताकि वे आसानी से बैरल में जा सकें। सरकार ने इसके लिए मटन का आदेश दिया था। लेकिन कुछ ठेकेदारों ने ज्यादा मुनाफे के लिए सुअरों और बछड़ों का इस्तेमाल किया। उल्लेखनीय यह है कि आपूर्ती एक बंगाली ब्राह्मण ठेकेदार द्वारा की जाती थी और उसके आदमियों द्वारा बाजार में उपलब्ध सस्ते माल की सप्लाई से इंकार नहीं किया जा सकता।''[4] इस बात को लेकर जब भारतीय सैनिकों ने विरोध किया तो उनको बरखास्त कर दिया गया। इससे सैनिकों में कंपनी सरकार के प्रति घृणा की भावना भर गयी।

अंग्रेजों द्वारा भारत में किए जा रहे सामाजिक सुधारों को बौद्धिक वर्ग पसंद कर रहा था लेकिन वहीं इनमें कुछ रुढ़िवादी लोगों ने इनका विरोध कर जनता को भड़काने का काम कर रहे थे। उनको अपनी चली आ रही व्यवस्था में हस्तक्षेप असहाय थी। अंग्रेजों ने सन् 1829 ई0 में 'सती–प्रथा' जैसी अमानवीय प्रथा पर रोक लगा दिया। बालविवाह की

निश्चित उम्र का निर्धारण कर दिया, तथा सन् 1856 ई0 में विधवा पुनर्विवाह को वैध घोषित कर उसे कानूनी तौर पर मान्यता प्रदान की, इसके साथ ही स्त्री–शिक्षा का समर्थन किया और कन्या वध पर रोक लगा दिया। यह सब रूढ़िवादियों के लिए खुली चुनौती थी। उन्हें अपने रीति–रिवाज, धर्म, रहन–सहन और संस्कृति में किसी तरह का हस्तक्षेप पसंद नहीं था। अंग्रेजों के हस्तक्षेप से भारतीय जनता नाराज हो गयी। पाश्चात्य शिक्षा के साथ–साथ ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म की अपेक्षा अन्य धर्मों को नीचा दिखाना तथा लोगों को लालच देकर धर्म परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करने से ''हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समुदायों के मन में धार्मिक हस्तक्षेप की यह आशंका निर्मूल नहीं थी। कारण यह था कि 'इंडिया चार्टर' के लागू हो जाने के साथ–साथ ईसाई मिशनरियों को भी धर्म प्रचार की छूट मिल गई थी। . . . वे ईसाई धर्म का बखान करते हुए हिन्दू और इस्लाम धर्म को कमतर ठहराते और इनका उपहास भी करते थे। इन दिनों मिशनरी स्कूलों के साथ–साथ सरकारी स्कूलों में भी बाईबिल का पाठ किया जाने लगा था। जेलों में कैदियों को सामान्य शिक्षा ईसाई मत की शिक्षा दी जानी थी । . . . मिशनरियों की इन गतिविधियों से हिन्दू और मुसलमानों में यह धाराणा घर कर गयी कि यह सब कंपनी सरकार की मिली भगत और इसके इसारे पर हो रहा है।''[5] यह बात साफ तौर पर दिखाई दे रही थी।

सन् 1857 की क्रांति का सबसे बड़ा कारण था भारतीय शासकों और उनके अधिकारियों को पदच्युत करना तथा उनकों दी जाने वाली पेंशन को बंद कर देना। नाना साहब ने अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे व्यवहार के बारे में 28 अप्रैल 1858 ई0 को नेपोलियन बोनपार्ट को लिखे पत्र में कहा था कि ''ऐसे अदालतों की स्थापना करना जिससे सम्पत्तिशाली लोग मुकदमें के खर्चे से बर्बाद हो जाए और ऐसे कानून लागू किए जाएँ, जो उनकी पवित्र मान्यताओं और धार्मिक भावनाओं के विरूद्ध हैं। मंदिर मस्जिद का ध्वस्तीकरण, सती और विरासत संबंधी हिन्दू प्रथा में हस्तक्षेप . . . हिन्दुस्तानियों के धार्मिक रीति–रीवाजों को भ्रष्ट करने की योजना अंग्रेज सरकार के अन्याय और फरेब के कारनामें सूरज की रोशनी की तरह फैले हैं।''[6] कंपनी की उपेक्षा भाव से तंग आकर सैनिकों ने विद्रोह के लिए गुप्त बैठक करना शुरू कर दिया, इसके लिए 31 मई की तिथि तय की

गयी। इसका जगह–जगह प्रचार किया जा रहा था कि इसी बीच 29 मई को मंगल पाण्डेय नामक सैनिक ने विद्रोह कर दिया, और उसने ह्यून और लेप्टिनेन बाघा का बध कर दिया। मंगल पाण्डेय को पकड़ लिया गया और 8 अप्रैल को फाँसी देने की तारीख मुकर्रर की गयी। इसे फाँसी देने के लिए बैरकपुर का कोई भी मेहतर तैयार नहीं हुआ तो सरकार को मजबूर होकर कलकत्ता से मेहतर बुलाना पड़ा। इसके बाद कुछ भारतीय पलटनों से हथियार रखवा लिए गए और कुछ को गुप्त बैठक करने के अपराध में फाँसी दे दी गई। इन कृत्यों को देखकर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही में असुरक्षा और आत्मसम्मान खो देने की भावना ने उनकों विद्रोही बना दिया।

कंपनी की सत्ता स्थापित होने के बाद उसके मालिकों ने सबसे पहले भारत की शिक्षा व्यवस्था को ध्वस्त किया। सन् 1792 ई0 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में विलवरफोर्स एवं उनके सहयोगियों द्वारा भारतीयों को शिक्षा देने के समर्थन में प्रस्ताव रखा गया, कंपनी के सहयोगियों ने इसे ठुकरा दिया। इस संबंध में मार्शमैंन ने लिखा है कि उस अवसर पर कंपनी के एक डायरेक्टर ने कहा कि ''हम लोग अपनी इसी मूर्खता से अमेरिका को हाथ से धो बैठे हैं, क्योंकि हमने उस देश में स्कूल और कालेज कायम हो जाने दिए, अब फिर भारत में उसी मूर्खता को दोहराना ठीक नहीं हैं इसके बीस साल बाद तक यानि, सन् 1813 तक भारतवासियों को शिक्षा देने के विरूद्ध ये ही भाव इंगलिस्तान के शासकों के दिलों में बने रहें।''[7] इस बात से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि वे भारतीयों को किस रूप मे देखना चाहते थे। बाद में अगर भारतीयों को शिक्षा देने के लिए आगे आए तो उसका सबसे बड़ा कारण शासन को सुचारू रूप से न चलाने में आने वाली दिक्कतें। इनकी इस शिक्षा का मूल उद्देश्य क्लर्क तक ही सीमित था। इसी तरह अंग्रेजों ने भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया और अपने ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित कर दिया। भारतीयों द्वारा तैयार माल पर आवश्यकता से अधिक कर लगा दिया गया तथा इनके द्वारा बनाई सभी वस्तुओं पर अधिक मात्रा में कर लगाकर इसके विदेश निर्यात पर रोक लगा दी गई। अंग्रेज भारत से कच्चे माल अपने यहाँ ले जाते और वहाँ इससे तैयार माल को अन्य देशों तथा भारत में भी पुनः निर्यात करते। उनकों एक ऐसे बाजार की आवश्यकता थी जहाँ से

अधिक से अधिक लाभ कमाया जा सके। मशीनों से बने कम मूल्य के माल के कारण यहाँ के हाथ से बने कपड़ों की माँग घटने लगी। इसके फलस्वरूप अधिकांश उद्योग धन्धे बंद हो गये और उनसे जुड़े लोगों की दशा दयनीय हो गयी। इस संबंध में रामविलास शर्मा ने लिखा है कि –''अपने माल की ब्रिकी के लिए भारत के बाजार को इस्तेमाल करने में अंग्रेजों ने केवल आर्थिक साधनों से काम न लिया। आर्थिक साधन गौण थे, मुख्य साधन राजनीतिक और सैनिक थे। अंग्रेज यहाँ क्रमशः अपना राज्य विस्तार कर रहे थे। जब वे राजनीतिक रूप से मजबूत हो गये, तब उन्होंने अपने देश में भारतीय माल की बिक्री पर रोक लगाई और भारत में अपने माल की ब्रिक्री को छूट दी। राज्य शक्ति के बिना अपने मशीनी उत्पादन के बावजूद अंग्रेज खुली होड़ में भारतीय बाजार पर हावी न हो सकते थे। राज्य शक्ति के सहारे उन्होंने यहाँ के व्यापरियों को खुली होड़ से बाहर कर दिया और यहाँ के उद्योग धंधों को तबाह करने में सफल हुए। विश्व बाजार में परिवर्तन न हुआ, भारत इंग्लैंड को कच्चा माल भेजे और वहाँ का पक्का माल खरीदे, यह उलट फेर सैनिक शक्ति के बल पर हुआ।''[8] किसानों के माल का मनमाने ढंग से मूल्य निर्धारण करना तथा उसे खरीदना और जबरदस्ती नील, अफीम, चाय, मसाले कपास आदि की खेती करने के लिए मजबूर किया जाने लगा। किसानों और व्यापारियों पर पहले से ही कर लगाया था लेकिन जंगलों पर कर लगा देने से आदिवासी आश्रय हीन हो गये। शोषण से त्रस्त जनता ने अनेक बार अपना विरोध जाहिर किया जिनमें से– फरैजी का विद्रोह, वाहबी का विद्रोह, तूती मीर का विद्रोह संथालों का विद्रोह आदि प्रमुख हैं।

सन् 1857 ई0 के विद्रोह की शुरूआत 6 मई मेरठ से उस समय हुई जब 90 सैनिकों को कारतूस इस्तेमाल करने के लिए दिया गया, जिसमें से 85 सैनिकों ने इसका इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। इन सैनिकों में से अधिकतर का कोर्ट मार्शल हुआ और कुछ सैनिकों को पाँच से दस वर्ष की सजा दी गयी। इस घटना से हिन्दुस्तानी सैनिक भड़क उठे और इसका परिणाम यह हुआ कि एक मई का इंतजार नहीं कर सके। दस मई को ही विद्रोह कर अपने सभी सैनिकों को आजाद करा लिया। दस मई को ही विद्रोही सैनिकों ने मेरठ पर कब्जा कर लिया और 11 मई को दिल्ली को जीतकर बहादुरशाह को अपना नेता

नियुक्त कर हरे झण्डे को अपना प्रतीक बनाया। पहले तो बहादुरशाह अग्रेजों के प्रति वफादार थे लेकिन विद्रोही सैनिकों के तेवर को देखकर उनका नेता बनने से इनकार नहीं कर पाये। यह युद्ध 10 मई से लेकर 16 मई तक चला। 16 मई को दिल्ली को कंपनी के शासन से मुक्त करा लिया गया। इस युद्ध में विद्रोहियों को किसानों, साहूकारों, जमींदारों और सामान्य जनता ने विशेष रूप से सहयोग प्रदान किया। विद्रोहियों ने कुछ जगहों पर अंग्रेजों के बीबी–बच्चों का कत्लेआम किया। बहादुरशाह के महल में छिपे लगभग पचास अंग्रेजों को विद्रोहियों ने बहादुरशाह के सामने ही मौत के घाट उतार दिया, काफी प्रर्थना करने पर भी उनकी किसी ने एक न सुनी। इस पूरे अभियान में बहादुरशाह एक मोहरा मात्र ही थे।

अंग्रेजों द्वारा आरोप लगाया गया कि विद्रोहियों ने स्त्रियों और बच्चों के साथ दुर्व्यवहार किया। परंतु इस मामले की जाँच कर रहे खुफिया पुलिस अफसर अनरेबुल ने अपनी जाँच रिर्पोट में लिखा है कि ''चाहे और कितना अत्याचार और रक्तपात क्यों न हुआ हो, जो किस्से अंग्रेज स्त्रियों के बेइज्जती के फैलाए गए हैं, वह सब जहाँ तक मैंने देखा, जाँच किया कि बिलकुल निराधार थे।''[9] दिल्ली में क्रांतिकारियों की इस सफलता की खबर पूरे उत्तर भारत में फैल गयी। इस अवसर को देखकर भारतीय राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता के लिए विद्रोह करना शुरू कर दिया। 20 मई 1857 को अलीगढ़, 22 मई को मैंनपुरी, 1 जून बदायूँ, और 3 जून को आजमगढ़ आदि के अलावा अनेक छोटी बड़ी रियासतों ने भी विद्रोह कर दिया। 4 जून को जब बनारस में सैनिकों ने विद्रोह किया तो सिख सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ दिया। सिख सैनिकों द्वारा इस युद्ध में मदद न मिलने के कारण विद्रोह काफी हद तक असफल रहा। इलाहाबाद में लगभग वही स्थिति हुई, विद्रोहियों ने कोतवाली जेल पर अधिकार प्राप्त कर कैदियों को आजाद करा लिया, लेकिन किले पर अधिकार जमा नहीं सके । जनता ने प्रशासन के विरोध में जगह–जगह जूलूस निकाला, इस संबंध में सर जॉन ने लिखा है कि ''न केवल गंगा के पार इलाकों में ही, बल्कि गंगा और जमुना के इलाके के बीच में देहाती जनता बिगड़ खड़ी हुई . . . शीघ्र ही हिन्दू या मुसलमान एक भी मनुष्य न बचा जो शीघ्र विरूद्ध न हो गया हो।''[10] इलाहाबाद की जनता,

क्रांतिकारियों एवं जमींदारों ने मिलकर लियाकत अली को अपना सुबेदार नियुक्त किया। जिसके नेतृत्व में इलाहाबाद का युद्ध लड़ा गया परंतु सिख सैनिकों के असहयोग के कारण इलहाबाद पर पूर्ण अधिकार नहीं हो सका और अन्त में लियाकत अली को इलाहाबाद छोड़कर कहीं और शरण लेनी पड़ी। सिख सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर दिया था।

चौबीस जून को कानपुर में उस समय विद्रोह हुआ जिस समय अंग्रेज वहाँ से बिल्कुल निश्चिंत थे। अंग्रेज सेनापति ह्वीलर ने नाना साहब को खजाने की रक्षा के लिए बुलाया और अपने सारे हथियार उनकी देख–रेख में दे दिया। 4 जून 1857 को कानपुर छावनी में सैनिकों ने अचानक विद्रोह कर दिया तथा अनेक अंग्रेजी ठिकानों को नष्ट कर दिया। 6 जून को ह्वीलर को किला छोड़कर जाने के लिए कहा गया पर कुछ उत्तर नहीं मिला, 21 दिन तक गोलाबारी चलती रही, जिसके कारण किले में अधिक संख्या में लोग मारे गये और लाशों के सड़ने से अनेक बीमारियाँ फैलने लगीं, जिससे त्रस्त होकर ह्वीलर ने संधि कर ली। 17 जुलाई को अंग्रेज सेनापति हैवलाक ने कानपुर पर आक्रमण कर पुनः कंपनी के शासन के अधीन कर लिया। नाना साहब को विवश होकर नेपाल की तरफ भागना पड़ा।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों द्वारा किये गए व्यवहार से तंग आकर बदले की भावना से प्रेरित होकर 7 जून को विद्रोह कर दिया। इस युद्ध में रानी का साथ तात्या टोपे ने दिया। अंग्रेज सेनापति ह्यूरोज ने झाँसी पर आक्रमण कर किले को अपने अधिकार में ले लिया। इसमें रानी की मृत्यु हो गयी और तांत्या टोपे भागने में सफल रहें पर बाद में उनको पुनः पकड़ कर फाँसी दे दी गयी। अंग्रेजों ने रानी लक्ष्मी बाई के चरित्र को लेकर काफी गलत अफवाहें फैलायी, जैसा कि कई भारतीय राजाओं के साथ करते आ रहे थे। झाँसी के बाद लखनऊ मुख्य केन्द्र था यहाँ पर विद्रोहियों का नेतृत्व बेगम हजरत महल ने किया। विद्रोहियों ने कमिश्नर हेनरी लारेंस के साथ–साथ कई अंग्रेज अधिकारियों को मार डाला। ‘‘27 जून 1858 को भारत सरकार की फोर्सिज की रिर्पोट में यह आश्चर्य जनक आंकड़े दर्शाये गये हैं कि अवध में आम लोगों के घरों से 29941 भाले, 42729932 तलवारें

129414 बन्दूकें तथा 6418 धनुष–बाण बरामद किये गये, यह इंगित करता है कि इस संग्राम में ग्रामीण भी शिरकत कर रहे थे। 1857 की हिन्दू–मुस्लिम एकता ने अंग्रेज शासकों को न केवल विस्मित किया वरन उन्हें गहरी निराशा में भी डूबो दिया। आज सैकड़ों प्रमाण–दस्तावेजों की शक्ल में उपलब्ध हैं जिसमें बताया गया है कि 1857 के पूर्व हिन्दुओं के प्रति ब्रिटिश उदारता की नीति मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के शत्रुतापूर्ण संबंध की मान्यता पर आधारित थी। लेकिन 1857 ने उनके इस साम्प्रदायिक विमर्श को तार–तार कर दिया।''[11] शुरूआती दौर में तो विद्रोहियों को तो सफलता मिली पर अन्ततः अंग्रेजों का पुनः अधिकार हो गया।

अठारह सौ सत्तावन की क्रांति को कुचलने के लिए अंग्रेजों ने अस्त्र–शस्त्र के साथ–साथ छल–बल का भी सहारा लिया। लार्ड कैनिन ने दिल्ली पर अधिकार करने के लिए जॉनसन के नेतृत्व में एक सेना दिल्ली भेजी। जिसने ब्रिगेडियर विलयन के साथ मिलकर लड़ने का फैसला किया। प्रारंभ में विद्रोहियों के हौसले बुलंद थे जिससे अंग्रेजी सेना को शुरूआती दौर में कोई सफलता हाथ नहीं लगी लेकिन धीरे–धीरे विद्रोहियों की शक्ति क्षीड़ होती गयी। जिससे अन्ततः विद्रोहियों को हार का सामना करना पड़ा। दिल्ली पर अधिकार हो जाने के बाद अंग्रेजी सेना ने ऐसी लूट–मार का आलम कायम किया कि सब जगह लाशें ही लाशें नजर आने लगीं। दोषियों एवं निर्दोषियों के साथ एक सा व्यवहार किया गया। जवान, बूढ़े, औरत और बच्चों किसी के साथ हमदर्दी नहीं दिखाई गयी। बच्चों को इसलिए गोली मार दी गयी क्योंकि वे जूलूस के साथ चल रहे थे। इनसे जो बचे उन्होंने भूख और प्यास से दम तोड़ना पाड़ा। अंग्रेजों की अमानवीयता की हद इस कदर बढ़ गयी थी कि गाँव के गाँव घेरकर आग लगा देते थे और अगर जो भागने की कोशिश करता तो उसे गोली मार देते। बहादुरशाह के दो बेटों मिरजा मुगल और मिरजा अखज़र सुलतान का उसके सामने ही कत्ल कर दिया गया। अंग्रेजों ने इस विद्रोह का दमन करने के लिए सर्वप्रथम हिन्दू और मुसलमानों में मतभेद पैदा करना उपयुक्त समझा और इसके लिए उन मुद्दों को उठाया जिससे की दोनों के बीच आपसी वैमनस्य हो जाए। इन मुद्दों में प्रमुख रूप से औरंगजेब की नीति और गुरू तेगबहादुर के साथ मुसलमान शासकों द्वारा

किया गया व्यवहार और धार्मिक पतन आदि मुद्दों को लेकर इस खाई को और बढ़ाने का प्रयास किया। यही प्रमुख कारण था कि सिख सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ दिया।

अंग्रेजों ने अपने दोष दुनिया के सामने छुपाने के लिए भारतीयों को जंगली और असामाजिक बताने का भरसक प्रयास किया। इन लगाए गये आरोपों को बेबुनियाद बताते हुए ब्रिटिश पार्लियामेंट के मेंबर, मिस्टर लेर्या ने अपने देश जाने के बाद अपने व्याख्यान में कहा कि ''अत्यंत सावधानी के साथ जाँच करने के बाद, अच्छे से अच्छे और सबसे अधिक विश्वसनीय लोगों से मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों के ऊपर किए गए, वे सब के सब आरोप प्रायः बिना एक भी अपवाद के झूठे हैं और कहने वालों के अपने मन से गढ़े हुए हैं, जिसके लिए उन्हें लज्जा आनी चाहिए।''[12] अंग्रेजों ने जिस क्रूरता के साथ इस क्रांति का दमन किया वह कुछ सहृदय अंग्रेजों के लिए भी असहनीय था। एक पादरी की विधवा ने लिखा है कि– ''मुसलमानों को मारने से पहले उन्हें सुअर की खाल में सी दिया जाता था, उन पर सुअर की चर्बी मल दी जाती थी और फिर उनके शरीर जला दिये जाते थे, और हिन्दुओं को जबरदस्ती धर्म भ्रष्ट किया जाता था।''[13] इसके अलावा भी मंदिरों और मस्जिदों में गाय और सुअर के मांस पकाए गये। उस समय हिन्दुस्तनियों को मात्र एक जानवर के शिवा कुछ भी नहीं समझा गया। इन्हें यातना देकर मारना अंग्रेजों का आनन्द का विषय बन गया था। दिल्ली के अलावा कानपुर, फतेहपुर, बनारस, लखनऊ, आजमगढ़ आदि जितने भी क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने पुनः सत्ता स्थापित की, वहाँ के लोगों के साथ कमोबेश दिल्ली जैसा व्यवहार किया।

अठारह सौ सत्तावन की क्रांति को किसी ने किसानों का विद्रोह, तो किसी ने सैनिक विद्रोह, तो किसी ने धार्मिक कट्टरवाद से प्रेरित विद्रोह माना और किसी ने स्वतंत्रता से प्रेरित भारतीय राजाओं का विद्रोह माना। इन स्थापनाओं पर गौर करने के बाद हम इसको किसी एक नाम से अभिहित नहीं कर सकते। किसी एक नाम से अभिहित करना एक पक्षीय बयान बाजी के अलावा कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्रांति सभी क्षेत्रों में अग्रेजों द्वारा किये गए अन्याय के विरोध में हुई थी। इसके पहले भी इनके शोषण के विरोध में कई विद्रोह हुए थे पर इतने व्यापक तौर पर कभी नहीं लड़ा गया कि जिसमें देश के प्रत्येक वर्ग

(राजा, जमींदार, किसान, मजदूर, बुनकर, व्यापारी और आदिवासी) की जनता ने एक साथ लड़ा हो। 1857 के विद्रोह के प्रमुख कारणों धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक और संस्कृतिक पहलुओं को समग्र रूप से समझे बिना इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

अठारह सौ सत्तावन की क्रांति असफलता का कोई एक कारण नहीं था, इसके पीछे कई कारण थे जो निम्न प्रकार से हैं–

1–विद्रोह की तिथि 31 मई नियत की गयी थी परंतु अपनी नियत की अवधी के पहले 10 मई को ही हो गया, जिसके कारण क्रांतिकारियों की तैयारियाँ पूर्ण नहीं हो पायी थी। अगर 31 मई 1857 को पूर्व–निश्चय के अनुसार युद्ध लड़ा गया होता तो भारत से अंग्रेजों के पाँव उखड़ गए होते।

2–क्रांतिकारियों का नेतृत्व करने के लिए योग्य, शक्तिशाली और प्रभावशाली नेताओं का प्रायः अभाव था, जो उनको सही निर्देश दे सकें। सभी अपने–अपने मर्जी के मालिक थे जिससे निश्चित लक्ष्य का कुछ क्रांतिकारियों को पता ही नहीं चल सका और वे अन्धकार में ही पड़े लड़ते रहे।

3–क्रांतिकारियों के पास युद्ध के लिए पर्याप्त धन और आधुनिक हथियारों का आभाव था, जिसके कारण अंग्रेजों के नए और आधुनिक तौर के हथियारों के सामने उनकी पुरानी तकनीक और हथियार टिक नहीं सके।

4–इस विद्रोह में जनता की सक्रिय भागीदारी का अभाव था, कुछ स्थानों को छोड़कर अन्य स्थानों पर जनता ने हिस्सा नहीं लिया। इसका सबसे बड़ा कारण था उनका भारतीय राजाओं से विश्वास उठ जाना। जनता अपने आपको बिल्कुल असुरक्षित महसूस कर रही थी ''अधिकतर रियासतों में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था, सारी सत्ता राजाओं या उनके एजेंटों के हाथ में ही केंद्रित थी। ब्रिटिश इंडिया की तुलना में इन रियासतों में भूमिकर(लगान) की दरें काफी ऊँची थीं। कानून सम्मत शासन और अधिकारों की बात तो दूर थी, ये राजा महाराजा अपनी विलासिता के लिए राजकोष का मनमाना

इस्तेमाल कर सकते थे . . .। लेकिन अधिसंख्य रियासतें सामाजिक–आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षिणिक रूप से पिछड़ी हुई थी।''[14]

5– जितने भी राजा लड़ रहे थे उसमें से अधिकांशतः अपने–अपने स्वार्थ को लेकर लड़ रहे थे। इसमें उनका निजी स्वार्थ नहीं होता तो शायद उनकी इस विद्रोह में भागीदारी न होती। इस कारण से जनता ने भी उनकी विशेष सहायता की। झाँसी, नागपुर, लखनऊ, दिल्ली सभी के सभी राजा अपने–अपने स्वार्थ को लेकर विद्रोहियों से जा मिले थे।

भारतीय राजाओं में मतभेद भी इस असफलता का मुख्य कारण था ''यद्यपि विद्रोहियों को जनसाधारण की सहानुभूति मिल रही थी , लेकिन पूरा देश उनके साथ नहीं था। व्यापारी, पढ़े–लिखे लोग और भारतीय शासक न केवल उनसे असंपृक्त थे, बल्कि अंग्रेजों की सक्रिय मदद कर रहे थे। व्यापारियों और शिक्षित वर्ग ने कलकत्ता और बंबई में सभाएँ कर अंग्रेजों की सफलता के लिए प्रार्थना भी की। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश भारतीय शासकों ने अपने भविष्य की सुरक्षा अंग्रेजों के साथ देने में देखी और आदमियों तथा साज–समान से उनकी मदद भी की। यही मदद सिपाहियों को मिली होती तो किस्सा कुछ और ही होता।''[15]

इसके अतिरिक्त भी असफलता के अन्य प्रमुख कारण थे–विद्रोही सैनिकों में लक्ष्य का अभाव, जाति–पाति को लेकर आपसी मतभेद, धार्मिक असहिष्णुता, युद्ध में पुरानी पद्धति का प्रयोग, अवसर का लाभ उठा पाने में भारतीय क्रांतिकारियों की असमर्थता, अंग्रेजों को सिख सैनिकों की सहायता मिलना, दक्षिण भारत में इस विद्रोह को लेकर उदासीनता एवं कुछ भारतीय राजाओं का अंग्रेजों को सहायता प्रदान करना आदि प्रमुख कारण थे। इस ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''अब इसकी तुलना भारत से कीजिए। यहाँ सरदारों और सामन्तों का राज था। हमारे यहाँ के उद्योग पूँजीपतियों के पास न होकर, जाति–बिरादरियों के हाथ में थे। भारत उस जमाने में दुनिया का एक बहुत बड़ा उद्योग प्रधान देश था। किन्तु उद्योग चलाने वाले के पास अथावा व्यापारी वर्ग के पास राजनैतिक सत्ता न थी। वे दोनों वर्ग राजाओं, सरदारों–सामन्तों पर निर्भर थे। देश पिछड़ा हुआ

था–ज्ञान विज्ञान की दृष्टि से वह उसमें वह ज्ञानेक्षा नहीं रही थी, जो ब्रिटेन वैज्ञानिक अभ्युत्थान के रूप में प्रकट हो रही थी। देश में सड़के बहुत कम थीं। एक प्रदेश दूसरे प्रदेश से घनिष्ट संबंध नहीं रखता था। डाक व्यवस्था नहीं थी। यात्रा कष्टकर, असुरक्षित और खतरे से भरी हुई थीं। हम अपने–अपने प्रदेशों और प्रांतों में सिकुड़े–सिमटे रहते थे। इस प्रकार हममें क्षेत्रिय मनोवृति थी।''[16]

यह विद्रोह भले ही असफल रहा पर आने वाले समय में इसने भारतीय बुद्धिजीवियों एवं जनता को अपनी गुलामी का एहसास करा दिया, जिसके फलस्वरूप भारतीयों में स्वतंत्र होने की कुलबुलाहट शुरू हो गयी। बहादुरशाह का झण्डा पूरे भारत में नहीं फहरा सका इसका कारण ''पुराने पूँजीवाद ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में हिन्दुस्थान पर धावा बोला। उसने पुरानी समाज व्यवस्था पर चोटे की, और कभी–कभी तो जानबूझकर हानिकारक रीति–रीवाजों को बंद करने की कोशिश की। उसने भारतीय नरेशों से राज छीनकर अपने साम्राज्य में मिलाया । . . . उनका नेतृत्व 1857 में अपने चरम पर पहुँचा और तभी खतम भी हो गया। उसमें कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जो सताए हुए गरीब किसानों की तरफ से बगावत की आवाज बुलंद करती। इसलिए सन् सत्तावन के विद्रोह का असफल होना अवश्यंभावी था।''[17]

सन् 1857 की क्रांति का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

सन् 1857 के बाद भारत की बागडोर पूरी तरह महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गयी, इससे जनता अब दुहरे शासक की जनता हो गयी। महारानी विक्टोरिया की घोषणा में भारतीय जनता को इंग्लैंड की जनता के समान अधिकार देने की बात की गयी। इस घोषणा पत्र ने शुरुआती दौर में तो भारतीय जनता को काफ़ी राहत दी, परंतु कुछ समय बाद इससे उनका मोह भंग हो गया। अब भारतीय जनता दोहरे शासन के चक्र में पिसने लगी। सरकार द्वारा अनेक ऐसे कर लगाए गए जिसे जनता चुका पाने में असमर्थ थी। जिसके फलस्वरुप जनता की स्थिति दिनों–दिन दयनीय होती चली गयी और किसानों, जुलाहों, व्यपारियों और दस्तकारों ने तंग आकर आत्महत्या करनी प्रारंभ कर दी। 1857 के कृत्य से तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग पूरी तरह डर गया और नया रास्ता तलाशना शुरु कर दिया। इसकी अभिव्यक्ति तत्कालीन हिन्दी साहित्य में देखी जा सकती है। 1857 में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गय कृत्य की आलोचना करने का साहस तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग में नहीं दिखाई देता है। इसका कारण था 1857 की क्रांति को अंग्रेज़ सरकार द्वारा अमानवीय ढंग से कुचला जाना। इस क्रांति के दमन के दौरान शासन द्वारा अपने हितैषियों एवं विद्रोहियों के साथ एक सा व्यवहार किया गया। इस क्रांति का प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

ब्रिटिश साम्रज्य के तत्कालीन समाचार पत्रों का दबाव बढ़ गया। दुनिया के सामने इनके सभ्य होने की पोल खुलने लगी। यह उस उपनिवेशिक शासन व्यवस्था को कब तक स्वीकार होता ? जो अपने को दुनिया के सामने सभ्य होने का दावा कर रहा था। उदाहरण स्वरूप अफ्रीका और अमेरिका को देख सकते हैं। भारत में प्रेसों की स्थापना उन्नीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशक में तेजी से हुई, जिसमे 1858 के बाद तेजी से बढ़ोतरी हुई। इन प्रेसों ने ब्रिटिश शासन की पोल खोलनी शुरू कर दी। अंग्रेजों ने अपनी श्रेष्टता बचाए रखने के लिए उधर ध्यान दिया। शुरूआती दौर में जिन समाचार पत्रों ने महारानी के सम्मान में प्रशंसा–पत्र लिखे, अब वही समाचार पत्र विक्टोरिया शासन की असफलता को बड़े ही

व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करने लगे। इसका कारण था अनेक करों और प्रतिबंधों का लग जाना।

प्रेस पर इतना बड़ा प्रतिबंध लगाने का सबसे बड़ा कारण था भारतीय आम जनता का उनकी कूटनीतियों का पता लग जाना। 1850 के बाद गाँवों में पढ़ने–लिखने वालों की संख्या नाम मात्र थी, यही पढ़े–लिखे लोग समाचार पत्रों में छपने वाली खबरों को आम जनता तक पहुँचाने का काम कर रहे थे। इससे जनता में समाचार पत्रों में छपने वाली खबरों के प्रति उत्सुकता बढ़ने लगी। जिस बड़े जन–समूह में अभी तक अंग्रेजी राज के प्रति आस्था बची थी, वह धीरे–धीरे समाप्त होने लगी। इससे होने वाले किसी बड़े विद्रोह अथवा जन–आन्दोलन का खतरा भाँपते हुए लार्ड लिटन ने सन् 1878 में भारतीय समाचारपत्र अधिनियम (वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट) लागू कर समाचारपत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया। यह 'प्रेस एक्ट' भारतीय साहित्य और राजनीति के विकास के लिए गलाघोटूँ साबित हुआ। इस संबंध में विपिनचंद्रा ने लिखा है कि ''अखबारों का असर सिर्फ पढ़े–लिखे लोगों के बीच ही नहीं था और न ही वे शहरों और बड़े कस्बों तक सीमित थे, बल्कि इनकी पहुँच दूर दराज गाँवों तक थी। हालाँकि गाँवों में कोई इक्का–दुक्का शिक्षित व्यक्ति होता था, पर अखबार पढ़कर वह दसियों और लोगों से बात करता था। फिर धीरे–धीरे पूरे देश में पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना की लहर चल पड़ी। . . .इस तरह उस समय के अखबार लोगों को सिर्फ राजनीतिक रूप से शिक्षित नहीं कर रहे थे, बल्कि वह उन्हें सामूहिक भागीदारी भी सिखा रहे थे। अखबारों में छपी सामाग्री को लेकर होने वाली चर्चाएँ लोगों को सवालों और मुद्दों से जोड़ती थीं और उन्हें राजनीतिक भागीदारी का अहसास कराती थीं।''[18] इससे जनता अंग्रेजों को अपना दुश्मन समझने लगी। ''लेकिन अखबारों के लिए काम आसान नहीं था। वह अगर लोगों में राजनीतिक चेतना जगाने, राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार करने, औपनिवेशिक शासन के शोषण–चक्र को बेनकाब और उसके खिलाफ माहौल बनाने की कोशिश कर रहे थे, तो दूसरी तरफ सरकार के पास उन पर अंकुश लगाने की शक्ति थी। 1870 में ब्रिटिश सरकार में भारतीय दंड संहिता में धारा 124 ए को जोड़ा, जिसके तहत 'भारत में विधि द्वारा स्थापित ब्रिटिश सरकार के प्रति विरोध

की भावना भड़काने वाले व्यक्ति' को तीन साल की कैद से लेकर आजीवन देश निकाला तक की सजा दिए जाने का प्रावधान था। बाद में इस धारा में कई और कड़े प्रावधान जोड़े गए।''[19] उस समय निकल रहे समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर रोक लगाना यह साबित करता है कि अंग्रेज दुनिया की नजरों में अपने को योग्य प्रशासक बनाए रखना चाहते थे।

सन् 1857 की क्रांति को जिस अमानवीय ढंग से कुचला गया उससे तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग डर गया था। इसकी अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषाओं के रचनाकार साहित्य के माध्यम से ऐसा कोई आन्दोलन करते नहीं दिखाई देते, जो जनता को ब्रिटिश शासन की हकीकत से वाकिब करा सके। भारतीय साहित्य में अंग्रेजों के खिलाफ कोई आन्दोलन नहीं हो पाने का सबसे बड़ा कारण 'प्रेस एक्ट' था। इसके आतंक से उस समय लगभग सभी साहित्यिक त्रस्त थे। इस कानून के तहत सैकडों प्रेसों को बंद कर दिया गया। इससे साहित्यकार वर्ग पूरी तरह डर गया। 1857 की क्रांति या उसके बाद की घटनाओं की अभिव्यक्ति भले ही साहित्यिक रचनाओं में मिले लेकिन लोक साहित्य में आज भी जीवित है। लोक–साहित्य इसलिए बचा रहा क्योंकि उस समय लिखने की परंपरा नहीं रही।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग की शुरुआत सन् 1857 ई0 से मानी जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण 1857 की क्रांति है, जिसने न केवल राजनैतिक अपितु सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया। 1857 के पूर्व लिखे गये साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव देखने को नहीं मिलता है। लेकिन बाद की रचनाओं में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। 'वामा शिक्षक' में मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने इस क्रान्ति के बाद की स्थिति के बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मुगलानी नामक पात्र अपनी स्थिति के बारे में बताते हुए कहती है कि ''गदर के पीछे वागियों के मकानों के साथ मेरी दुकाने भी सरकार ने ज़ब्त कर ली और कुछ पूछ पाछ न की . . .''[20] इस क्रांति की असफलता के बाद बुद्धिजीवी वर्ग ने अपनी स्वतंत्रता के बारे में नए ढँग से सोचना प्रारंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप सन् 1885 ई0 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

'वामा शिक्षक' उपन्यास में उन्नीसवीं सदी में चल रहे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलनों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति असंतोष तत्कालीन जनता में देखा जा सकता है। जिस असहयोग अन्दोलन की बात गाँधी जी ने 1920 ई0 में की, उसकी पृष्ठभूमि 19वीं सदी से ही तैयार हो रही थी। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय इसका समर्थन अपने पात्रों से कराते हैं। 'वामा शिक्षक' में गंगा अपने पति को सरकारी नौकरी छोड़ व्यापार करने की सलाह देते हुए गंगा कहती है कि ''वहुत लोग लाचारी को नौकरी करते हैं और शहर के लोग अपने मतलव के लिए उनकी इज्जत करते हैं गुलाम तो कभी काम को टाल भी देता है पर नौकर कभी नाँह नहीं कर सक्ता. . . नौकरी की वुराई तो लोगों में यहाँ तक प्रसिद्ध है कि लोग नौकर और कूकर को वरावर समझते हैं. . .।''[21]

लाला श्रीनिवासदास की रचनाओं में अंग्रेजी राज्य के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती। इनके नाटकों को देखने से लगता है कि उस समय के भारत में धर्म, प्रेम और सतित्व के अलावा मानों कोई समस्या ही नहीं थी। हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास माने जाने वाले 'परीक्षा गुरू' में तत्कालीन समय में लागू किये गये प्रेस एक्ट, दिल्ली दरबार और समाज सुधार आन्दोलनों की अभिव्यक्ति देखने को नहीं मिलती है। लेकिन लाला श्रीनिवासदास ने तत्कालीन समाज की दुर्गती को देखते हुए स्वदेशी पर जोर दिया है अर्थात् स्वयं व्यापार की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया है।

तत्कालीन हिन्दी के प्रमुख रचनाकारों में राधाकृष्णदास जो कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। इन्होंने नवजागरण कालीन समस्याओं को लेकर अनेक नाटकों की रचना की। इनके नाटकों में अंग्रेजी राज केन्द्रित किसी की प्रकार से आलोचना नहीं मिलती, परंतु इनके एक मात्र उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' में इसकी वास्तविक झाँकी देखी जा सकती है। अंग्रेजी सत्ता स्थापित हो जाने के बाद शासन द्वारा भारत में जो विकास–कार्य हुआ वह भारतीय जनता को ध्यान में रखकर नहीं किया गया अपितु शासन की सुविधाओं को ध्यान में रखा गया। इस संबंध में हम रेल, डाक, और शिक्षा को देख सकते हैं। ब्रिटिश शासन में सदैव अपनी सुविधाओं का ध्यान रखा गया। इसका उल्लेख बाबू राधाकृष्ण दास

ने 'निःसहाय हिन्दू' में स्पष्ट रूप से किया है। मदनमोहन अपने मित्र माधव से अंग्रेजों के आने–जाने की सड़कों और आम जनता की सड़कों की तुलना करते हुए कहता है कि '' वाह!वाह! यहाँ की सड़क बहुत अच्छी है। हाँ क्यों नहीं, यह स्थान अंग्रेजों के आवागमन का है न।''[22] अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे इस प्रकार के व्यवहार को उस समय का शिक्षित वर्ग स्पष्ट रूप से महसूस कर रहा था।

'निःसहाय हिन्दू' में अंग्रेजी राज में हो रही धोखाधड़ी और चापलूसी परस्त लोगों को दी जाने वाली उपाधियों की निन्दा की गई है। इसमें स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि सरकार अपनी हानि की पूर्ति किस धोखाधड़ी से कर रही है और साथ देने वालों को किस प्रकार से उपाधियाँ देती है। इस संबंध में शीतला प्रसाद नामक पात्र के माध्यम लेखक का कहना है कि ''बहुत खूब! लीजिए सुनिए! कल मुझे कलक्टर साहब ने बुलाया था। जब मैं गया, तो उठ खड़े हुए , और बोले, 'हमने आपको टैक्स लगाने का काम इसलिए सुपुर्द किया है कि आप गर्वनमेंट के बड़े खैरख्वाह हैं। हमे उम्मीद है, आप गर्वनमेंट की तरफदारी करेंगे ,न कि काले आदमियों की। देखिए, परसाल इल साल से टेक्स कम वसूल हुआ है, इसके लिए मेरी गवर्नमेंट से बड़ी शिकायत आई है। इससे आप इस कमी को कभी पूरा कर दीजिए, गवर्नमेंट मुझसे नाराज न हो। इसका एहसान मेरे ऊपर होगा। अगर यह काम मेरे हस्बख्वाह कर देंगे, तो मैं गवर्नमेंट से 'राय' का खिताब दिला दूँगा।''[23] स्पष्ट है कि उस समय किस प्रकार कूटनीति के तहत ब्रिटिश सरकार द्वारा उपाधियां कैसे और किन लोगों को दी जाती थी। यह उपन्यास ब्रिटिश शासनकाल में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वत खोरी को उजागर करता है। वहीं चापलूसी परस्त लोगों के चेहरे को अत्यन्त हास्यास्पद रूप में व्यक्त करता है।

बाबू राधाकृष्णदास ने 'निःसहाय हिन्दू' उन्नीसवीं सदी में व्याप्त धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, समाजिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों तथा उसके विद्रूप चेहरे को उसी रूप में रखने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। इस उपन्यास में अंग्रेजों की प्रत्यक्ष रूप से बुराई नहीं की गयी है लेकिन हो रही लूटपाट, अंग्रेजों के अवास की अलोचना, के साथ ही उस समय प्रचलित रूढ़ियों, जाति–पाति, बाल–विवाह, सम्प्रदाय, विधवा–विवाह निषेध की

आलोचना की गयी है। इस उपन्यास में राष्ट्रीय–भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। इसमें सबको एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास तो किया ही गया है साथ ही आपसी विद्वेष के मूल कारणों को उखाड़ फेकने की भरसक भी कोशिश की गयी है। 'निः सहाय हिन्दू' मूल रूप से काशी को लेकर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास के मूल में जो भी समस्यायें उठाईं गयी हैं उसका यथार्थ से गहरा संबंध है। यह तत्कालीन भारत की स्थिति को बयान करने वाला दस्तावेज है। इस उपन्यास को अगर आंचलिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। जिसमें ब्रिटिश–कालीन भारत की यथार्थ स्थिति को बयान करने की अभूतपूर्व क्षमता है।

भारतेन्दु युगीन रचनाकारों में अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ लिखने वालों में बालकृष्ण भट्ट का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। बालकृष्ण भट्ट को अपनी इसी आदत के कारण ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक दंश झेलने पड़े। इनके नाटकों एवं उपन्यासों में ब्रिटिश साम्रज्य की आलोचना इतने तर्कपूर्ण ढंग से नहीं की गयी है जितना की इनके उपन्यासों में की गयी है। इनके बेवाकपन के बारे में इस बात से अन्दाजा 1886 में 'हिन्दी' प्रदीप में प्रकाशित उस वक्तव्य से लगाया जा सकता है जिसमें अपने देश के पराधीन होने के बारे में लिखते हैं कि ''हमारा इस पराधीन दशा में रहने का एक मात्र कारण यही है कि हमको किसी बात से कभी असंतोष नहीं होता।''[24]

ब्रिटिश शासन काल में केवल जनता ही नहीं अपितु सरकारी नौकरी करने वाले कर्मचारियों की ऐसी बुरी दशा थी कि वे चाह कर भी कुछ नहीं कर सकते थे। इस दुर्व्यवस्था का जीवंत अंकन काशी प्रसाद खत्री ने अपने नाटक 'ग्रामपाठशाला और निकृष्ट नौकरी' में किया है। शासान के प्रति इस भाव को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है। 'ग्रामपाठशाला' में मुदर्रिस प्रशासनिक अधिकारियों से परेशान हो कर कहता है कि ''कैसे बिचारे दीन दुखियों के प्राण बचें धिक्कार है ऐसी नौकरी करना, भीख मांगकर पेट भरना अच्छा पर खुदा ऐसी नौकरी न करवावे जिस्में कसूर किसी का और मारा जाय कोई . . . हाय, हाय ! यह पढ़कर हमने फल पाया हाय यही हमारा रातों को उकलेदिस तवारीख और जबर मुकाबला रटने का नतीजा है . . .''[25] इसी तरह 'निकृष्ट नौकरी' में खत्री जी ने

भरोसदास नामक पात्र के माध्यम से कहलवाते हैं कि '' हाय ! राम क्या अंग्रेजी पढ़कर मिट्टी खराब है दिन भर चक्की पीसनी पड़ती है और फिर भी हेडक्लर्क की हर वक्त झिड़कियाँ सहनी पड़ती है अगर जरा बोलो तो साहब का कान फूकने को तैयार हो जाता है साहब का यह हाल है कि बात 2 पर मौकूब करते हैं और गाली दे बैठते हैं धिक्कार है उन पर जो ऐसी नौकरी पर घमंड करते हैं जिसकी न कुछ जड़ न बुनियाद, अरे क्या हमारे बाप दादे सब अंगरेज की ही नौकरी करते आये हैं ?''[26] उर्पयुक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि अंग्रेजी राज में जब कर्मचारियों की ऐसी दशा थी तो आम जनता की क्या दशा रही होगी, इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है।

सन् 1857 की क्रांति कंपनी शासन से उपजी असुरक्षा की देन थी, वह असुरक्षा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। इस क्रांति में भारतीय जनता भले ही पराजित रही पर अंग्रेजों को अपनी एक सूत्रात्मक शक्ति का एहसास तो करा ही दिया। जिस राष्ट्रीय भावना की बात बीसवीं सदी में तेजी से उठी, उसका एक स्वरूप प्रथम बार 1857 में देखा जा सकता है। इस क्रांति के बाद जिस मध्यवर्ग का जन्म हुआ उसने अपनी गलतियों और अंग्रेजों की शक्ति के प्रमुख स्रोतों को पहचानना शुरू कर दिया। इसी ने बाद में चलकर अंग्रेजों के विरूद्ध भारतीय जनता को खड़ा किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारतीयों की नई सोच की देन थी। अंग्रेज इसकी स्थापना अपने फायदे के लिए करना चाहते थे पर बाद में यही उनके विनाश का कारण बनी। 1857 की क्रांति को जिस अमानवीय रूप से कुचला गया, वह भारतीय इतिहास के परिदृश्य पर अब तक का सबसे भयानक नर संहार था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की कब्र लार्ड डलहौजी ने खोदी कर्जन ने साफ किया और जनरल डायर ने उस पर मिट्टी डालना शुरु किया। शासन का आतंक का प्रभाव उस लिखे जा रहे साहित्य पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ऐसे समय में रचनाकारों ने शासन की कमियों को प्रत्यक्ष रूप से उजागर करने का साहस नहीं कर सके।

संदर्भ–सूची

1. भारत में अंग्रेजी राज, सुन्दरलाल पृ0 803
2. तद्भव, सं. अखिलेश, अंक 15, जनवरी 2007, पृ0 131
3. वही ''
4. अठारह सौ सत्तावन की क्रांति, एस. एन. सेन, पृ0 40
5. तद्भव, सं. अखिलेश, अंक 15, जनवरी 2007, पृ0 129
6. वही पृ0 126
7. भारत में अंग्रेजी राज, सुन्दरलाल पृ0 688
8. विश्व बाजार और भारत –सं. किशन कालजयी जुलाई 1994, पृष्ट 16
9. भारत में अंग्रेजी राज भाग–1, सुन्दरलाल, पृ0 143
10. भारत में अंग्रेजी राज भाग 2, '' पृ0 843
11. साखी शैलेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0 132
12. भारत में अंग्रेजी राज भाग 2, सुन्दरलाल, पृ0 967
13. भारत में अंग्रेजी राज भाग 2, '' पृ0 902
14. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, विपिन चंद्र (सं.), पृ0 288
15. वही , पृ0 7
16. संवेद, भारत की पराजय क्यों हुई, मुक्तिबोध, जुलाई 1994 पृ0 20
17. भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, सं0 एम0 सत्याराव, , पृ0 199
18. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, विपिन चंद्र पृ0 65
19. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष , '' पृ0 66
20. वामा शिक्षक, मुंशी इश्वरी प्रसाद / मुंशी कल्याण राय पृ0 209
21. वही, पृ0 130–131
22. निःसहाय हिन्दू–राधाकृष्णदास, पृ0 37
23. वही, पृ0 64–65
24. हिन्दी प्रदीप, सं. बालकृष्ण भट्ट, जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल, 1886 पृ0

25. ग्रामपाठशाला, काशीनाथ खत्री, पृ0 23
26. निकृष्ट नौकरी, काशीनाथ खत्री, पृ0 43

उन्नीसवीं सदी का हिन्दी कथा साहित्य : वस्तु और रूप

भाषा

भाषा भावों को अभिव्यक्त करने का साधन है, भाषा के बिना भावों की अभिव्यक्ति हो पाना संभाव नहीं है। भाषात्मक विविधता होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक मनुष्य को हर भाषा का ज्ञान हो। जितने सशक्त रूप में भावों की अभिव्यक्ति अपने मातृ भाषा या क्षेत्रिय बोलियों में की जा सकती है उतनी किसी अन्य भाषा में नहीं। भाषा के स्वरूप का गठन क्षेत्रिय बोलियों पर आधारित होता है। उन्हीं का परिमार्जित रूप आगे चलकर अलग रूप में दिखाई देता है। भाषा की प्रकृति है कि वह समय के साथ–साथ अपने को परिवर्तित और विकसित करती रहती है। कोई भी भाषा युग–युगों तक तभी जीवित रह सकती है जब उसमें समय के साथ–साथ अपने को परिवर्तित और अन्य भाषाओं के शब्दों को समाहित करने की क्षमता हो। भाषायी कट्टरता उसके मृत्यु का लक्षण है। भाषा भावों के अभिव्यक्ति का साधन होती है, इसकी अत्यधिक जटिलता भावों को समझने में बाधा उत्पन्न करती है। अतः साहित्य में प्रसंग और स्थिति के अनुसार जहाँ तक हो सके सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। साहित्य या आम बोल चाल की भाषा में सहज रूप से अन्य भाषाओं के शब्द आने से उसके शिल्प में वृद्धि हो जाती है, वहीं पर कूट–कूटकर भरे गये शब्दों की अधिकता भाषा का दोष है। किसी भी भाषा का व्याकरणिक परिवर्तन समय–समय पर होना अनिवार्य है। ऐसा न होने पर उसके विकास में अवरोध उत्पन्न होता है।

वस्तु और रूप

साहित्य मूलतः दो आयामों में विभक्त होता है– 'वस्तु और रूप'। दूर तक देखने पर वस्तु और रूप में आधार और अधिरचना जैसा संबंध देखने को मिलता है। वस्तु जहाँ साहित्य के ठोस आधार की तरफ संकेत करता है वहीं रूप उस ठोस वस्तु के निर्मिति के

शिल्प को। ''कला के वस्तु–तत्व अन्तर्तत्व–व्यवस्था का ही एक भाग है। वे ऐसे अन्तर्तत्व है जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के, उद्वेलित, अर्थात् (1) तरंगायित के (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन–मूल्यों तथा पूर्वेतर अनुभवों से आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर, हो उठते हैं।''[1] वस्तु के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं होता। एक वस्तु को भिन्न रूपों में व्यक्त किया जा सकता है। इससे वस्तु के वास्तविक रूप में परिवर्तन नहीं होता है। जैसे– राम कथा मूलतः वस्तु है उसको लेकर अनेक काव्य–महाकाव्य लिखे गये। राम कथा का मूल कथ्य वही रहा उनको रचनाकारों ने अपनी दृष्टि और रचना कौशल के अनुसार भिन्न–भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। तुलसी कृत 'रामचरितमानस', केशव कृत 'रामचंद्रिका' और निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा'। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं में राम कथा को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। वस्तु का सौंदर्य उस पत्थर की तरह है जो आकार विहीन है अगर इसका कोई अंग आकर्षक है तो उसका कारण कलाकार या शिल्पी है जो उसे रूप प्रदान करता है। यही प्रक्रिया साहित्य में भी लागू होती है। जब शिल्पी किसी वस्तु को एक रूप प्रदान करता है तो उसके आकार–प्रकार में कुछ परिवर्तन आता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि वह अपने बदले हुए रूप में पहचानी न जा सके। ''वस्तु किसी न किसी रूप में ही अभिव्यक्त होती है और किसी न किसी आकार में ही स्थित होती है और भी अन्ततः किसी न किसी वस्तु का रूप होता है।''[2]

उपन्यास लेखन की परंपरा में दो तरह के उपन्यास दिखाई देते हैं। एक भारतीय पद्धति पर लिखे गये उपन्यास और दूसरे विदेशी पद्धति पर। भारतीय पद्धति पर लिखे गए हिन्दी उपन्यासों में–'देवरानी 'जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' को देख सकते हैं। ये उपन्यास चली आ रही भारतीय कथा–कहानी और आख्यानों के विकास हैं जो समयानुकूल अपने नये रूप में हमें दिखाई देते हैं। इन उपन्यासों को यह कहना कि ये पूर्ण रूप से चली आ रही भारतीय पद्धति पर लिखे गये तर्क संगत नहीं है।

हिन्दी में दूसरे ढंग के वे उपन्यास आते हैं जो विदेशी तर्ज पर विशेष रूप से कोशिश करके लिखे गए। ऐसे उपन्यासों में हम लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरू',पं0 बालकृष्ण

भट्ट के नूतन ब्रह्मचारी और ठाकुर जगमोहन के 'श्यामास्वप्न' को देख सकते हैं। इन दो उपन्यासों को विदेशी पद्धति पर लिखने का प्रयास किया गया परंतु इसमें सफलता नहीं मिली। भारत में विदेशी ढंग के लिखे गए उपन्यासों पर विचार करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि ''उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' है—फिर उसकी परिभाषा जो भी हो वे इसे बंकिमचंद्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि से लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास ! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षागुरू' नहीं। 'परीक्षागुरू' का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिन्दी के लिए ! जब कि 'कपालकुंडला' अपने जवाने की अत्यधिक लोकप्रिय कृति होने के साथ ही स्थायी कीर्ति की हकदार है। तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचंद्र के रोमांसधर्मी उपन्यासों भारतीय राष्ट्र के भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।''[3]

हिन्दी में लिखे गये लगभग सभी प्रारंभिक उपन्यासों के लिए पुस्तक शब्द का प्रयोग किया गया है। हिन्दी में उपन्यास शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1873 ई0 में अंग्रेजी शब्द 'नावेल' के अर्थ में हुआ। बाद में फरवरी 1875 ई0 में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में मल्लिका देवी द्वारा लिखित 'मालती' उपन्यास के लिए किया गया। लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' उपन्यास को एक सांसारिक वार्ता कहा है। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है कि ''अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारिक वार्ता।'' इसको आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला हिन्दी उपन्यास स्वीकार किया। 1880 में राधाकृष्णदास द्वारा लिखित 'निःसहाय हिन्दू' के लिए उपन्यास शब्द का प्रयोग किया गया है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में लिखे गये उपन्यासों के लिए भी कहानी, आख्यान और किस्सा आदि शब्दों का भी प्रयोग होता रहा। बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक के बाद उपन्यास शब्द का खुलकर प्रयोग होने लगा।

कहानी :

रानी केतकी की कहानी

'रानी केतकी की कहानी' की रचना इंशाअल्लाह खाँ ने उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में की। इसके रचनाकाल को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। अधिकांश विद्वानों ने इसे 1803–05 के बीच की रचना स्वीकार किया है, यही सर्वमान्य मत है। श्यामसुन्दरदास ने इसके प्रकाशन के संबंध में लिखा है कि ''सैयद इंशाअल्लाह खाँ की कहानी को पहले पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग छापा था।''[4] श्यामसुन्दरदास ने इसे सन् 1925 में नागरीप्रचारिणी काशी से प्रकाशित करवाया। लगभग सवा सौ वर्षों में इसके प्रकाशित होने का कहीं और उल्लेख नहीं मिलता है। इस कहानी के लिखने के पीछे क्या उद्देश्य था इसको स्पष्ट करते हुए लिखा हैं कि ''एक दिन बैठे–बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई पढ़े–लिखे, पुराने–धुराने, डांग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर मूँह थुथाकर, नाक भौं चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने– यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखा पन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चलते हैं। ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नहीं होने का। . . . इस कहानी का कहने वाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है।''[5] 'रानी केतकी की कहानी' लोकप्रचलित कहानी पर आधारित है। इसमें राजा सूरजभान के पुत्र उदैभान और राजा जगतपरकास की पुत्री रानी केतकी की प्रेम कहानी है। उदैभान एक दिन एक हिरनी पर मोहित होकर उसका पीछा करता हुआ रास्ता भटककर राजा जगतपरकास के वाटिका में पहुँच जाता है। वहाँ रानी केतकी अपनी समवयस्क सखियों के साथ झूला झूल रही थी। जब रानी केतकी उसे

हतास–निराश देखती है तो उसका वहीं ठहरने का प्रबन्ध कर देती हैं। रानी केतकी को उदैभान से प्रेम हो जाता। इस प्रसंग में दोनों एक–दूसरे को अपनी लिखी हुई अँगूठी देते हैं। उदैभान लौटकर जब अपने राज्य में आता है उसके व्यवहार में परिवर्तन दिखाई देता है। माता–पिता के निवेदन करने पर अपनी परेशानी बताता है, जब सारी बात उनको पता चलती है तो तब उसके पिता उसे आश्वासन देते हैं कि उचित मुर्हुत देखकर हम किसी ब्राह्मण को भेजेगें। जब ब्राह्मण को भेजा जाता है तो राजा जगतपरकास उसे अपमानित करता है और अंधेरी कोठरी में बंद करवा देता है। राजा सूरजभान सेना लेकर उसके ऊपर चढ़ाई कर देते हैं। ये एक महान तपस्वी थे युद्ध से भयभीत जगतपरकास जब उनसे सहायता माँगते हैं तो महेंदर गिर उदैयन और उसके माता–पिता को हिरण और हिरणी बना देते हैं। राजा जगतपरकास को एक ऐसा भस्म देते हैं जिसे आँखों में लगाते ही कोई भी अदृश्य हो सकता था वह सबको देख सकेगा पर उसको कोई नहीं देख पाएगा। रानी केतकी प्रेम में विह्वल होकर एक दिन उसी भस्म को लगाकर उदैभान की खोज में चली जाती है। रानी केतकी के माता–पिता उसके बिना परेशान हो जाते हैं और उसे खोजने के लिए उसकी बचपन की सखी मदनबान को भेजते हैं, वह पता लगाकर जब उसके माता–पिता को उसकी स्थिति बताती है, तो वे वहाँ जाते हैं और उसकी दशा देखकर बेचैन हो जाते हैं। इस स्थिति से निज़त पाने के लिए महेंदर गिर को याद करते हैं महेंदर गिर और उनके अनुयायी उदैभान और उसके माता–पिता को खोजते हैं कहीं पता नहीं लगता है तब राजा इन्दर से सहायता माँगते हैं। राजा इन्दर उन्हें संगीत का आयोजन कराने की राय देते हैं संगीत सुनकर जंगल के सारे हिरन आ जाते हैं फिर महेंदर गिर उन पर पानी छिड़क कर राजा सूरजभान, उनकी पत्नी और पुत्र उदैभान को पुनः आदमी का रूप देते हैं। इधर राजा जगतपरकास पूरे राज्य में चालीस दिन पहले से ही विवाह के खुशी में उत्सव मनाने को कहते हैं और घोषणा करते हैं कि अगर जो चालीस दिन तक यह उत्सव नहीं मनाएगा समझेगें कि वह हमारे सुःख में शमिल नहीं होगा। सारे नगर को सोने और मोतियों से सजा दिया जाता है। देवता और जितने महापुरूष रहते हैं सब इस विवाह में उपस्थित होते हैं और विवाह बड़े धूम–धाम से सम्पन्न होता है।

यह रचना अपने तत्कालीन परिवेश से कोई विशेष संबंध नहीं रखती। इसमें तत्कालीन शासक वर्ग की तानाशाही का संकेत भर मिलता है, जो जनसामान्य की कोई चिन्ता नहीं करते हुए सबको अपनी पुत्री के शादी का जश्न महीने भर मनाने का आदेश देता है। यह रचना तत्कालीन शासकों की अप्रत्यक्ष रूप पोल खोलती है। जो समस्या आज के युग में आम तौर पर देखी जा सकती है।

यह रचना सूफियों की मसनवी शैली पर आधारित प्रेमाख्यान है। इसमें और सूफियों के प्रेमाख्यानों में बस यही अन्तर है कि यह गद्य में रचित है और सूफी प्रेमाख्यान काव्य में। इसके अलावा कुछ थोड़ा बहुत वस्तुगत एवं रूपगत अन्तर है। इसका रचनागत् ढांचा इसे सूफियों की रचनाओं के काफी करीब लाकर खड़ा कर देता है पर इसे सूफी रचना स्वीकार किया जाए यह उचित नहीं है। यह जनसामान्य के जीवन में प्रचलित कथा कहानी सुनाने की परंपरा में लिखा गया है। सूक्ष्म दृष्टि से अगर देखा जाए तो इसे मनोरंजन प्रधान कहानी कह सकते हैं।

उन्नीसवीं सदी की यह रचना कथानक की दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण न हो पर भाषा की दृष्टि से इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इंशा अल्लाह खाँ की भाषा के संबंध में लिखा है ''इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था जिसमें हिन्दी को छोड़कर और किसी बोली का पुट न रहे। मुसलमान लोग भाषा शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी भाषा के लिए करते थे। जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे–चाहे वह ब्रज भाषा हो या खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत मिश्रित हिन्दी को ही उर्दू फारसी वाले 'भाखा' कहते थे। 'भाखा' से खास ब्रज भाषा से उनका अभिप्राय नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रम वश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी फारसी मिली हिन्दी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिन्दी को भाखा।''[6] ''इससे लगता है कि इंशा ने किसी पुराने–धुराने डांग–बूढ़े की उन चुनौती को स्वीकार किया था जिसमें कहा गया था कि ठेठ हिन्दवी का प्रयोग संभव नहीं है। यहाँ हिन्दी, हिन्दवी, भाषा बाहरी बोली और गंवारी पर विचार कर लेना चाहिए। बाहरी बोली का अर्थ यामिनी भाषा यानी अरबी फारसी से भरी हिन्दुस्तानी। भाषा का माने है संस्कृतनिष्ठ पंडिताउ हिन्दी। गंवारी

वह है जो भले लोगों की भाषा न हो। अर्थात् इंशा ने शिष्टजनों की बोल चाल की भाषा में, जिसमें न तो संस्कृत का प्रभाव था, न अरबी–फारसी का, 'रानी केतकी की कहानी' लिखी।''[7]

इंशाअल्लाह खाँ ने भाषा के संदर्भ में अनेक प्रयोग किए हैं ''जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर सबमें वचन सूचक शब्द नहीं रहते। पुरानी उर्दू में यह बात नहीं थी। उसमें वचन सूचक चिन्हों का प्रयोग होता था। इंशाअल्लाह खां ने भी ऐसे ही प्रयोग किए हैं; जैसे 'आतियां जामियां जो सांसे हैं,' 'घरवालियां बहलातियां हैं इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी भाषा के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।''[8]

'रानी केतकी की कहानी', को कुछ विद्वान उपन्यास की संज्ञा से अभिहित करने का प्रयास करते हैं। इस रचना के संबंध में ऐसी स्थापना देना तर्क संगत नहीं है। गोपालराय ने इसको उपन्यास कहे जाने का खंडन करते हुए लिखा है कि ''रानी केतकी की कहानी यद्यपि हिन्दी की पहली मौलिक, लिखित और मुद्रित गद्यकथा है,पर यह उपन्यास नहीं है। यह मध्यकालीन प्रेमाख्यानों की पद्धति पर रचित गद्यकथा है, जिसमें अलौकिक तत्वों, फारसी कथानक रूढ़ियों तथा अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णनों से भरी एक प्रेम कहानी है। कथा के बीच बीच में सूफी प्रेमाख्यानों की शैली पर नायिका के नखशिख–सौंदर्य तथा वैवाहिक तैयारियों का अतिश्योक्तिपूर्ण और वस्तुपरिगणात्मक वर्णन मिलता है।''[9] इसका यथार्थ से मात्र लाक्षणिक संबंध है।

वामामनरंजन

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इसकी रचना विद्यालयों में लड़कियों को पढ़ाए जाने के लिए की थी। इसके प्रकाशन के संदर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विद्वान इसको 1856 और कुछ 1859 की रचना मानते हैं। गार्सा द तासी के अनुसार इसका प्रथम संस्करण 1856, द्वितीय 1859, तृतीय 1879 और चौथा 1889 में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना स्त्रियों को चरित्रोत्थान की शिक्षा देने के लिए की गयी। ''इसमें विषय वस्तु का

संकलन अंग्रेजी एवं बंगला साहित्य से किया गया है। इसमें दमयन्ती, अहल्याबाई, रानी भवानी, एक अमेरिकी लड़की, द्रोपदी, हंगरीवाली, रोमन महिला, बीबी अम्बास आदि कुल 17 भारतीय एवं पाश्चात्य स्त्रियों का चरित्रांकन इस ढंग से किया गया है कि नारियों को चरित्रोत्थान में सहायक हो सके।''[10] वामामनरंजन के अलावा स्त्रियों को ऐसी पुस्तके पढ़ने और पढ़ाने पर जोर दिया जाता था जिसमें उनको पतिव्रत्य की शिक्षा मिल सके।

बीरसिंह का वृत्तांत

इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1855 में हुआ। इसमें राजा साहब ने बाल हत्या और स्त्री उपेक्षा को घोर अमानवीय स्वीकार किया है। हिन्दी साहित्य में स्त्री समस्या को लेकर लिखी गयी प्रथम कहानी 'बीरसिंह का वृत्तांत' है। जिसमें बीरसिंह एक रघुबंशी राजपूत है। उसके गलत व्यवहार के कारण उससे कोई संबंध नहीं रखना चाहता है। इसकी वजह से उसकी सारी सम्पत्ति बिक जाती है। घर का समान बेचकर जीवन चलाता है, लेकिन फिर भी उसके व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता। उसका विवाह एक नीच कुल की कन्या से होता है। कुछ समय उपरांत उसके यहाँ एक पुत्री का जन्म होता है। ''कन्या का नाम सुनते ही बीरसिंह तलवार ले जैसे रघु इन्द्र से लड़ने को धाया था उस बिचारी बालिका को मारने को सौरी में आ उपस्थित हुआ। केतकी नंगी तलवार देखके डर गयी, कांपती कांपती बोली–स्वामी यहाँ कौन तुम्हारा बैरी है जिसको वधने को कोप कर कृपाण हाथ में ली है ? बीरसिंह बोला– बैरी तो मेरा कोई भी नहीं, पर क्या तूने अब तक यह नहीं सुना कि हम लोग रघुवंशी कन्या नहीं पालते और कभी किसी के साले ससुरे नहीं कहलाते ? मैं इसी लड़की के मारने को तलवार लाया हूं। केतकी यह वचन सुनते ही मुरझा गयी आंखों से आंसू की धारा बहने लगी।''[11] केतकी बीरसिंह के बातों का खण्डन करते हुऐ कहती है कि ''साले और ससुरे बनने में कुछ पाप नहीं लगता और न समझनेवालों के समीप इसमें कुछ लोकनिन्दा है। जैसे मा बाप भाई बहन और सब शब्द हैं वैसे साला ससुरा यह भी दो शब्द है, जैसे मेरा बाप तुम्हारा ससुरा बना तुम्हारा बाप भी मेरा ससुरा हुआ, इसमें बुराई क्या निकली।''[12] इन सब बातों का असर बीरसिंह पर कुछ नहीं होता लड़की के दो टुकड़े कर

देता है। कुछ समय बाद एक पुत्र पैदा होता है उसका पुत्र जब बालिका वध के विरोध में तर्क देता है तो बीरसिंह कहता है कि ''बेटा जो हम लोग लड़कियों को जिलाने लगें तो फिर उनका ब्याह करने के लिए रूपया कहां से लावें, कुछ सब समय में किसी के पास तो रूपया रहता ही नहीं।''[13] धीरे–धीरे उसके पुत्र के कारण आगे चलकर उसमें परिवर्तन आता है और अन्ततः पुत्री वियोग में प्राण त्याग देता है। आगे चलकर जिस दहेज और विवाह में अतिरिक्त खर्च किए जाने का प्रश्न श्रद्धाराम फिल्लौरी उठाते हैं, उसको राजा साहब ने लगभग दो दसक पहले ही उठा दिया था। राजा साहब ने इस कहानी में उस समय बाल वध के विरोध में बनाए गए कानून से लोगों को परिचित कराने का भी प्रयास किया है। यह कहानी कल्पनिक होते हुए यथार्थ स्थिति को बयान करती है। ''इस पुस्तक में वेद, मनुस्मृति, वृहस्पति स्मृति। श्रीमद्भागवत, ब्रहमांड पुराण आदि के कतिपय उद्धरणों से सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि बाल हत्या, स्त्री हत्या आदि घोर पाप है।''[14] हिन्दी गद्य साहित्य में पहली बार स्त्रियों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार के संबंध में इतने तर्क पूर्ण ढंग से बात की गयी है जो आगे चलकर श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा रचित उपन्यास 'भाग्यवती' में दिखाई देता है।

सदियों से चली आ रही अमानवीय परंपरा बालिका वध और उसकी मूल समस्या को राजा साहब ने इस कहानी में बड़े ही तर्क पूर्ण ढंग से उठाया है। विवाह में दिखावें के लिए अतिरिक्त किए जाने वाले खर्च की आलोचना सुमंतचंद नामक पात्र से करवाते हुए लिखा है कि ''सभी मनुष्य धनाढ्य नहीं हैं तो हम लोग निर्धन होने से क्यों लजावें। जैसे और धनहीन पुरूष अपनी लड़की का अपना विवाह करते हैं हम भी कर देंगे। ब्रह्मण तो हमसे कुल गोत में कहीं बढ़कर उच्च हैं और बहुधा धनहीन होते हैं, हमारे पास रूपया न होगा, हम भी अपनी लड़कियों को पीले हाथ करके चुंदरी पहना देंगे और उसके पति को सौप देंगे, इसमें लाज की बात है ? बरन मेरी जान में तो जो लोग सौ सौ मिन्नत समाजत करके अपने मेली मिलापियों से भाड़े के कपड़े पहनाकर तिलंगा बनाते हैं और फिर डंका बजाते निशान उड़ाते सारे नगर में गली अपने लड़को की बारात घुमाते हैं, उनको लजाना चाहिए। यह क्या बुद्धिमानों का काम है कि इस रूपये को, जिस से सैंकड़ों दीन दुखियों

का दुख दरिद्र दूर हो सकता है, कागज की फुलवारी बनाकर उड़ा दें या बारूद की आतशबाजी छोड़ फूंक दें।''[15] सैकड़ों वर्षों से चली आ रही साम्प्रदायिकता के बीज समाज में ही जाने–अनजाने ही पलते चले आ रहे है। अगर भारत में देखा जाए तो इसकी वजह से 1857 की क्रांति की असफलता, भाषा विवाद, मुस्लिमलीग की स्थापना और भारत–पाक के अलावा न जाने कितनी हृदय विदारक यातनाओं से लोगों का गुजरना पड़ा है। उन्नीसवीं सदी में एक पढ़ा–लिखा बड़ा वर्ग इससे ग्रस्त दिखाई देता है। राजा साहब भी इससे मुक्त नहीं हो पाए थे। बाल वध जैसे कुरीति के प्रचलित होने के पीछे मुसलमानों को दोषी ठहराते हुए लिखा है कि ''राघुवंशी राजपूतों में यह बुरी रीति लड़की मारने की क्योंकर चल गई और किसने चलाई। जिन दिनों में मुसलमान बादशाह थे और राजपूतों की लड़कियों को उनके मां बाप से छीनते थे, जिन दिनों मुहम्मद कासिम ठट्टे राजा की लड़कियों को पकड़कर खलीफावलीद के लिए दमिश्क ले गया था. . . .यदि उन दिनों में लोग अपना धर्म और लाखों आदमियों की जान, जो लड़ाई में मुसलमान के हाथ से मारे जाते थे, बचाने के लिए जनमते ही लड़कियों को मार डालते हों तो आश्चर्य नहीं, पर अब कि सरकार अंग्रेज बहादुर, ईश्वर बढ़वें दिन दिन प्रताप उनका, दूसरे की कन्या को चाहे वह राजपूत की हाक चाहे चाण्डाल की, चाहे रति के समान हो चाहे वह राक्षसी अपनी कन्या तुल्य समझते हैं तो फिर ऐसा घोर पाप क्यों करना चाहिए ?''[16] उपर्युक्त उद्धरण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि राजा साहब अंग्रेजी राज के प्रति आस्थावान थे। इसी बात के लिए हमेशा आलोचना के विषय बने रहे। मुसलमानों की आलोचना और अंग्रेजों को श्रेष्ठ मात्र राजा साहब ने ही नहीं घोषित किया है, अपितु पण्डित गौरीदत्त और श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भी किया है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अंग्रेजी राज की प्रशंसा अपने एक पात्र से करवाते हुए लिखा है कि ''इनके समान प्रजा का भला चाहने वाला कौन है।''[17] जब बीरसिंह को एहसास होता है कि उसने अपनी पुत्री की हत्या करके गलत किया है, तो इसी चिंता में धीरे–धीरे मर जाता है। बीरसिंह का मरना मात्र एक मनुष्य का मरना नहीं, यह उस व्यवस्था की मृत्यु है जिसने अपनी झूठी शान के वशीभूत होकर अपने पराए की परवाह नहीं की। इस रचना में राजा साहब ने कन्या वध के माध्यम से तत्कालीन समाज के बेढंगेपन को दिखाने में सफलता तो हासिल की ही है साथ ही यह संकेत करने का

प्रयास किया है कि भारतीय राजाओं की राजसत्ता किन कारणों से अपने आप ढह गयी। इस कहानी को उस समय की सर्वश्रेष्ठ कहानी कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।

लड़कों की कहानी

राजा साहब ने इसमें बाल कथाओं का संग्रह किया है। इसकी रचना बच्चों के चरित्र उत्थान की शिक्षा देने के उद्देश्य से की गयी है। इसमें कई तरह के उपदेश पर आधारित कहनियाँ हैं जिसके माध्यम से अनावश्यक दिखावा और पाखण्डों का खण्डन किया गया है।

यह रचना बालकों के लिए लिखी गयी है इसलिए इसमें सामान्य बोल चाल की भाषा का व्यवहार किया गया है। हिन्दी–संस्कृत के शब्दों के साथ प्रचलित अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

आलसियों का कोड़ा

इसकी रचना सर्व प्रथम 1868 में उर्दू में हुई थी। ''बाद में 1889 में बाबू प्रियनाथ की सहायता से राजा साहब ने हिन्दी में अनुवाद किया। इस कहानी की रचना जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि उपदेशात्मक हैं। इस पुस्तक में राजा साहब ने आलसियों के प्रवृत्ति का मजाक उड़या है साथ कहा है कि कर्म से जो लोग भागते हैं वे हमेशा हर क्षेत्र में पीछे रह जाते हैं। इस पुस्तक के पहले अध्याय में तीन प्रकार के मनुष्य की चर्चा की गयी है। ''(1) जिनको किसी प्रकार का काम नहीं है (2) जिनका काम पर लगा रहना बेकाम से बुरा है। (3) जिन्होंने काम का तो अच्छा और उचित अंगीकार किया है पर उसे बेदिली और सुस्ती से करते हैं। मानो रात दिन अफीम की पिनक में पड़े हैं।''[18] इसी तरह द्वितीय अध्याय में इसके काम की महत्ता और उसके करने के ढंग पर प्रकाश डालने की कोशिश की है।

सैण्डफोर्ड एवं मरटन की कहानी

इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1885 में तीन भागों में हुआ था। यह कहानी उस समय इतनी प्रसिद्ध हुई कि इसका अनुवाद उर्दू में 'किस्सये सैण्डफोर्ट मरटन' नाम से किया गया। इस पुस्तक में प्रकाशित कहानियों में ईमानदारी, पाप पुण्य आदि की बात की गयी है। इसमें कथा कहने का ढंग पंचतंत्र और हितोपदेश के समान है। इसमें प्रमुख कहानियाँ–सैण्डफोर्ड एवं मरटन की कहानी, दो कुत्ते की कहानी, आन्द्रोलीला और सिंह की कहानी, खुसरों इरान के बादशाह की कहानी, अच्छा लड़का, बुरा लड़का, अनूठी चिकित्सा, वफादार तुर्क आदि हैं।

राजा भोज का सपना

हिन्दी साहित्य में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की कहानी 'राजा भोज का सपना' का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इसमें राजा भोज की कथा है। एक समय राजा भोज को लगने लगा कि मेरे समान दानी, न्यायी और सत्य बोलने वाला कोई नहीं है। वह सोचता है कि ''जितना मैंने दान किया, उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी नहीं आया होगा। जो मैं ही नहीं, तो फिर और कौन हो सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझपे दोष लगे ?''[19] उसके दरबारी उसे इसी रूप में देखते हैं पर उसका यह विश्वास सत्य से सामना होने पर टूटता है।

इस कहानी में राजा भोज कालीन जिस परिवेश का उल्लेख किया गया है वह उन्नीसवीं सदी के उन राजाओं पर व्यंग्य है जो अपने आप को सर्वोपरि समझ रहे थे। जिनको यह ज्ञात नहीं था कि आम जनता का क्या हाल है। धाार्मिक अंधता इतनी बढ़ गयी थी की सदियों से चली आ रही जाति जैसी कुरीति के आधार पर दान और सम्मान दिया जाता था। इसमें राजा भोज का दानाध्यक्ष ब्राह्मणों को दान देने के संबंध में कहता है कि– ''धर्मावतार ! यह यह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं, सो

डेवढ़ी पर हजिर हैं।''[20] राजा शिवप्रसाद ने इसके माध्यम से तत्कालीन राजाओं से प्रश्न किया है कि अगर ब्राह्मणों का ध्यान आप रखेंगे तो बाकी जनता कहाँ जाएगी। इसी कथा–कहानी कहने की पद्धति ने आगे चलकर उपन्यास का मार्ग प्रसस्त किया।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की रचनाओं को अगर शिल्प की दृष्टि से देखा जाए इसमें भाषा, भाव, कथ्य और संवाद के स्तर पर एक नयी स्थापना देते हैं जो इनके पूर्ववर्ती रचनाकार नहीं कर पाए। इनकी कृतियाँ जहाँ परंपरा से जुड़ी है वहीं यथार्थ से भी। 'बीरसिंह का वृत्तांत' एक यथार्थ घटना को लेकर लिखी गयी रचना है। इसकी रचना बोल–चाल की आम भाषा में की गयी है। इसमें ब और व में कोई अन्तर नहीं है। 'इसको' के जगह 'इस्को', उसको के जगह 'उस्को', 'जिससे' को 'जिस्से' लिखा गया है। इस पूरी रचना में अल्पविराम, अर्द्धविराम और प्रश्नवाचक चिन्ह का कहीं प्रयोग नहीं किया गया है। हिन्दी मिश्रित उर्दू के साथ–साथ संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इसमें व्याप्त नाटकीयता पाठक वर्ग को कहीं बोझ नहीं लगती। उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियों में भाषा, संवाद और रचना कौशल को देखा जा सकता है–

''बीरसिंह। बेटा कहीं स्त्री भी रघुवंशी हुई है ? जिनके वंश में तुम्हारी मां जनमी है वे तो हमारे बराबर बैठने का भी अधिकार नहीं रखते।

सुमतचंद। यह आप क्या कहते हैं कि स्त्री रघुवंशी नहीं होती ? रघुवंशी को लड़की रघुवंशी न होगी तो और क्या होगी और यह तो बात बुद्धि में आती ही नहीं कि रघुवंशी के बेटी न हो बेटे होते चले जावें ! बड़े खेद की बात है कि आपने किसी रघुवंशी स्त्री से विवाह नहीं किया।

बीरसिंह। बेटा लड़की तो रघुवंशियों के भी अवश्य होती है परंतु वे जिलाते कदापि नहीं, होते ही मार डालते हैं इसी कारण हम लोगों को नीच कुल की स्त्रियों से विवाह करना पड़ता है।''[21] इनकी भाषा व्याकरणिक दृष्टि से अस्त–व्यस्थ अवश्य है लेकिन उस समय की दृष्टि इसे अच्छी भाषा माना जा सकता है। इनकी लिखी गई सारी कहनियाँ में सामान्य जन में बोली जाने वाली भाषा का व्यवहार मिलता है, जिससे इसके शिल्प में वृद्धि हो

जाती है। इन अन्य रचनाओं–'राजा भोज का सपना', 'लड़कों की कहानी', आलसियों का कोड़ा आदि में इनके रचना कौशल को देखा जा सकता है। उपर्युक्त विवरणों के आधार पर राजा साहब सितारेहिन्द को हिन्दी साहित्य का पथ प्रदर्शक कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

उपन्यास :

देवरानी जेठानी की कहानी

हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में हुआ। इन प्रारंभिक उपन्यासों की रचना समाज सुधार आन्दोलनों से प्रेरित होकर की गई। इन उपन्यासों के पूर्व हिन्दी में मौलिक एवं अनुदित अनेक गद्य रचनाएँ देखने को मिलती हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम मौलिक गद्य कथा का लेखन इंशाअल्लाह खाँ द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' से प्रारम्भ हुआ। जिसकी रचना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुई। इसके पश्चात पंडित श्रीलाल द्वारा रचित 'धर्म सिंह का वृत्तांत' ''सूरजपुर की कहानी''[22] और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा रचित–'वीर सिंह का वृतांत' (1883) 'वामामनरंजन' (1856) 'लड़कों की कहानी' इत्यादि प्रमुख गद्य कथाएँ हिन्दी में उपन्यास लिखे जाने से पूर्व लिखी जा चुकी थीं।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की दृष्टि से पहला मौलिक उपन्यास पंडित गौरीदत्त द्वारा रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी' है। जिसका प्रथम संस्करण 1870 में मेरठ के जियाई छापाखाना से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की रचना स्त्री–शिक्षा को केंद्र में रखकर की गई है। जिसका मूल उद्देश्य स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्रदान करना है, ताकि शिक्षित होकर घर का सारा काम अच्छी तरह करें, सास ससुर और पति की सेवा करें, हमेशा सास–ससुर की आज्ञा में रहें, अतिथियों से अच्छा व्यवहार करें, घर में सभी को खुश रखें और बच्चों का अच्छी तरह से पालन–पोषण करें इत्यादि। इस उपन्यास के प्रथम संस्करण की भूमिका में पंडित गौरी दत्त ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि

''स्त्रियों को पढ़ने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गयी हैं सब अपने–अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं, परंतु मैंने इस कहानी को नए रंग–ढंग से लिखा है मुझको निश्चय है कि दोनों, स्त्री–पुरूष इसको पढ़कर अति प्रसन्न होंगे और बहुत लाभ उठायेंगे। ... पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या–क्या अन्तर है, बालकों का पालन पोषण किस प्रकार होता है, और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस–किस काम में व्यतीत होता है, और क्यों कर होना उचित है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है उससे क्या–क्या हानि होती है पढ़ी हुयी जब एक काम करती है उससे क्या–क्या लाभ होता है। स्त्रियों की वह सब बातें जो आज तक नहीं लिखी गयीं मैंने खोजकर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक–ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है। बाल बराबर भी अन्तर नहीं है।''[23]

स्पष्ट है कि सन् 1870 ई0 में प्रकाशित 'देवरानी–जेठानी की कहानी' के पहले भी हिन्दी में स्त्री–शिक्षा संबंधी पुस्तकों की रचना हुई थी। उन पुस्तकों की उपयोगिता और सार्थकता से पंडित गौरीदत्त सहमत हैं। लेकिन 'देवरानी जेठानी की कहानी' ने इस दिशा में नई जमीन की तलाश की है। इसके प्रकाशन के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्री–शिक्षा विषयक पुस्तकों की लेखन–परंपरा अबाध गति से चलती रही। जिसके फलस्वरूप हम 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती', स्त्री शिक्षा, इत्यादि को देख सकते हैं।

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में एक ही घर की दो स्त्रियों की कहानी है। देवरानी को लेखक ने अपना आदर्श बना कर प्रस्तुत किया है, जो कर्म की उपासिका है। देवरानी पढ़ी लिखी है वह अपने घर को स्वच्छ रखती है। सास–ससुर और पति की आज्ञा का पालन करती है, आए अतिथियों का सम्मान करती है, अपने बच्चों का कपड़ा साफ–सुथरा रखती है और उनका पालन–पोषण अच्छी तरह से करती है उनको टीका लगवाती है। सुबह उठकर नहा धोकर खाना पका कर सिलाई–कढ़ाई में और पढ़ने में अपना समय व्यतीत करती है। साथ में पड़ोस की लड़कियों को सिलाई–कढ़ाई सिखाने के साथ–साथ पढ़ाया भी करती है। उसके इन कामों से घर के सभी लोग खुश रहते हैं। जेठानी अनपढ़ होने के कारण ठीक अपनी देवरानी के विपरीत रहती है। वह न

सिलाई–कढ़ाई ही जानती न अपने घर को स्वच्छ रखती है, न अपने बच्चों को साफ–सुथरा रखती है, न ही उनका ठीक ढंग से पालन–पोषण करती है। बच्चों को बीमारी का टीका नहीं लगवाती है। उनके बीमार होने पर डाक्टर के पास न ले जाकर ओझा और फकीरों के पास ले जाती है। सास–ससुर से लड़ा करती है, उनकी आज्ञा नहीं मानती, पति से हमेशा सास और देवरानी की बुराई किया करती है, उसको भोजन भी बनाना नहीं आता जिसके कारण उसकी देवरानी को सुबह–शाम भोजन पकाना पड़ता है। जेठानी केवल उपले ठोकना, धागा कातना, अनाज़ साफ़ करना, आटा पीसना, बर्तन धोना आदि मोटे कामों को अच्छी तरह करना जानती है। उसके इतने काम करने पर भी उसके स्वभाव के कारण घर के लोग उससे खुश नहीं रहते हैं।

नारी जीवन एवं गृहस्थ धर्म पर केन्द्रित इस उपन्यास की मूल कथा का तात्पर्य यह है कि ''अशिक्षित और मूर्ख स्त्रियाँ पारिवारिक जीवन को नरक तुल्य बना डालती हैं जबकि शिक्षित और विवेकशील स्त्रियाँ नरकतुल्य घर को स्वर्ग में परिणत कर देती हैं।''[24] इस उपन्यास में लेखक ने देवरानी के चरित्र में नैतिक मूल्यों को रखा है, जिसके माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त अशिक्षा, अन्धविश्वास, कलह, अज्ञान और अनेक तर्कहीन रूढ़िवादिता को दिखाने का भरसक प्रयास किया है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास के केंद्र में तो स्त्री–शिक्षा को रखा गया है। लेकिन इसके माध्यम से तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक रूढ़िवादी विचारों का खण्डन भी किया गया है। इस उपन्यास में लेखक ने स्त्री–शिक्षा के महत्व को अपनी सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर स्थापित करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास की भूमिका में जैसा कि लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि इसकी रचना स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए की गई है। लेकिन अगर इस उपन्यास के शुरू से अन्त तक की कथा को देखे तो ऐसा लगता है कि इसकी रचना करते समय स्त्रियों का ध्यान वहीं तक रखा गया है जहाँ पुरूषों की स्वतंत्रता बाधित न हो। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस समय इसकी रचना की गई रचना करते समय बालिकाओं का ध्यान न रखकर उनके अभिभावकों का

ध्यान ज्यादा रखा गया। इसका सबसे बड़ा कारण सदियों से चली आ रही रूढ़िग्रस्त परंपरा के प्रति भारतीयों का मोह था।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए चलाए गए आंदोलनों के पीछे सबसे बड़ा कारण था भारतीयों का पश्चिम के सम्पर्क में आना। पश्चिम के नए ज्ञान–विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से परिचत होकर आए शिक्षित वर्ग ने जब अपनी स्त्रियों की तुलना अंग्रेजों की स्त्रियों से की तो उनको हीन अवस्था में पाया। उनकी स्त्रियों का इस दशा में होने का कारण अशिक्षित होना था, यह बात इस वर्ग को समझ में आ रही थी। इसके फलस्वरूप इसी वर्ग ने स्त्रियों को शिक्षित करने की ओर सबसे पहले कदम बढ़ाया। वीर भारत तलवार ने इस संबंध में लिखा है कि ''औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जब पुरूष स्कूल–कालेजों में शिक्षा पाकर निकलने लगे तो उनकी स्त्रियों का अनपढ़ और जाहिल रहना खटकने लगा। नए शासन के नियम–कायदों और सभ्यता संस्कृति के असर से उनकी अपनी जीवन शैली बदल गई थी और इन्होंने शिष्टचार के नए तौर तरीके अपना लिये थे। अब उन्हें अपने घरों में स्त्रियों के बर्ताव और काम करने के पुराने ढंग फूहड़ और असुविधा जनक लगने लगे। उनके सामने अंग्रेज परिवारों की स्त्रियाँ थीं। जिनके कपड़ों के सफाई, व्यवहार कुशलता, बातचीत का ढँग, शिष्टाचार और कार्य निपुणता उन्हें अपनी घरेलू स्त्रियों के लिए 'आदर्श' (मॉडल) लगता था। लिहाजा ये सुधारक पितृसत्तात्मक ढाँचे में कोई सुधार किए बगैर, औरतों पर अपना परंपरागत नियंत्रण जरा भी ढीला किए बिना अपनी स्त्रियों को एक खास क्षेत्र में घरों के अन्दर 'नए आदर्श' रूप में ढालने की कोशिश करने लगे। स्त्रियों को इससे पहले भी पुरूषों की नई रूचियों एवं जरूरतों के मुताबिक उन्हीं के द्वारा आदर्श भूमिका को बेहतर ढंग से निभाने के लिए कहा जा रहा था।''[25] उपर्युक्त मत को अगर 'देवरानी जेठानी की कहानी' के संदर्भ में देखा जाए तो स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि स्त्रियों को पुरूषों के अनुसार ढालने की बात की गई है। तत्कालीन पुरूष स्त्री को जिस रूप में देखने का पक्षपाती था उसी रूप को देवरानी के माध्यम से आदर्श बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

इस पूरे उपन्यास में स्त्रियों के लिए उच्च–शिक्षा की बात कहीं नहीं की गई है और न ही कहीं पुरूष के समान स्त्रियों को स्वतंत्र दिखाया गया है। इस उपन्यास की कथा मात्र एक परिवार की कथा नहीं हैं अपितु, तत्कालीन समाज के न जाने कितने ऐसे परिवारों का दस्तावेज़ हैं। इसमें स्त्रियों की शिक्षा संबंधी जिन बातों का उल्लेख मिलता है यह उस समाज (19वीं सदी) का सच है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व की बात न करके मात्र गृहस्थ धर्म का पालन करने वाली स्त्री की बात की गई है। लेखक देवरानी को आदर्श हिन्दू नारी के रूप में स्थापित करना चाहता है। उसकी दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि ''छोटेलाल की बहू सारे दिन कुछ न कुछ करती रहे थी सबेरे उठते ही बुहारे देती । चौका–बासन करके दूध बिलोती। फिर नहा–धोके के दो घड़ी भगवान का नाम लेती है। रोटी चढ़ाती। जब लाला छोटेलाल रोटी खाके दफ्तर चले जाते, थोड़ी देरी पीछे दौलत राम और उसका बाप दूकान से रोटी खाने को आते। जब वह रोटी खा लेता और सास जिठानी भी खा चुकती तब से पीछे आप रोटी खाती!''[26] स्पष्ट है कि लेखक देवरानी के इन गुणों का उल्लेख इसलिए करता है ताकि लड़कियों को उसकी तरह बनने की प्रेरणा मिल सके।

पंडित गौरीदत्त ने जेठानी में नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाया है। इसका सबसे बड़ा कारण अशिक्षित स्त्रियों से होने वाली हानि की ओर संकेत करना तथा उसी के माध्यम से स्त्री–शिक्षा के महत्व को लोगों को समझाना है। जेठानी के अवगुणों का उल्लेख करते हुए लेखक ने उसकी दिनचर्या के बारे में लिखा है कि ''जिस दिन दौलत राम की बहु रोटी करती। दाल में पानी बहुत डाल देती और कभी नून जियादह कर देती। और कभी भूल जाती। गाँव के सी मोटी–मोटी रोटियें करती। किसी को बहुत सेक देती और कोई कच्ची रह जाती। इसलिए बेचारी देवरानी को दोनों वक्त चूल्हा फूँकना पड़े था।''[27] उपर्युक्त तथ्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की सहानुभूति देवरानी के साथ है इसीलिए उसके चरित्र को ऊँचा उठाना चाहता है। पंडित गौरीदत्त ने जहाँ जेठानी में अवगुणों को दिखाने में ज्यादा दिलचस्पी ली है वहीं देवरानी के गुणों को पूरी तरह बेदाग दिखाया है। पंडित गौरीदत्त ने देवरानी के इन गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''रात को पूरी

परावठा और तरकारी कर लिया करे थी। दोपहर को रोटी खाने से पीछे घण्टा डेढ़ घण्टा आराम करती। फिर सीना–पिरोना, मोजे बुनना फुलकारी काढ़ना, टोपियों पै कलाबत्तू की बेल लगाना आदि में जिस काम को जी चाहता ले बैठती। इस समय मुहल्ले और बिरादरी की लौंडिये दो घड़ी, को इसके पास आ बैठा करे थीं। किसी को मोजे बुनना बतलाती और किसी को लिखना पढ़ना सिखलाती है और आप भी अपना काम किए जाती। जब कभी इस काम से मन उचटता तो अपनी पोथी में से सहेलियों एवं भनेलियों को कहानियाँ सुना–सुना कर कभी रूलाती और कभी हँसाती।''[28] उपर्युक्त तथ्यों पर विचार विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि पुरूष समाज स्त्रियों को जिस रूप में सदियों से देखने का पक्षपाती रहा है, लेखक ने भी स्त्री के उसी रूप की सराहना की है।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्रियों की दशा सुधार संबंधी अनेक आन्दोलन चलाए गए, फिर भी समाज की मानसिकता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। तत्कालीन समाज उस स्त्री को सम्मान की दृष्टि से देखता था जो कि घर के सारे काम करे सबकी सेवा करें, किसी का विरोध न करे, सारे दुःख सहती रहे और उफ तक न करे, भोजन पकाना उसे अच्छी तरह आए, रात में जब भोजन पका ले तो पुरूषों के खाने के बाद खुद खाए, पुरूषों की किसी बात में टाँग न अड़ाये, वंश चलाने के लिए पुत्र पैदा करे, हमेशा सास–ससुर और पति की आज्ञा में रहे, घर आए अतिथियों का सम्मान करें, और बच्चों का पालन पोषण अच्छी तरह करे इत्यादि। एक पिता अपनी पुत्री को पत्र लिखता है कि ''तुम्हारा पढ़ना–लिखना उसी दिन काम आवेगा, जब अपने सास की आज्ञा में रहोगी। सास को माता के समतुल्य जनाना। ननद और जेठानी को अपनी बहिनों से अधिक मानना। .... जो ज्ञानवान लड़कियाँ है घबराती नहीं। सब काम किए जाती है .... आए गए का सम्मान करना, सबसे मीठा बोलना, संतोष से अपने कुटुंब गुजारा आपको तुच्छ जानना यह अच्छे कुल की बेटियों का धर्म है।''[29] ऐसी स्त्रियों को उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं बल्कि आधुनिक भारतीय समाज में भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है।

सर्वसुखदास की पत्नी अपनी बड़ी बहु के व्यवहार को देखकर लाला सर्वसुखदास से दोनों (देवरानी–जेठानी) को अलग करने को कहती है। तब लाला सर्वसुखदास समाज में

अपनी इज्जत की चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''बिरादरी के लोग हँसेंगे और ठट्ठे मारेंगे कि फलाने के घर लुगाईयों में लड़ाई हुई थी तो उसने अपने बड़े बेटे को जुदा कर दिया। देखो यह कैसी बहु आई इसने हमारी बात में बट्टा लगाया और घर तीन तेरह कर दिया।''[30] उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम तत्कालीन समाज में स्त्रियों को लेकर प्रचलित रूढ़िग्रस्त मानसिक पूर्वाग्रहों का अन्दाजा लगा सकतें हैं। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में पंडित गौरीदत्त ने भले ही घर में अलग्योझा का कारण अशिक्षित जेठानी को बतलाया है लेकिन उस समय लोगों में स्त्रियों को लेकर न जाने कितने पूर्वाग्रह प्रचलित थे। आज भी जब घरों मे विभाजन का मुख्य कारण चाहे जो भी हो अन्त में इसके मुख्य हेतु में स्त्री को माना जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में चल रहे स्त्री–सुधार संबंधी आन्दोलनों का समाज के बहुसंख्यक वर्ग ने समर्थन तो किया लेकिन लड़कियों को लेकर उनकी मानसिकता में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। इस बात को उदाहरण स्वरूप इस उपन्यास में देखा जा सकता है। जब लाला सर्वसुखदास के बड़े बेटे दौलतराम की पत्नी को लड़की पैदा होती है, तब इस बात की खबर सुनकर लाला सुखदास दौलतराम से दुःख व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''ले भाई लौंडियों ने घर घेर लिया।''[31] यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्रियों को लेकर अधिकांश लोगों के विचारों में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। लड़कियों को लेकर ऐसे दृष्टिकोण बनने के पीछे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में दहेज जैसी कुरीतियों को जिम्मेदार माना जा सकता है, यह समस्या आज भी देखने को मिलती है। जब कुछ समय बाद लाला सर्वसुखदास की छोटी बहु को लड़का पैदा होता है तो वहाँ खुशी मनाई जाती है। लोगों में मिठाईयाँ बाँटी जाती है। दान दिए जाते हैं, सगे संबंधियों को दावत दी जाती है, सभी लोग (स्त्री–पुरूष) आकर लड़के के माँ, दादी दादा को बधाई देते हैं। उसी घर में जब लड़की पैदा होती है तो पूरे घर में उदासी का माहौल छा जाता है। कहीं किसी प्रकार का कोई दान भोज और मुबारक बाद नहीं दी जाती है। लेकिन जब लड़का पैदा होता है तो लोगों में अजीब सी खुशी देखने को मिलती है। छोटेलाल के घर में लड़के के जन्म के बाद के महौल का उल्लेख करते हुए पं0

गौरीदत्त ने लिखा है कि ''जेठ शुदि, जुमेरात के दिन छोटेलाल के घर लड़के का जन्म हुआ। बड़ी खुशी हुई नक्कारखाना रखा गया। जन्म पत्री लिखी गई बिरादरी वालों को एक–एक पान का बीड़ा दिया। वह उठ खड़े हुए और बोले, लाला सर्वसुखजी मुबारिक। उन्होंने उत्तर दिया कि साहब आपको भी मुबारिक! बाहर जो नाई ब्राह्मण घिर गये थे उन सबको पैसा–सौ बाँट दिया। दाई को एक रूपया दिया, वह पाँच रूपये माँगती रही। जच्चा को खाने को गूँद की पंजीरी हुई। अब जो भाई बिरादरी और नाते–रिश्ते में से औरतें आतीं लौंडे की दादी को मुबारिक व बधाई कहके बैठ जातीं। नातेदारों और प्यार–मुलाहजे वालों के यहाँ से कुर्ता, टोपी, हँसली, कडूले आने लगे। धी–ध्यानों के यहाँ से जो आये थे उनमें से किसी को फेर दिया और किसी को रख लिया। और दो–दो चार–चार रूपये जैसा नाता देखा उनपर रख दिया।''[32] उपर्युक्त तथ्यों को देखने से तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि 'स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती हैं।' पर यह बात भी गलत नहीं ठहराई जा सकती कि पुरूष पैदा नहीं होता बनाया जाता है। दोनों को मुनष्य से अलग करके स्त्री–पुरूष के रूप में देखने की दृष्टि समाज में ही विकसित होती है। जब नन्हे और मोहन लड़कियों के साथ खेलता गीत गाता हैं तो उसकी माँ उससे कहती है कि ''लौन्डे लौन्डियों के बीच नहीं रहते।''[33] पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को मात्र एक वस्तु के अलावा कुछ नहीं समझा गया। क्योंकि पितृसत्ता का समर्थन करने वाला कोई भी समाज निरपेक्ष रूप से स्त्रियों के हक की बात कभी नहीं कर सकता। पंडित गौरीदत्त द्वारा लिखित इस उपन्यास में तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्रियों के साथ हो रहे असमानतापूर्ण के व्यवहार की अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। श्रीमती कमलापति गौड़ ने जनवरी 1911 में 'स्त्री दर्पण' नामक पत्रिका में अपने 'स्त्री उपकार' नामक लेख में स्त्री–पुरूष के समानता के बारे में विचार करते हुए लिखा है कि ''यदि कुटुम्ब पर दृष्टि डाली जाय तो पुरूष की पदवी तो रोटी देने वाली है और स्त्री की धार्मिक पुष्टि करने वाली है। यह कि स्त्री और पुरूष एक दूसरे पर निर्भर हैं और उस में लक्षण प्रसिद्ध है कि स्त्री की पदवी अति उत्तम, इतिहास प्रसिद्ध और पवित्र है। मैं समझती हूँ कि स्त्री–पुरूष के कार्य का मुकाबिला फ़ज़ूल है : कारण यह है कि सिद्ध करना उनके एक मत होकर कर्म करने से सम्भव है। वह एक दूसरे से विरोधी और प्रतिपंथी नहीं है। और एक दूसरे के सुख देख में अंश लेने को एक

दूसरे का हाथ बटाने अपनी प्रकृति सिद्ध मिश्र भाव को मिटा कर एक हो जाने के लिए पैदा हुए हैं यद्यपि बहुत से पुरूष ऐसे हैं जो स्त्री को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, स्त्री को निर्बल बताते हैं, पुत्रों को कन्या से ज्यादा प्यार करते हैं, पुत्रों को दूध पिलाते, माखन खिलाते हैं और लड़कियों से छाछ भी छिपाते हैं, और हर बात में अपने को स्त्री जाति से अच्छा समझते हैं, मगर उनका समझना अक्ल के विरूद्ध हैं, क्योंकि स्त्री का कर्म पुण्य से अति अमूल्य और अति उत्तम है यदि यह देखना हो कि स्त्री पुरूष में कौन अधिक जरूरी है तो इसका सहज उपाय है कि सोचो कि लड़ाई में ढाल जरूरी है या तलवार ?''[34]

सदियों से चले आ रहे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को समानाधिकारों से वंचित रखा गया। सर्वप्रथम पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता को छीना। बाद में यही स्त्रियों की मानसिक गुलामी का कारण बनी। अब तक जो काम पुरूष कर रहे थे, वही काम स्त्रियाँ करने लगी। एक लड़की के पैदा होने पर दुःखी होने लगी। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में जेठानी देवरानी के पुत्र होने के बाद अपने भाग्य को कोशते हुए कहती है कि ''जिनके नसीब खोटे हो हैं उनके बेटी हो हैं और जिनके नसीब अच्छे हैं उनके बेटे हो हैं।''[35] जब तीन वर्ष बाद जेठानी को पुत्र पैदा होता है तो देवरानी खुश होते हुए कहती हैं कि ''हे भगवान तैने मेरी ऊपर बड़ी दया की। जो लैंडिया–सिवाल होती तो मुझे काहे को जीने देती।''[36]

पं0 गौरीदत्त ने अपने उपन्यास के माध्यम से बाल विवाह का विरोध किया है जब देवरानी के लड़के को कई जगह से सगाई आती है तो वह कहती है कि ''जव पंद्रह–सोलह वर्ष का होगा तव विवाह–सगाई करेंगे।''[37] तब उसके (नन्हे के) दादा–दादी समाज में इसकी आलोचना का भय दिखाते हुए कहते हैं ''यह तुम क्या जव करे हो? जव स्याना हो जायगा, कौन विवाह–सगाई करेगा? लोक कहेंगे कि यह जाति में खोटे होंगे, जो अव तक विवाह नहीं हुआ।''[37] उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर बाल विवाह के संबंध में प्रचलित रूढ़िग्रस्त परंपरा का एक रूप देखने को मिलता है। जिसमें ज्यादा उम्र में विवाह करने पर लोग निन्दा करते थे। वह कम उम्र में विवाह होने के दुष्परिणाम की ओर विचार किए बगैर पंडित गौरीदत्त ने बाल विवाह के साथ–साथ इस उपन्यास में बाल विधवाओं पर

भी विचार करते हुए उनके पुनर्विवाह का समर्थन किया है। एक जगह छोटे लाल की बहू के मामा के लड़की असमय (दस वर्ष) विधवा हो जाने पर उसको देखकर दुखी स्त्रियाँ आपस में वार्तालाप करते हुए कहती हैं कि ''इस लौण्डियाँ ने देखा ही क्या है? यह क्या जानेगी कि मैं भी जगत में आई थी। किसी के जी की कोई क्या जाने है। इसके जी में क्या–क्या आती होगी। इसके साथ की लौण्डियाँ अच्छा खावे हैं, पहिने हैं, हँसे हैं, वोले हैं गावें हैं, वजावे हैं। क्या इसका जी नहीं चाहता होगा? सात फेरों की गुनहगार है। जो हमारी जाति में पड़े हैं। मुसलमानों और साहव लोगों में दूसरा विवाह हो जाए है और अव तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गूजर, नाई, धोवी, कहार, अहीर आदियों में तो दूसरे विवाह की कुछ रोकटोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से संभाषण नहीं हुआ हो और विवाह के पीछे पति देहान्त हो जाय, तो वह पुनर्विवाह योग्य है। अर्थात् उस स्त्री का दूसरा विवाह कर देने से कोई दोष नहीं।''[39]

उन्नीसवीं शताब्दी में छोटी हिन्दू जातियों में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित था लेकिन उच्च हिन्दू जातियों ने इसे बाद तक स्वीकार नहीं किया। अगर समाज सुधार आन्दोलनों पर नज़र डाली जाए तो स्त्रियों से संबंधी जितनी भी समस्याएँ थी वे उच्चवर्गीय थी अर्थात् उच्च समझी जाने वाली जातियों में प्रचलित थी। पंडित गौरीदत्त भी भद्रवर्ग से संबंध रखते थे, इसलिए इन समस्याओं की जानकारी इनको थी। श्रीमती सावित्री देवी ने अपने 'बाल विवाह नामक लेख में बाल विवाह और बाल विधवाओं के संबंध में लिखा है कि ''दुधमुंहें बालक वा बालिकाओं का ब्याह, कर उनके जीवन को भली–भांति बिताने तथा और सब पौरूष या गुण लाभ करने के जड़ पर कुल्हाड़ा चलाते हैं आजकल ऐसी बुरी प्रथा बाल्यविवाह की चल पड़ी है कि जिसके कायम रहते कहीं से उन्नति की आश नहीं देख पड़ती। खासकर अबलाएँ ऐसी अवनत दशा को पहुँच जाती हैं कि उनके उठने की आशा नहीं रहती और जो कहीं इसी बीच में दुर्भाग्यवश विधवा हो गई तो दोनों जहान से गई न इधर की रही न उधर की।''[40]

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की रचना पंडित गौरीदत्त ने स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए पुस्तक के रूप में तैयार की थी। इस उपन्यास का केंद्रीय मूलाधार

स्त्री–शिक्षा है, परंतु इस उपन्यास में पुरूषों के समान स्त्रियों को स्कूली–शिक्षा या उच्च शिक्षा का समर्थन कहीं नहीं किया गया है। न ही नए ज्ञान विज्ञान की शिक्षा देने का समर्थन किया गया है। पूरे उपन्यास में स्त्री को कहीं भी पुरूष के समान नहीं दिखाया गया है। बल्कि उसे अस्मिता विहीन, गृहिणी रूप में ही अंकित किया गया है। वस्तुतः पं0 गौरीदत्त शुक्ल नवजागरण की चेतना से प्रभावित तो थे, क्योंकि उन्होंने शिक्षा, विज्ञान इत्यादि की प्रशंसा अपने उपन्यास में की है, लेकिन स्त्रियों के संदर्भ में अन्य नवजागरण के बौद्धिक वर्ग की तरह ही स्पष्ट नहीं थे। वे स्त्रियों को शिक्षित करना चाहते थे लेकिन स्त्रियाँ कितनी शिक्षित हों इसकी कोई स्पष्ट अवधारणा उनके पास नहीं थी।

पंडित गौरीदत्त ने स्त्रियों के गुणों और अवगुणों की चर्चा खूब की है लेकिन पुरूषों के सम्बन्ध में ऐसी कोई टिप्पणी नहीं की है। अर्थात इन्होंने पूरे उपन्यास में पुरूषों के गुण–दोषों पर प्रकाश डालने की कोशिश नहीं किया। बल्कि स्त्रियों के अवगुणों को दिखाने में खास रूचि दिखायी है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' में गौरीदत्त ने को शिक्षित स्त्रियों का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत किया है। देवरानी पढ़ी–लिखी होने के कारण अपने घर का सब काम–काज सही ढंग से करती है। किसी प्रकार के अन्धविश्वास, पाखण्ड से दूर है, अपने बच्चों के बीमार होने पर डाक्टर के पास ले जाती है। इसके अलावा वह सास–ससुर और रिश्तेदारों की सेवा करती है, उसमें किसी प्रकार का अहम नहीं है। जेठानी में ये सब गुण नगड्य हैं, इस कारण उसे अनेक दुःख झेलने पड़ते हैं। इन दोनों पात्रों के अतिरिक्त सर्वसुखदास, दौलतराम और छोटेलाल हैं इन पात्रों की कोई विशेष सामाजिक भूमिका नहीं है। सारी कथा का वृत्तांत देवरानी के इर्द–गिर्द घूमता रहता है। लेखक की सहानभूति देवरानी के साथ ज्यादा दिखाई देती है। गौरीदत्त ने उस समय में प्रचलित स्त्री–शिक्षा को लिया है और तत्कालीन समाज को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है। इनका मुख्य ध्येय था स्त्री–शिक्षा का समर्थन ! इसके महत्व को बतलाने में सफल दिखाई देते हैं। इन सबके बावजूद गौरीदत्त की रचना में एकहरापन दिखायी देता है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से अगर देखा जाए तो एक कमजोर रचना है। रचनाकार देवरानी के अलावा किसी और को सफल

व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल नहीं हो पाया है देवरानी का व्यक्तित्व भी असमंजस्य पूर्ण है। गोपाल राय ने चरित्र–चित्रण की दृष्टि से 'देवरानी जेठानी की कहानी' को अयोग्य ठहराते हुए लिखा है कि "चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी यह कथा पुस्तक महत्वरहित है। यही ठीक है कि इसमें मुख्य रूप से देवरानी और जेठानी का चरित्र वर्णित है, लेखक इन पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व देने में सफल नहीं हो सका है। 'देवरानी' और 'जेठानी' वास्तविक व्यक्ति नहीं, कथाकार द्वारा कल्पित आदर्श 'देवरानियों' और तत्कालीन अशिक्षित तथा मूर्ख स्त्रियों के प्रतिरूप (टाइप) हैं। इन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व देने की बात तो अलग रहे, कथाकार ने विशिष्ट नाम तक देना आवश्यक नहीं समझा है। इस कहानी में 'देवरानी' के जो गुण चारित्रिक गुण हमारे सामने आते हैं, वे विश्वासोत्पादक नहीं हैं वह सुशील है, सुशिक्षित है, सलीकेवाली है, नम्र है, समझदार है, शिशुपालन में प्रवीण है–ये सभी उस जमाने में एक आदर्श स्त्री के गुण माने जाते थे–पर इन गुणों की प्रप्ति के लिए 'देवरानी' को जटिल और संकटपूर्ण परिस्थितियों से गुजरना नहीं पड़ता। ये गुण उसे सहजरूप में कथाकार से प्राप्त हो गये हैं। 'देवरानी' का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह उपन्यासकार की प्रवक्ता मात्र है। यह 'व्यक्ति' नहीं विचार है; यथार्थ नहीं, आदर्श है। उपन्यासकार ने उसके चरित्र के माध्यम से अपनी मान्यताओं और तत्कालीन नैतिक मूल्यों का परिचय दिया है।"[41] 'देवरानी जेठानी की कहानी' में उपन्याकार गौरीदत्त ने अपने आदर्शों को सफलता से प्रस्तुत किया है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की रचना यथार्थ परक दृष्टि से की गयी है इसमें तत्कालीन समय में बनियों के घरों में (जन्म से लेकर मृत्यु) जो कुछ होता है उन क्रिया–कलापों को सफलतापूर्वक दिखाने का प्रयास किया गया है। लेखक ने इसकी भूमिका में लिखा है कि "इस पुस्तक में ठीक 2 वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है। बाल बराबर भी अन्तर नहीं है।"[42] पंडित गौरीदत्त ने इसमें सामान्य स्तर पर बोली जाने वाली भाषा का व्यवहार किया है। "हिन्दी कथा साहित्य में 'देवरानी जेठानी की कहानी' पहली रचना है जिसमें अलंकृत और कृत्रिम भाषा का मोह त्याग कर दैनिक–जीवन में व्यवहृत होने वाली भाषा को महत्व मिला। इसमें मेरठ जिले की खड़ी

बोली का, जो वहाँ के मध्यवर्गीय बनिया परिवारों में बोली जाती थी, प्रयोग किया गया है। भाषा के प्रति यह यथार्थवादी रूख 'देवरानी जेठानी की कहानी' की संरचना के नितान्त अनुकूल है।''[43]

कथोपकथन में अतिरिक्त विद्वता दिखाने का प्रयास नहीं हुआ है। तथा कथानक को पाठकों के सामने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया हैं। 'देवरानी जेठानी की कहानी' किसी प्रकार की कृतिमता से मुक्त दिखाई देता। यह उपन्यास इस स्तर से कुछ यथार्थवादी अवश्य लगता है लेकिन पूर्ण रूप से इसे यथार्थवादी कहना उचित नहीं है।

वामा शिक्षक

पंडित गौरीदत्त शुक्ल द्वारा लिखित 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास लिखे जाने के दो वर्ष बाद सन् 1872 में मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने मिलकर 'वामा शिक्षक' नामक उपन्यास की रचना की। हिन्दी में उपन्यास लेखन की दृष्टि से यह दूसरा उपन्यास है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन लिखे जाने के ग्यारह वर्ष के बाद सन् 1883 में विद्यादर्पण छापाखाना मेरठ से हुआ। इसके आवरण पृष्ठ पर लिखा है कि ''वामा शिक्षक'–अर्थात् दो भाई और चार वहनों की कहानी।''[44] जिसको मुंशी ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस रियाजी और मुंशी कल्याण राय मुदर्रिस अव्वल उर्दू मदरसे दस्तूर तालीम मेरठ जाति काईस्थ क्षत्रि वर्ण ने सन् 1872 ई0 में वनाई और खाक पाया कल्याण राय ने छापेखाने विद्यादर्पण मेरठ में छपवाई, सन् 1883 ईस्वी पहली बार 500 पुस्तक नौछावर प्रति पुस्तक 10 आने।''[22]

'वामा शिक्षक' की रचना 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए पुस्तक के रूप में की गई थी। इसमें भी पढ़ी और बेपढ़ी स्त्री से क्या–क्या लाभ–हानि होती है इसको दिखाया गया है। इस उपन्यास में स्त्री–शिक्षा का समर्थन अत्यन्त तर्कपूर्ण ढँग से करते हुए, लोगों को इसके महत्व को समझाने की कोशिश

की गयी है। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए इसकी भूमिका में लिखा है कि ''इन दिनों में मुसलमानों की लड़कियों को पढ़ने के लिये तो एक दो पुस्तकें जैसे मिरातुल उरूस आदि वन गयी हैं परन्तु हिन्दुओं आर्यों की लड़कियों के लिए अव तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आयी कि जिस्से उनको जैसा चाहिए वैसा लाभ पहुँचे और पश्चिम उत्तर देशाधिकारी भी मन्महाराजाधिराज लेफ्टिनेंट गर्वनर वहादुर की यह इच्छा है कि कोई पुस्तक ऐसी वनाई जाय कि जिस्से हिन्दुओं वा आर्यों की लड़कियों को भी लाभ पहुँचे और उनका शासन भी भली–भाँति हो सो हम ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस रियाज़ी और कल्यान राय मुदर्रिस अव्वल उर्दू मदरसह दस्तूर तालमी मेरठ ने वड़े सोच–विचार और ज्ञान–ध्यान के पीछे दो वर्ष में इस पुस्तक को उसी ध्यान से वनाया–निश्चय है कि इस पुस्तक से हिन्दुओं की लड़कियों को हिन्दुओं की रीति–भाँति के अनुसार लाभ पहुँचे और सुशील हो और जितनी वुरी चालें और पाखंड जिनका आजकल मूर्खता के कारण प्रचार हो रहा है उनके जी से दूर हो जावेंगी और वुरी प्रकृति को छोड़कर अच्छी प्रकृतियाँ सीखेंगी और लिखने–पढ़ने और गुण सीखने की रूचि होगी क्योंकि प्रत्येक वुराई का दृष्टाँत ऐसी रीति से लिखा गया है कि उसके पढ़ने और सुन्ने से उनके स्वभाओं और उनकी मूर्खताओं के स्वभावों में साहस उत्पन्न होगा और जव साहस उत्पन्न हुआ तो छोड़ देना और छुड़ा देना कुछ वात नहीं यों ही प्रत्येक भलाई के वहुत से दृष्टाँत लिखे गए हैं कि वह भलाई की ओर रूचि दिखलाते हैं यद्यपि यह पुस्तक हिन्दुओं की लड़कियों को पढ़ने की नियत से वनाई गई है पर उसे आधे या पूरे के पढ़ने से लड़के भी सुशील होंगी।''[45] इसके पूर्व डिप्टी नज़ीर अहमद द्वारा 1869 ई0 में मुसलमानों की लड़कियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए 'मिरातुल उरूस' शीर्षक नामक उपन्यास की रचना (पुस्तक के रूप में) हो चुकी थी। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय 'मिरातुल उरूस' से परिचित थे। इन्होंने सबसे ज्यादा प्रेरणा 'मिरातुल उरूस' से ग्रहण की। 'वामा शिक्षक' उपन्यास भी मिरातुल उरूस के समान ही स्त्री–शिक्षा को केंद्र में रखकर लिखा गया है और इन दोनों की कथाओं में भी कमोबेश समानता है, केवल अन्तर इतना ही है कि 'वामा शिक्षक' हिन्दू परिवेश को लेकर लिखा गया है और 'मिरातुल उरूस' मुस्लिम परिवेश को लेकर। 'मिरातुल उरूस' में दो सगी बहनों की कहानी है। दोनों बहनों का

विवाह एक ही घर में होता है। बड़ी बहन जोकि बड़े ही लाड़ प्यार में पली है। वह पढ़ी–लिखी नहीं। उसके घर में काफी धन और अन्य सारी सुविधाएँ रहती है। अनपढ़ होने के कारण अपने घर का सर्वनाश कर देती है। वहीं उसकी छोटी बहन पढ़ी–लिखी होने के कारण सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करती है। 'वामा शिक्षक' भगवानदास के दो बेटों और उनकी दो, दो बेटियों की कहानी है। बड़ा भाई जमुनादास लड़कियों को शिक्षा दिए जाने का विरोधी है और छोटा भाई मथुरादास समर्थन ही नहीं करता अपितु अपनी लड़कियों को पढ़ाता भी है। पढ़ी–लिखी होने के कारण जब अपने घर जाती हैं, तो सबके साथ अच्छा व्यवहार करती एवं अपने सारे काम कुशलता पूर्वक कर लेती हैं। ये दोनों बहने बिना किसी प्रकार की हानि उठाए सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करती हैं। वहीं जमुनादास की लड़कियाँ अनपढ़ होने के कारण अपने घर में नित्य झगड़ा करती हैं। अपने हाथों अपने घर का सर्वनाश कर देती हैं, और सारा जीवन दुःख में बिताती हैं। दोनों उपन्यासों में पढ़ी–लिखी स्त्रियों की सराहना करते हुए कथा के माध्यम से स्त्री–शिक्षा के महत्व को स्थापित किया गया है ताकि, लोगों को स्त्री–शिक्षा से सम्बधित पूर्वग्रहों से मुक्ति मिले और लड़कियों को शिक्षित करने की प्रेरणा ग्रहण करें।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार द्वारा स्त्रियों को पढ़ाने के लिए पुस्तकें तैयार कराई जा रही थीं। इसके रचनाकारों के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त इनामों की घोषणा भी की गई थी। जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में काफी लोगों ने रूचि दिखाई। इस संबंध रामनिरंजन परिमलेन्दु ने लिखा है कि ''विद्यालयों में शिक्षापयोगी एवं स्त्री–शिक्षा विषयक पुस्तकों का अभाव देखकर सन् 1868 में तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश शासन ने उत्कृष्ट शिक्षापयोगी पुस्तकें लिखने और संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं से अनुवाद करने के लिए पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई थी। इस घोषणा के तहत उर्दू में नज़ीर अहमद ने स्त्री–शिक्षा के निमित्त 'मिरातुल उरूस' (गृहणी दर्पण) शीर्षक कहानी पुस्तक की रचना की थी जिस पर सरकार ने एक हजार रूपये का पुरस्कार दिया था। इस पुरस्कार योजना और पंडित गौरीदत्त को पुरस्कृत किए जाने से उत्साहित प्रेरित होकर मेरठ के उर्दू मदरसे दस्तूर तालीम के अध्यापक–द्वय मुंशी ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस रियाजी (गणित) और मुंशी

कल्याण राय मुदर्रिस अव्वल (प्रधानाध्यापक) ने 'वामा शिक्षक' अर्थात दो भाई और चार बहनों की कहानी की रचना 1872 में पूर्ण की।''[46]

'वामा शिक्षक' के लिखे जाने से पूर्व राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने सन् 1856 में स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए 'वामामनरंजन' नामक पुस्तक की रचना कर चुके थे। इस पुस्तक का भी मूल उद्देश्य स्त्रियों को चरित्रोंउत्थान की शिक्षा देना था। राजा साहब ने इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य के कुल 17 स्त्रियों का चरित्रांकन किया है। ताकि इससे चरित्रोउत्थान की शिक्षा मिल सके। उन्नीसवीं शताब्दी में नारी को केंद्र में रखकर की गयी रचनाओं में रचनाकारों की यह चिन्ता आम तौर पर देखी जा सकती है। इस बात को हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

'वामा शिक्षक' नामक उपन्यास के केंद्र में तो स्त्री–शिक्षा को रखा गया है। लेकिन इसके माध्यम से तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक रूढ़िवादी विचारों का खण्डन भी किया गया है। इस उपन्यास में लेखक ने स्त्री–शिक्षा के महत्व को अपनी सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर स्थापित करने का प्रयास किया है। इसकी भूमिका में जैसा कि लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि इसकी रचना हिन्दुओं आर्यों की लड़कियों को पढ़ाने के लिए की गई है। लेकिन अगर इस उपन्यास की कथा को शुरू से अन्त तक देखें तो ऐसा लगता है कि इसकी रचना 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही स्त्रियों का ध्यान वहीं तक रखा गया है, जहाँ वो पुरूष की समानता नहीं करती हो। जिस समय इसकी रचना की गई रचना करते समय बालिकाओं का ध्यान न रखकर उनके अभिभावकों का ध्यान ज्यादा रखा गया। इसका सबसे बड़ा कारण सदियों से चली आ रही रूढ़िग्रस्त परंपरा के प्रति भारतीयों का मोह था। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि ''...स्वभावतः इन कथाओं में स्कूली बालिकाओं की रूचि का कम उनके अभिभावकों की रूचि का ध्यान अधिक रखा गया है। विवेच्य काल में हिन्दू अभिभावक सामान्यतः स्त्री–शिक्षा के विरूद्ध थे। सर्वप्रथम बंगाल के नेताओं ने स्त्री–शिक्षा का आन्दोलन आरंभ किया। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर उत्तरी भारत के अन्य भागों में भी स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए स्कूल खोले गए तथा उनके लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार की गई। चूँकि अभिजात वर्ग के अभिभावक सामान्यतः

अपनी लड़कियों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए उन्हें अनुकूल बनाए रखने के लिए स्त्री–शिक्षा संबंधी जितनी भी पुस्तकें लिखी गई, इस बात का ध्यान रखा गया कि उनमें कोई भी वैसी बात न लिखी जाए जो स्त्रियों के आचरण विषयक तत्कालीन उच्चवर्गीय हिन्दू आदर्शों के प्रतिकूल हो।. . .''[47]

'वामा शिक्षक' उपन्यास उन्नीसवीं सदी में चल रहे स्त्री–सुधार संबंधी आन्दोलनों की अभिव्यक्ति है। जिसमें उस समय स्त्री–शिक्षा, बालविवाह, विधवा–पुनर्विवाह इत्यादि मुद्दों को शामिल किया गया है। इस उपन्यास में केंद्रीय समस्या के रूप में स्त्री–शिक्षा को लिया गया है। स्त्री–शिक्षा को लेकर उन्नीसवीं सदी में अनेक पूर्वाग्रह प्रचलित थे जैसा कि अगर लड़कियों को पढ़ाया लिखाया जाएगा तो चरित्रहीन हो जाएँगी, पराये पुरूषों को चोरी–छिपे चिठ्ठी लिखेंगी, सास, ससुर और पति की आज्ञा में नहीं रहेंगी, किसी का कहना नहीं मानेंगी, पुरूषों के कामों में टाँग अड़ाएँगी, पुरूषों को कुछ नहीं समझेगी, पराये पुरूषों से हँस–हँसकर बाते करेंगी और ससुर, पिता और भाई का नाम डूबोयेंगी इत्यादि। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में जमुनादास नामक पात्र स्त्रियों की शिक्षा का विरोध करते हुए कहता है कि ''जो लड़कियाँ पढ़ लिख जाएँगी और बड़ी होकर अपने सासरे जायँगी तो वहाँ जाकर किसी के वस में नहीं रहेंगी निडर और निर्लज्ज होकर जिसको चाहेंगी चोरी छिपे चिट्ठी पत्री लिख भेजा करेंगी।''[48]

उस समय चल रहे स्त्री सुधार आन्दोलन व्यापक तौर पर लोगों को प्रभावित करने में अक्षम रहें। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि कुछ लोग स्वार्थ वश अपनी पारंपरिक रूढ़ियों को छोड़ नहीं पा रहे थे। यह तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग लोगों में नई सोच विकसित करने का काम कर रहा था। यही बुद्धिजीवी वर्ग स्त्री–शिक्षा के सकारात्मक महत्व को समझाने का प्रयास कर रहा था। 'वामा शिक्षक' में स्त्री–शिक्षा को लेकर जमुनादास में व्याप्त पूर्वाग्रहों का खण्डन करते हुए मथुरादास कहता है कि ''... जब स्त्रियाँ पढ़ लिख जाएगीं तो अपनी बुराई भलाई अच्छी तरह समझने लगेंगी–लाज को अच्छी तरह समझेगी और जो आप यह कहते हैं जिसको चाहेंगी चिट्ठी–पत्री लिख भेजेंगी सो जो वाप भाई और जेठ देवर और नातेदारों को अपनी कुशल क्षेम और घर के समाचार लिख भेंजें तो

उस्में कुछ बुरी बात नहीं है हाँ बुराई और खटाई इसमें है जब औरों को चिट्ठी पत्री लिखेंगी। उनको क्या प्रयोजन है कि और को चिट्ठी पत्री लिखेंगी।''[49] राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने अपनी दादी बीबी रत्नकुमारी द्वारा लिखित 'प्रेमरत्न' नामक पुस्तक का प्रकाशन सन् 1884 ई0 में करवाया। इस पुस्तक की भूमिका में इन्हीं पूर्वाग्रहों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि–''कितने ही ऐसे सोचते हैं कि स्त्री जो पढ़ना–लिखना सिखेगी अवश्य बिगड़ जाएगी और कुमार्ग गामिनी होगी और कितने अमले समय के स्त्रियों का वृतांत मन से भूलाकर ऐसा समझते हैं।''[50]

मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने ब्रिटिश शासन द्वारा स्त्री–शिक्षा के लिए किए गये प्रयासों को आदर्श रूप में स्वीकार किया है। इस बात का समर्थन मथुरादास द्वारा करवाते हुए लिखा है कि ''लड़कियाँ भी मनुष्य के चोले में आ जाएँ पशु नर है विद्या और गुण सीखकर मनुष्य बन जायँ और समझदारी की बातें किया करें – जड़ता पुरूष और स्त्री दोनों से जाती है जैसे अंग्रेजों की स्त्रियाँ पढ़ी लिखी हैं और घर बाहर सब मामलों में अपने पुरूषों की सहायता करती हैं घर बाहर सब मामलों में अनेक पुरुषों की सहायता करती है यहाँ भी लड़कियाँ वैसी हो जावें और झगड़ा और लड़ाई न करें।''[51] अंग्रेजों ने स्त्री–शिक्षा के संबंध में विशेष योगदान दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'ईसाई मिशनरियों' द्वारा स्त्रियों को शिक्षा देने का प्रयास किया गया। इनका मुख्य ध्येय ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार करना था। जिसके कारण यह सफल नहीं हो सका। भारत में स्त्री–शिक्षा को लेकर सबसे पहले आंदोलन बंगाल से शुरू हुआ और वहीं स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए सबसे ज्यादा स्कूलों की स्थापना की गई। बंगाल में चल रहे तत्कालीन समाज सुधार आन्दोलनों से हिन्दी प्रदेश (उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब और बिहार का कुछ हिस्सा) अप्रभावित नहीं रहा। उस समय के बौद्धिक वर्ग को स्त्री–शिक्षा का महत्व समझ में आ गया था। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्त्री–शिक्षा का समर्थन करते हुए 'कविवचनसुधा' में 3 नवम्बर 1873 में 'स्त्री शिक्षा' शीर्षक लेख में लिखा है कि ''यह बात तो सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी। जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी, क्योंकि यदि पुरूष विद्वान और पंडित होवेंगे। और उनकी स्त्रियाँ

मूर्ख होवेंगी तो उनमें आपस में कभी स्नेह नहीं होगा और नित्य कलह होगी।''[52] स्त्री–शिक्षा का समर्थन करते हुए 'बिहार बंधु'' नामक साप्ताहिक पत्र में 23 जून 1874 के अंक में प्रकाशित एक लेख में लिखा है कि ''शास्त्र में स्त्री की पुरूष का अर्द्धांग लिखा है तो विचारने की बात है कि आधा अंग जिसका मूरख रहेगा वह कभी ज्ञानी नहीं हो सकती और देखना चाहिए कि सिर्फ इसी रोग से हिन्दुस्तान की ऐसी दशा है कि इस घड़ी सब देशवालों से हम लोग ज्यादा खराबी हाल में है।''[53] उन्नीसवीं सदी में बुद्धिजीवियों को यह बात समझ में आ गई थी कि हमारी दशा में तब तक सुधार नहीं हो सकता, जब तक स्त्रियों को शिक्षित नहीं किया जाएगा। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उच्च मध्यवर्ग सबसे पहले आगे आया।

भारतीय नवजागरण कालीन बुद्धिजीवियों ने स्त्रियों की दशा में सुधार लाने के लिए सबसे पहले उनको शिक्षित करने पर बल दिया। स्त्रियों को शिक्षा देने का जहाँ बुद्धिजीवी वर्ग समर्थन कर रहा था, वहीं बहुसंख्यक वर्ग अज्ञान और स्वार्थ वश इसका विरोध कर रहा था। इसमें कुछ ऐसे लोग भी थे जो स्त्रियों को शिक्षा देना निरर्थक समझ रहे थे। इसका जिक्र इस उपन्यास में भी देख सकते हैं, जमुनादास नामक पात्र इस संबंध में कहता है कि ''स्त्रियाँ पढ़–लिखकर घर को संभालेंगी और रूपये का हिसाब किताब रखेंगी सो अब क्या वह अपना काम नहीं निकाल लेती हैं और घर का प्रबंध नहीं कर लेती हैं।''[54] स्त्री–शिक्षा के महत्व को समझाते हुए लेखक द्वय ने मथुरादास से कहलवाया है कि ''अब क्या काम निकालती हैं सौ तक गिन्ती तो उनको आती भी नहीं जो सौ रूपये गिनेगीं तो बीस–बीस करके पाँच जगह रक्खेंगी–जितने कपड़े धोने को देंगी उतनी ही लकीरें भीत पर खींच देंगी सोचिये तो कहीं यों हिसाब–किताब रखा जाता है और घर का प्रबंध जैसा वह करती हैं वह सब आप और मैं दोनों जानते है ।''[55] उन्नसवीं सदी में स्त्री–शिक्षा के समर्थकों में भी दो वर्ग थे। एक वर्ग वह था जो केवल शिक्षित करने का समर्थन कर रहा था। दूसरा वर्ग वह था जो स्त्रियों को मात्र शिक्षित करने की बात नहीं कर रहा था बल्कि उनको उच्च शिक्षा भी देने के पक्ष में था। उनके विचार के पीछे मुख्य कारण यह था कि स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने बारे में स्वयं सोचे। उच्च शिक्षा के समर्थकों में ईश्वर चंद विद्यासागर

और ज्योतिबा फूले को देखा जा सकता है। पहले वर्ग में स्त्रियों को शिक्षित करने का समर्थन करने वालों में भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, लाला लाजपत राय और लालचंद आदि प्रमुख थे।

''स्त्री–शिक्षा की वकालत करने वाले अनेक लोगों में दयानंद सरस्वती अपने आप को यह कहते हुए अलग कर लिया कि लड़कियों की शिक्षा का चरित्र' लड़कों की शिक्षा से भिन्न होना चाहिए ... हिन्दू लड़की को हिन्दू लड़कों से भिन्न प्रकृति के कार्य करने होते हैं। अतः मैं उस व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करूँगा जो उन्हें उनके राष्ट्रीय चारित्रिक गुणों से वंचित कर दें। हम अपनी लड़कियों को ऐसी शिक्षा नहीं देंगे जो उनकी सोच को बदल दे।''[56] समाज के कुछ ऐसे लोग भी थे जिनको तत्कालीन समाज का महानायक घोषित किया जाता है। स्त्रियों को लेकर उनके कुछ विचार सम्मान करने योग्य नहीं हैं। हिन्दी नवजागरण के प्रमुख रचनाकार प्रताप नारायण मिश्र ने पतिव्रता स्त्रियों के आकाल पड़ जाने की चिन्ता जाहिर करते हुए लिखा है कि ''बहुत सी दो दो चार–चार पैसे की ऐसी पुस्तकें छप गई हैं जो पुरूषों के लिए खैर जी बहलाने को अच्छी सही, पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं। बाबू साहब बाजार से ले आए घर में डाल दिया। बबुआईन साहिबा ने खोल कर पढ़ा तो ..... भला कौन आशा करे। ..... ऐसी किताबें बाबू साहब खरीदकर लाए और पढ़े तो जी बहलाना हुआ जिसमें कोई बुराई नहीं। पर बबूआईन इसे हर्गिज न पढ़े। उन्होंने इसको पढ़ा की व्यभिचारिणी हुई।''[57] यानी प्रतापनारायण मिश्र स्त्री–शिक्षा को ही मानते हैं। इसी बात को मुंशी कल्याण राय और मुंशी ईश्वरी प्रसाद ने 'वामा शिक्षक' में शामिल करते हुए स्त्रियों को ऐसी किताबें पढ़ाने का समर्थन किये हैं जिसमें बुरी बातों से कोई मतलब न हो। इसमें मथुरादास कहता है कि ''उनको ऐसी पुस्तकें नहीं पढ़ाई जाएँगी जिसमें वुरी–वुरी कहानियाँ हो जो मन को विगाड़े।''[58]

भारत में सदियों से पितृसत्तात्मक समाज रहा है। इसमें स्त्री को हमेशा पुरूष के अनुकूल ढालने की कोशिश की गई है। मानसिक रूप से गुलाम स्त्रियों ने पुरूषों के इस काम में बराबर सहयोग दिया है। जब भी किसी कार्य की चर्चा की गई, उसमें पुरूषों का ध्यान रखा गया। पुरूषों ने स्त्रियों के लिए नियम अपने अनुकूल ही बनाए ताकि उनका

शोषण आसानी से कर सकें। शोषण करने के लिए पुरूष समाज द्वारा सबसे पहले स्त्रियों से उनकी आर्थिक स्वतंत्रता छीनी गई इसके बाद सामाजिक और धीरे–धीरे उनकी मानसिक स्वतंत्रता भी जाती रही। पितृसत्तात्मक समाज ने हमेशा अपने लाभ की बात की है चाहे वह अर्थ, राजनीति, धर्म या शिक्षा का क्षेत्र क्यों न हो। इस उपन्यास में जमुनादास अपनी लड़कियों को शिक्षा देने के बारे में कहता है कि ''जो लड़कों को पढ़ाओ तो एक वात है वह कचहरी दर्वार में जाकर नौकरी करेगें खत पत्तर और अर्जियाँ लिखना सीखेंगे और लड़कियों तो वड़ी होकर घर में वैठेंगी वह लिख पढ़कर कहाँ नौकरी करने जायेंगी''[59] उपुर्यक्त तथ्य उस समय में स्त्रियों की दशा को दर्शाता है। पीढ़ी दर पीढ़ी स्त्रियों का गुलाम (उपेक्षित) होते देखकर हर अगली पीढ़ी इसको इसी रूप में देखना चाहती है। ऐसी दृष्टि मात्र उन्नीसवीं सदी के लोगों की नहीं थी बल्कि आज भी बहुसंख्यक वर्ग उसी परंपरावादी मानसिकता में जीवन–यापन कर रहा है। स्त्रियों के साथ शिक्षा के क्षेत्र में ही ऐसा नहीं हुआ, अन्य क्षेत्रों में भी उनकी उपेक्षा होती रही जिसके कारण समाज का सर्वांगिण विकास जैसा होना चाहिए नहीं हो सका। इस संबंध में विचार करते हुए श्रीमती राज कुमारी देवी ने 'स्त्री–दर्पण' पत्रिका में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता' शीर्षक लेख में लिखा है कि ''भारत वर्ष में ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं जो स्त्रियों को मूर्खता के घोर अन्धाकर में फँसा देखकर मन में कुढ़ते हों। स्त्रियों की अज्ञानता से बहुत हानि होती है। जब तक यहाँ की देवियाँ पढ़–लिखकर चतुर न हो तब तक देश की उन्नति की आशा नहीं है दूसरे बालकों की शिक्षा जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हो सकती और इसी कारण से लड़के सुशील गुणवान नहीं होते। होवें कहाँ से जब उनकी माताएँ अशिक्षित हैं।''[60]

पितृसत्ता का समर्थक कोई भी समाज हो वह हमेशा पुत्र की कामना करता है। अगर किसी को एक भी लड़का पैदा नहीं होता तो वह लड़कियों को लेकर ही संतोष जाहिर करता है। इसमें लाल भगवान्दास के दोनों पुत्रों में किसी को लड़का पैदा नहीं होता है, वे दुःखी मन से कहते है कि ''जैसे लड़के वैसे ही लड़कियाँ क्या लड़कियाँ कहीं और से आती हैं फिर हमारा मनोरथ ईश्वर पूरा करेगा।''[61] पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को स्वीकार करना समाज की मजबूरी रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री पुरूष को लेकर ही ऐसे

भेद–भाव नहीं थे बल्कि आज के परिवेश में अधिकांश लोग इस मनसिकता से मुक्त नहीं हैं। यह बात केवल पुरूष के संदर्भ में नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी में भी स्त्रियाँ लड़कियों का पैदा होना दुर्भाग्य समझती थीं और आज भी कुछ स्थिति वैसी ही है। इसके पीछे उनकी पुरूषवादी गुलाम मानसिकता ही जिम्मेदार है। उन्नीसवीं सदी की स्त्रियों में अशिक्षा को मुख्य कारण माना जा सकता है। जब आज के समय में एक स्त्री एक स्त्री को स्वीकार नहीं करती तो इससे बड़ी बिडंवना और क्या हो सकती है। यह हमारी पिछड़ी मानसिकता की पहचान है। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में लेखक द्वय ने केवल पुरूष मानसिकता को व्यक्त किया है, परन्तु इससे पूर्व गौरीदत्त द्वारा लिखित उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में स्त्री की स्त्री के प्रति क्या मानसिकता है, इसको देखा जा सकता है। लाला भगवान्दास अपनी पोतियों को स्वीकार तो कर लेते हैं, पर उनकी इच्छा का पता उनकी मृत्यु के समय चलता है वे कहते हैं कि "मुझको भगवान् ने सव कुछ दे रक्खा है और कोई दुख मुझको न था– पर मेरी तो यह उमंग जीकी जीमें रही कि एक पोता मेरे सामने हो जाता।"[62]

उन्नीसवीं सदी में चलाए जा रहे स्त्री सुधार आन्दोलनों में विधवा–पुनर्विवाह प्रमुख मुद्दा था। उस समय में विधवा–विवाह के समर्थकों का रूढ़िवादियों ने घोर विरोध किया और विधवाओं को उनके हाल पर छोड़ देने का समर्थन किया। विधवा–पुनर्विवाह उस समय के निम्नवर्ग में तो प्रचलित था, लेकिन उच्च वर्ग इसे स्वीकार नहीं कर रहा था। पं0 गौरीदत्त के 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही 'वामा शिक्षक' में भी स्त्रियों के माध्यम से उच्च वर्ग में विधवा–पुनर्विवाह प्रचलित नहीं होने की आलोचना की गई है। सदियों से शिक्षा से वंचित स्त्री, अंधेरे के इतने गहरे गर्त में जा पड़ी कि उसका आत्मविश्वास लुप्त हो गया, अपने से ज्यादा पुरूषों पर विश्वास करने लगी। स्त्रियों ने समय के साथ–साथ मान लिया कि पुरूष श्रेष्ठ हैं और उनके बिना हमारा अस्तित्व नहीं हैं और पितृसतात्मक समाज ऐसा ही चाहता था। इस उपन्यास में गंगा नामक पात्र जो कि पढ़ी–लिखी है वह अपनी बहन राधा से कहती है कि "अरी वहन तू कैसी वातें करती हैं मर्दों को औरतों से कुछ जियादह ही समझ होती है।"[63] यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी में

स्त्रियों ने यह मान लिया था कि पुरूषों को हमसे ज्यादा समझ होती है। पुरूषवादी समाज हमेशा अस्मिता विहीन स्त्री की कल्पना करता रहा है। इस उपन्यास में लेखक द्वय ने स्त्रियों की आलोचना करते हुए लिखा है कि ''औरतों की मूर्खता से मर्दों का नाक में दम हैं''[64]

उन्नीसवीं सदी में पश्चिम के संपर्क में आने के फलस्वरूप नए ज्ञान, विज्ञान और शिक्षा से परिचित होकर आए नए बुद्धिजीवी वर्ग ने जब अपने घर की स्त्रियों की ओर दृष्टि डाली तो वे अंग्रेजों की स्त्रियों से तुलना करने पर अपनी स्त्रियों को हीन अवस्था में पाये। अतः यही पढ़ा–लिखा वर्ग अपने घरों में स्त्रियों को शिक्षित करने लगा। 'वामा शिक्षक' में गंगा और किशोरी की भी शिक्षा घर में ही हुई। जिनको मुंशी कल्याण राय और मुंशी ईश्वरी प्रसाद ने आदर्श माता–पिता की आदर्श बेटी के रूप में प्रस्तुत किया है।

भारत में नये विचारों के उदय के बाद भी स्त्री–शिक्षा को उपयोगिता से ही जोड़कर देखा जाता रहा है। पितृसत्तात्मक समाज में ज्यदातर माता–पिता का दृष्टिकोण अक्सर लड़कियों के प्रति यही रहता है कि पढ़–लिखकर क्या करेंगी ? उनको भेजन ही तो बनाना है ? उसको कौन सी नौकरी करनी है, इनको पढ़ाने से हमें क्या लाभ ये तो अपने घर चली जाएँगी, आदि ऐसी मानसिकता को लेकर उन्नीसवीं शताब्दी का बहुसंख्यक वर्ग ही नहीं जी रहा था, आज के आधुनिक समय में यह उदाहरण आमतौर पर देखा और सुना जा सकता हैं। 'वामा शिक्षक' में एक पात्र जमुनादास कहता है कि ''मैंने माना कि लड़कियों का पढ़ना–लिखना बहुत अच्छा और पढ़ाने की चर्चा हो गई है पर जो मैं लड़कियों को पढ़ाऊँ तो मुझकों क्या लाभ होगा–लड़कियाँ पराए घर का धन हैं विवाह हुए पीछे अपने–अपने घरों को चली जायँगी फिर मैं अपना रूपया उनके पढ़ाने लिखाने में क्यों खर्च करूँ और झगड़े में पड़ूँ''[65]

इस बात को लेखक द्वय ने स्त्रियों से होने वाली गलतियों की ओर गंगा के माध्यम से संकेत कराते हुए कहलवाते हैं कि ''जो सोचो तो औरतों का खोट भी नहीं वह तो अपनी जान में जो कुछ करती हैं, वह अच्छा ही करती हैं यह सब उनकी समझ का खोट है। लड़कपन में लड़कों और लड़कियों के बुद्धि में कुछ भेद नहीं होता वरन लड़कियाँ

लड़कों से अधिक बुद्धिमान होती हैं। हाँ यह मूर्ख रहती हैं और कुछ पढ़ती–लिखती नहीं। इसलिए उनसे मूर्खता पूर्ण बातें होती हैं।''[66] स्पष्ट है कि स्त्री की सोच और समझदारी के पीछे अशिक्षा ही रही है। जिसके कारण वह गलत कामों को सही मानकर करती चली आ रही हैं।

'वामा शिक्षक' उपन्यास में 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही उसी स्त्री को श्रेष्ठ दिखने की कोशिश की गई है जो पढ़–लिखकर गृहस्थ धर्म का पालन कर सके। इसमें स्त्री को पुरूष के समान स्वतंत्रता, समानता और शिक्षा देने की बात नहीं की गई, बल्कि उसकी सेवा करने वाली अस्मिता विहीन स्त्री को दिखाया गया है। लेखक द्वय अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा हैं कि ''जो तुम गंगा और किशोरी का सा चाल चलन सीखोगी तो वैसे ही तुम्हारा जीवन सुख से वीतेगा दुःख तुम्हारे पास को भी नहीं फटकेगा और जो कोई लड़की राधा पार्वती का सा चाल चलन और हठ सीखेगी वह सदा दुःख विपत् में फँसी रहोगी जैसा राधा अपनी मूर्खता से संतान के दुःख में फँसी रही सदा उसका पति उससे क्रुद्ध रहा और संतान के दुःख में अन्धा हो गया।''[67] यहाँ स्पष्ट है कि लेखक द्वय का उद्देश्य स्त्रियों को उच्च शिक्षा देकर पुरूषों के समान स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्थापना करना नहीं था। लेखक द्वय द्वारा स्त्रियों को केवल गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने मात्र का समर्थन किया गया है। उनको घर के दायरे से बाहर लाकर देखने की बात नहीं की। 'देवरानी–जेठानी की कहानी' के समान ही 'वामा शिक्षक' उपन्यास में लेखक द्वय ने केवल स्त्रियों के अवगुणों को दिखाने में ज्यादा रूचि दिखायी है। फिर भी यह उपन्यास तत्कालीन स्त्रियों की स्थिति को बखूबी दर्शाता है।

नागरी आन्दोलन की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी में हुई इसका सबसे बड़ा कारण था उस समय में उर्दू को सरकार द्वारा हिन्दी से अधिक महत्व दिया जाना। उन्नीसवीं शताब्दी में चल रहे इस आन्दोलन के फलस्वरूप तीन वर्ग सामने आऐ– एक वह वर्ग था जिसने केवल उर्दू का समर्थन किया जिसके प्रतिनिधि के तौर पर सर सैयद अहमद खाँ को देखा जा सकता है। दूसरा वह वर्ग था जो केवल हिन्दी का समर्थन कर रहा था जिसके प्रतिनिधि के तौर पर राजा लक्ष्मण सिंह को देखा जा सकता है। तीसरा वह वर्ग था जो

हिन्दी–उर्दू दोनों पढ़ाए जाने का समर्थन कर रहा था इसके प्रतिनिधि के तौर पर राजा शिवप्रसाद 'सितरेहिन्द' को देखा जा सकता है। इस संदर्भ में तत्कालीन सरकार अपनी दोहरी भूमिका निर्वाह करते दिखाई देती है। उस समय राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और सर सैयद अहमद खाँ दोनों सरकार के विश्वास पात्रों में थे। इस कारण से सरकार कभी नागरी का समर्थन करती तो कभी उर्दू का। ब्रिटिश सरकार हमेशा दोनों को खुश करने में लगी रही। वैसे भी सरकार का झुकाव उर्दू की तरफ अधिक था। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने हिन्दी की स्थिति देखते हुए मध्यम मार्ग को अपनाया और उर्दू मिश्रित हिन्दी लिखने का समर्थन किया। इसके लिए उन्होंने अनेक पुस्तकों का लेखन कार्य किया। राजा शिवप्रसाद 'सितरेहिन्द' अंग्रेजों का हित चाहने वालों में थे। इस बात को लेकर उनकी हमेशा आलोचना होती रही। इनका सही मूल्यांकन ठीक ढंग से हिन्दी साहित्य प्रेमियों और आलोचकों द्वारा नहीं किया गया। राजा साहब द्वारा 1868 ई0 में सरकार को भेजे गये मेमोरेण्डम में उर्दू को मात्र भाषा स्वीकार किया और हिन्दी में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का अधिकप्रयोग किये जाने की आलोचना की गयी। सात माह बाद भेजे गए दूसरे मेमोरेमण्डम में हिन्दी को मात्र भाषा कहा और फ़ारसी के कठिन शब्दों का अधिक प्रयोग की आलोचना की। इससे उनकी द्वन्द्वात्मकता का पता चलता है। चाहे जो हो पर राजा शिवप्रसाद 'सितरेहिन्द के इस योगदान को नहीं भूलाया जा सकता। जिन्होंने ऐसी विपरीत स्थिति में हिन्दी को बचाये रखा। अपने गुरू के इस आन्दोलन को भारतेन्दु एवं उनके समकालीनों ने आगे बढ़ाया और हिन्दी साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। हिन्दी में इसी नागरी आन्दोलन से प्रेरित होकर उपन्यासों की रचना की गई। 'वामा शिक्षक' ही नहीं लगभग सभी प्रारंभिक उपन्यासों ('देवरानी जेठानी की कहानी', भाग्यवती) में नागरी शिक्षा का समर्थन किया गया है।

सन् 1857 में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गय कृत्य की आलोचना करने का साहस तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग में नहीं दिखाई देता है। इसका कारण था 1857 की क्रांति को अंग्रेज़ सरकार द्वारा अमानवीय ढंग से कुचला जाना। इस क्रांति के दमन के दौरान शासन द्वारा अपने हितैषियों एवं विद्रोहियों के साथ एक सा व्यवहार किया गया। इस क्रांति का

प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'वामा शिक्षक' में इस क्रान्ति के बाद की स्थिति के बारे में मुगलानी नामक पात्र अपनी स्थिति के बारे में बताते हुए कहती है कि ''गदर के पीछे वागियों के मकानों के साथ मेरी दुकाने भी सरकार ने ज़ब्त कर ली और कुछ पूछ पाछ न की...''[68] इस क्रांति की असफलता के बाद बुद्धिजीवी वर्ग ने अपनी स्वतंत्रता के बारे में नए ढंग से सोचना प्रारंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप सन् 1885 ई0 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

'वामा शिक्षक' उपन्यास में उन्नीसवीं सदी में चल रहे सामाजिक, राजनैतिक, सांकृतिक और धार्मिक आन्दोलनों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति असंतोष तत्कालीन जनता में देखा जा सकता है। जिस असहयोग अन्दोलन की बात गाँधी जी ने 1920 ई0 में की, उसकी पृष्ठभूमि 19वीं सदी से ही तैयार हो रही थी। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय इसका समर्थन अपने पात्रों से कराते हैं। अपने पति को सरकारी नौकरी छोड़ कर व्यापार करने की सलाह देते हुए गंगा कहती है कि ''वहुत लोग लाचारी को नौकरी करते हैं और शहर के लोग अपने मतलव के लिए उनकी इज्जत करते हैं गुलाम तो कभी काम को टाल भी देता है पर नौकर कभी नाँह नहीं कर सक्ता...नौकरी की वुराई तो लोगों में यहाँ तक प्रसिद्ध है कि लोग नौकर और कूकर को वरावर समझते हैं...।''[69] यह उपन्यास तत्कालीन चल रहे स्त्री संबंधित आन्दोलनों के साथ विसंगतियों को भी सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है।

'वामा शिक्षक' में लेखक द्वय ने रोजमर्रा की बोल–चाल की भाषा का प्रयोग किया है। किस्सागोई की शैली में पूरे उपन्यास की रचना की गयी है। इसमें कथा का अकार विस्तृत होने पर भी लेखक द्वय कथा की अन्तरिम सूत्रबद्धता बनाये रखा है। इसके बावजूद इसमें औपन्यासिक तत्वों का अभाव दिखता है। इसमें अध्यायों का बटवारा पात्रों के नाम पर किया गया है जैसे–गंगा का हाल, किशोरी का हाल, राधा का हाल, पार्वती का हाल। इस उपन्यास में विराम, अल्पविराम, हाइफन, प्रश्नवाचक चिह्न, विस्मय बोधक चिह्नों के प्रयोग पर ध्यान लगभग नहीं के बराबर दिया गया है। कर्ता, क्रिया, सहायक क्रियाओं का समुचित ध्यान नहीं रखा गया है जैसे– ''वहुत लोग लाचारी को नौकरी करते हैं।''[70] इसके साथ ही

सही शब्द चयन का अभाव तो दिखता है जैसे ब के जगह व का ही प्रयोग किया गया है। इसका कारण था उस समय ब का प्रचलन नहीं होना था। इसमें मात्रात्मक त्रुटियाँ अधिक दिखाई देती हैं जैसे– 'लकीर' को लकिर तो कहीं लकीर, 'कीजिए'– को कहीं कीजियो तो कहीं कीजिए, तुम्हारे– कहीं तुम्हारे तो कहीं तुस्लारे लिखा मिलता है। एक शब्द को दो बार लिखने की जगह शब्दों के आगे 2 लिखा गया है जैसे– थोड़ा–थोड़ा के स्थान पर थोड़ा2, धीरे–धीरे के धीरे2, साथ–साथ के स्थान पर साथ2 आदि लिखा गया है और कहीं कर्ता का रूप बदला हुआ दिखाई देता है तो कहीं सर्वनाम का रूप बदला हुआ दिखाई देता है और कहीं क्रिया का। इस उपन्यासों में भाषिक संरचना को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना की कथ्य की। फिर भी प्रारंभिक उपन्यास की दृष्टि से इस क्षेत्र में एक बेहतर प्रयास है। इस उपन्यास में लोक व्यवहार समान्य बोल चाल की भाषा का प्रयोग किया गया है. जो उस समय पश्मिोत्तर भारत में बोली जाती थी। शिल्पगत् इतनी त्रुटियाँ होने का सबसे बड़ा कारण दो लेखकों द्वारा लिखा जाना भी हो सकता है। फिर भी औपन्यासिक दृष्टि से 'वामा शिक्षक' उपन्यास अपना अलग महत्व रखता है।

भाग्यवती

पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा रचित 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही स्त्री–शिक्षा को केन्द्र में रखकर की गई है। इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन इनकी विधवा पत्नी महताब कौर ने 1877 ई0 में करवाया। इसकी रचना लड़कियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए पुस्तक के रूप में की गई थी। इसके मुख्यपृष्ठ पर लिखा है कि ''भाग्यवती, स्त्री शिक्षा की अपूर्व पुस्तक, श्रीमत पं0 श्रद्धाराम फुल्लौर निवासी रचित स्वदेशी बालिकाओं के उपकारार्थ श्री पं0जी की विधवा पं0 महताब कौर द्वारा प्रकाशित करवाय।''[71] संवत् 1934 वि0 तिथि लिखी गई है जिससे रचनाकाल का पता चलता है। प्रथम संस्करण से ही 'भाग्यवती' उपन्यास को लड़कियों को पढ़ने के लिए एक

अच्छी पुस्तक के रूप में स्वीकार किया गया। 'भाग्यवती' का प्रकाशन 1882 ई0 से 1812 ई. तक पाँच बार हुआ। इसकी प्रतियाँ भी सैकड़ों, हजारों में निकाली गई। उस समय किसी पुस्तक को इस तरह स्वीकार किया जाना बहुत बड़ी बात थीं इसकी माँग से इसकी लोकप्रियता का अंदाजा लगाया जा सकता है। उस समय निकल रहे अनेक पत्रों ने इसकी समीक्षा प्रकाशित की। 'हिन्दी प्रदीप' में जिल्द सं0 10, संख्या 8, अप्रैल ई0 में 'भाग्यवती' पर संक्षिप्त समीक्षा प्रकाशित हुई थी। बिहार से निकलने वाले 'बिहार बन्धु' नामक पत्र में 19 मई 1887 में लिखा गया है कि ''यह पुस्तक स्त्री शिक्षा के लिए बहुत अच्छी बनी है। इसमें 40 विषय हैं सब गृहस्थों को एक बार इसे देखना चाहिए। यह पुस्तक पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने स्त्रियों के उपकार के लिए बनाई थी पर छपने के पहले ही पंडित जी का देहान्त हो गया। इस उपकारी पुस्तक का पड़ा रखना उचित न समझकर उनकी स्त्री ने अबलाओं के हितार्थ छपवाया है। आशा है कि ईश्वर इनके उत्साह का फल देगा। दाम इसका सवा रूपया है। यह पुस्तक नीचे लिखे पते पर मिलेगी–पंडित श्रद्धारामजी का स्थान, फिल्लौर (जिला जालंधर)।''[72]

'भाग्यवती' उपन्यास में 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षक' से आगे जाकर स्त्री और उसके सामाजिक संबंधों के बारे में बात की गयी है। इस उपन्यास का मूलाधार स्त्री–शिक्षा है, लेकिन इसके साथ स्त्रियों से संबंधी तत्कालीन प्रमुख समस्याओं को शामिल किया गया है बाल–विवाह, बेमेल–विवाह और विधवा–विवाह इन पर अत्यन्त तर्क–पूर्ण ढंग से चर्चा की गई है जो इसके पूर्ववर्ती उपन्यासों (देवरानी जेठानी की कहानी और वामा शिक्षक) में देखने को नहीं मिलती है। इस उपन्यास में नवजागरण कालीन समाज–सुधार आन्दोलनों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। इस उपन्यास का भी मूल उद्देश्य स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देना है। इसकी भूमिका में पंडित गौरीदत्त ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ–धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी–लिखी तो होती हैं, परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश–विदेश की बोल–चाल और अन्य लोगों से

बरत व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनको विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना–कपड़ा, बरतन आदि पदार्थ को बैठी और घर बैठी किसी भी छली पुरूष के बहकाने से अपने हाथ से अपने घर का नाश कर लिया। ...... कई स्त्रियों को अपने घर के हानि–लाभ की ओर कुछ ध्यान न होने के कारण वे घर का सारा ठाठ बिगाड़ लेती हैं और कईयों के घरों को नौकर–चाकर लूट–लूट खाते हैं और उनको संयम और यत्न से कुछ काम नहीं होता। कई स्त्रियाँ विपत काल में उदास हो के अपनी लाज को बिगाड़ लेती हैं और अयोग्य और अनुचित कामों से अपना पेट पालने लग जाती हैं। और कई विद्या से हीन होने के कारण सारी आयु चक्की और चरखा घुमाने में समाप्त कर लेती है।''[73] भूमिका देखने से ऐसा लगता है कि उपन्यास स्त्रियों पर केंद्रित है, जिसमें उनको क्या, कैसे और कब करना चाहिए इस बात की शिक्षा दी गई हैं।

जहाँ 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षक' में पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में अन्तर बताया गया है। वहीं 'भाग्वयती' में पढ़ी–लिखी स्त्रियों में क्या गुण होने चाहिए। इस पर विशेष बल दिया गया है। इसमें उपन्यासकार ने यह दिखाने की पर्याप्त कोशिश की है कि पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ अपना सब काम किस प्रकार करती है, विपत्ति काल में भी कैसे धैर्य से काम लेती हैं। इसका नामकरण इसकी नायिका भाग्यवती के नाम पर किया गया है। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भाग्यवती को इसमें आदर्श रूप में प्रस्तुत किया हैं। भाग्यवती में सभी नैतिक मूल्यों को दिखाया गया है जो भारतीय नारी में होने चाहिए। 'भाग्यवती' के पूर्व लिखे गये हिन्दी के दोनों उपन्यासों में लेखकों ने भी पढ़ी–लिखी स्त्रियों को अपने आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हुए उनमें नैतिक मूल्यों को दिखाया है। पढ़ी–लिखी स्त्रियों में तमाम चारित्रिक विशेषताएँ दिखाने का सबसे बड़ा कारण स्त्री–शिक्षा को प्रेरित करना था।

'भाग्यवती' उपन्यास में दो परिवारों की कहानी है पंडित उमादत्त को एक लड़का और लड़की है। लड़के नाम लालमणि तथा लड़की का नाम भाग्यवती है। भाग्यवती को घर पर ही पढ़ने–लिखने के साथ–साथ अन्य शिक्षाएँ दी जाती हैं ताकि वह गृहस्थ धर्म में निपुण हो सके। भाग्यवती का विवाह पं0 जगदीश के लड़के शास्त्री राममनोहर से होती है। भाग्यवती पढ़ी–लिखी होने के कारण अपना सब काम सही ढंग से करती हैं घर में उसके

अच्छे कार्यों के कारण सम्मान मिलने लगता है लेकिन घर की स्त्रियाँ ईर्ष्या के वश में होकर चोरी का अरोप लगकर उसे घर से निकलवा देती हैं। भाग्यवती इन परिस्थितियों का धैर्य के साथ सामना करती है। भाग्यवती अपने से सिलाई का काम करते–करते काफी संपति जुटा लेती है। उधर उसके घर वाले बुरी आदतों के कारण सारी सम्पति गवाँ देते हैं उस समय भाग्यवती उनकी मदद करती है। अन्ततः जिस छल से भाग्यवती को घर से निकाला गया था उसका पर्दाफाश होता है और भाग्यवती को पुनः स्वीकार कर लिया जाता है।

श्रद्धाराम फिल्लौरी ने इस उपन्यास में स्त्री–शिक्षा, बाल–विवाह, विधवा–विवाह आदि पर विचार अपने पात्र पं0 उमादत्त और उनकी पत्नी के प्रश्नोत्तर के माध्यम से व्यक्त किए हैं। पंडित उमादत्त अपने पुत्र के विवाह के बारे में कहते हैं कि ''मैं अपने पुत्र का विवाह अठारह वर्ष के पीछे करूँगा।''[74] इस बात को लेकर उनके पुत्र के बारे में अनेक प्रकार की बातें फैल जाती हैं। जिसके बारे में बताते हुए उमादत्त की पत्नी कहती है कि ''मैं कल गंगा स्नान को गई, एक स्त्री मुझे आपकी दासी समझ के पूछने लगी, पंडित जी तुम्हारे पंडित जी तो बड़े प्रतिष्ठित और सब राजा बाबू उनकी मानता करते और काशी राज की पाठशाला में सौ रूपये महीना पाते सुने जाते हैं, इसका क्या कारण है कि उनका बेटा सोलह वर्ष का हुआ आज लों अभी मंगनी भी नहीं उठी?''[75]

उस समय बाल विवाह की प्रथा जोर–शोर से समाज में प्रचलित थी। जिस लड़के का विवाह सोलह वर्ष की आयु से पहले न होता तो उसके चरित्र को लेकर समाज में अनेक भ्रांतियाँ फैल जाती थी। यह तत्कालीन लोगों की मानसिकता का ज्वलंत उदाहरण है। इस समस्या के बारे में पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी को बखूबी जानकारी थी। उस समय अगर कोई अपने बच्चों के सुखी भविष्य के बारे में सोचकर उनका विवाह नहीं करता तो यह समाज के लिए बहुत बड़ी बात होती थी। चारित्रिक एवं शारीरिक दोष को लेकर अनेक प्रश्न उठ जाते थे। इन प्रश्नों का कुछ लोग तो सामना कर लेते थे परन्तु कुछ लोग इससे परेशान होने से बचने के लिए बाल विवाह ही कर देते थे। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने बाल विवाह होने से पारिवारिक जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के बारे में लोगों को

समझाने का यथासंभव प्रयास किया है। इस बात की चर्चा करते हुए अपने पात्र पंडित उमादत्त के मध्यम से कहते हैं कि ''सुनो विवाह उस समय करना चाहिए कि जब बालक आप ही स्त्री का भूखा हो। जिसका छोटी अवस्था में विवाह हो जाय उसका स्त्री में अत्यन्त प्रेम कभी नहीं हो सकता। ..... इसका यही कारण है कि छोटी अवस्था में विवाह हो जाने के कारण अपनी स्त्रियों में उनका पहला ही प्रेम न हुआ।''[76] यह स्पष्ट है कि कम उम्र में विवाह होने से पति–पत्नी में जो समझ विकसित होनी चाहिए नहीं हो पाती है। न ही दोनों में इतनी आपसी समझ ही होती है कि एक दूसरे से संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ सकें। इन कारणों से दोनों (स्त्री–पुरूष) में आपसी मतभेद की स्थिति बनने की सम्भावना ज्यादा रहती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बाल विवाह का विरोध करते हुए सितम्बर 1884 की कविवचन सुधा में 'बाल विवाह' नामक लेख में बाल विवाह की तुलना कन्या वध से करते हुए लिखा है कि ''बचपन में बाल विवाह कर देना कन्या बधकी अपेक्षा अधिक हानिदायक है, क्योंकि वह तो एक घड़ी का झगड़ा था कि जिसमें वह कन्या अचेतन दशा में रहती हैं पर यह बाल्यावस्था का विवाह जीवन भर हर कन्या को सताया करता है।''[77] बालकृष्ण भट्ट ने बाल विवाह करने वाले भारतीय माता–पिता पर अपना आक्रोश प्रकट करते हुए कहा कि ''हिन्दुस्तान के माँ–बाप गोली मार देने लायक हैं, जो अपने लड़कों की शिक्षा आदि का ख्याल न करके उनकी शादी बचपन में ही कर देते हैं मानों अपने लड़कों की शादी कर देना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है।''[78] 19वीं सदी में बाल–विवाह अपने चरमोत्कर्ष पर था इसको लेकर तत्कालीन समाज में अनेक रूढ़ियाँ प्रचलित थीं। पंडित उमादत्त अपने लड़के की शादी कम उम्र में करने से इनकार कर देते हैं। तो उनकी पत्नी भाग्यवती का विवाह जल्दी करने का सामाजिक दबाव बनाते हुए कहती हैं कि ''इसका आपने कहीं आज तक नाम भी नहीं रखा। क्या आप यह नहीं जानते कि अच्छे घरों के बालक पाँच–छः वर्ष के ही रोके जाया करते हैं सो बतलाइए कि आप इस भाग्यवती को और बड़ी करोगे तो किस कुएँ मे गिराओगे ?''[79] उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में बाल–विवाह के कारण लोग अपने लड़कों का विवाह पाँच या छः वर्ष में कर देते थे। अगर कोई अपनी लड़की का विवाह ज्यादा (11–12) वर्ष की उम्र में करने को सोचता भी था, तो उनके सामने सबसे बड़ी समस्या यह आती थी कि लड़की की शादी के लिए अच्छा घर

और लड़का। इन समस्याओं के फलस्वरूप ऐसा न चाहते हुए भी अधिकांश लोग कम उम्र में ही विवाह कर देते थे। उन्नीसवीं सदी में चलाए जा रहे समाज–सुधार अन्दोलनों से लोगों का अप्रभावित होने का सबसे बड़ा कारण बहुसंख्यक वर्ग का अशिक्षित होना था। तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग इन प्रचलित रूढ़ियों को बखूबी समझ रहा था और लोगों को समझाने का प्रयास भी कर रहा था। 'भाग्यवती' उपन्यास में उमादत्त की पत्नी द्वारा अनेक सामाजिक मान्यताओं का स्मरण दिलाए जाने पर भी उमादत्त भाग्यवती का विवाह 11 वर्ष से पहले नहीं करना चाहते हैं। पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी बाल–विवाह का विरोध करते हुए उमादत्त से कहलवाते हैं कि ''क्या तुमने मनुष्य और स्त्री की रूचि और स्वभाव में कुछ भेद रखा हैं? भला यह तो सोचो कि जब मनुष्य को अठारह वर्ष से पीछे स्त्री की पूरी रूचि नहीं होती है तो स्त्री को ग्यारह से पहले कैसे होनी चाहिए। देखो सेठ रामरत्न ने सात वर्ष की कन्या का विवाह करके, जब दो वर्ष पीछे उसका पति मर गया तो कितना दुःख उठाया?''[80] पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने बाल विवावह से उत्पन्न होने वाली सामाजिक समस्याओं के बारे में लोगों को जागृत करने का प्रयास किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में बाल विधवाओं की संख्या अन्य विधवाओं की अपेक्षा ज्यादा थी। इसका एक कारण विधवा पुनर्विवाह नहीं होना भी था।

पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने बाल–विवाह का विरोध तो किया साथ में बेमेल विवाह से होने वाली समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान दिलाने की कोशिश की। इस उपन्यास में लेखक ने पं0 उमादत्त नामक पात्र के माध्यम से बेमेल विवाह से होने वाली हानियों को एक कथा के माध्यम से स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''उदयराम शुक्ल ने हमारे रोकते–रोकते अपनी नौ वर्ष की भतीजी का विवाह एक बत्तीस वर्ष के ब्राह्मण के साथ कर दिया था। अब वह नेपाल के राजा के यहाँ नौकर है और वह घर में बैठी बाट देख रही है। ..... मोहन लाल की गली में एक वैश्य की विधवा लड़की को गर्भ गिराने के दोष में तीन वर्ष की कैद में गई? सो हम सत्य कहते हैं कि ये सब उपद्रव इसी कारण हुए कि उनके माँ–बाप ने छोटी अवस्था में विवाह कर दिए थे कि जब स्त्री को पुरूष और पुरूष को स्त्री में रूचि नहीं होती।''[81] स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि बेमेल–विवाह होने से स्त्री या पुरूष की

मानसिक क्षमता भावनात्मक स्तर की स्थिति अलग–अलग होती है, जिससे उनको अनेक प्रकार की मानसिक, शारीरिक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। बाल–विवाह होने से स्त्री–पुरूष में आपसी समझदारी का अभाव तो देखा ही जाता है साथ में सामाजिक संबंधों की। उनको अच्छी तरह जानकारी नहीं होती। पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी ने आगे बाल–विवाह की शुरूआत के बारे में चर्चा करते हुए मुसलमानों को जिम्मेदार ठहराया है। इनकी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुसलमानों के आक्रमण के बाद बाल–विवाह का भारत में प्रचलित हुआ, पर प्रश्न उठता है कि उसके बाद ऐसा क्यों ? नवजागरण काल के लगभग सभी उपन्यासकारों को देखें तो उनमें मुसलमानों के प्रति नकारात्मक रूप देखने को मिलता है। जहाँ हिन्दी नवजागरण काल के लेखकों ने मुसलमानों की बुराई की है, वहीं अंग्रेजों और उनके कार्यों की बड़ाई इस हद तक की है कि वह चापलूसी लगती है। 'भाग्यवती' उपन्यास में अंग्रजों की प्रशंसा करते हुए पं0उमादत्त कहता हैं कि ''सो अब तो ईश्वर ने हमको उस महाराज अंग्रेज की प्रजा बनाया है कि जो कभी अन्याय नहीं करना चाहता, फिर अब छोटी अवस्था में लड़की–लड़कों के विवाह करने में क्या प्रयोजन है।''[82] यहाँ तो अंग्रेजों की प्रशंसा बाल–विवाह के प्रसंग में की गई है परन्तु इस उपन्यास की नायिका भाग्यवती जिसको पूरे उपन्यास में चतुर और हर परिस्थिति को समझ कर अपना कार्य संपादन करने वाली दिखाया गया उसके माध्यम से अंग्रेजी राज के न्याय और शासन की सराहना करवाते हुए कहलवाया है कि ''इनके समान चतुर और प्रजा का भला चाहने वाला राजा कौन है।''[83]

यह स्पष्ट है कि पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी तत्कालीन सामाजिक दबाओं की चिन्ता तो कर रहे थे लेकिन अंग्रेजों की गलत धारणाओं को आलोचना करने का साहस नहीं कर सके। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री–सुधार संबंधी जितने आन्दोलन हुए थे, वह भारतीय जनता के अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के बाद हुआ। स्त्री–सुधार आन्दोलनों में अंग्रेजों द्वारा पर्याप्त सहायता मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों के सामने पारिवारिक समस्या या सामाजिक समस्या आकर खड़ी हो जाती थी। जिसके कारण कुछ समाज सुधारक अपने विचारों के विरूद्ध कार्य कर रहे थे। इनमें हम उदाहरण स्वरूप रानाडे को ले सकते हैं।

इन्होंने अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद पारिवारिक दबाव में अपने से आधी उम्र की लड़की से पुनर्विवाह किया। इनके इस कार्य से उनके समर्थकों को गहरा आघात पहुँचा। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी जो कि आर्य समाज के समर्थकों में से एक थे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे। अपने उपन्यास में पं श्रद्धाराम फिल्लौरी जब बाल–विवाह का विरोध पं0 उमादत्त के माध्यम से कराते हैं तो उसकी पत्नी कहती है कि ''महाराज यदि आपकी इच्छा है तो इस काम का आरंभ किसी और घर से करा देना, क्योंकि यदि अपने घर से इस बात को चलाओगे तो लोगों में आपकी बहुत अपकीर्ति होगी। बुद्धिमान तो वही है कि जो ऐसे कामों को किसी दूसरे के घर से आरम्भ करे कि जिसमें आप अलग का अलग रहे और काम पूरा हो जाय''[84] इसका उत्तर देते हुए पं0 उमादत्त कहते हैं कि ''अच्छे काम में आगे होने से यदि थोड़े दिन अपकीर्ति भी हो तो डरना न चाहिए। और तुम यह भी सोचो कि जैसा हम अपने घर से इस काम को आरंभ करना नहीं चाहते, वैसे और कौन है कि जो अपने को इस अपकीर्ति से बचना न चाहेगा? ... हम तो यह भी सोचते हैं कि और भी जो व्यवहार जगत शास्त्र और बुद्धि से विरूद्ध केवल मूर्खों ने चला छोड़े हैं, वे सब तो धीरे–धीरे आप ही सब दूर हो जाएँगे।''[85] पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी तत्कालीन उन लोगों की मनः स्थिति को बखूबी समझ रहे थे जो पारंपरिक रूढ़िवादी व्यवस्था में सुधार चाहते हुए भी उसका विरोध अपने घर से प्रारंभ करने में अपने को अक्षम पा रहे थे। यह समस्या उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों की ही समस्या नहीं थी, इसको आज भी लगभग उसी रूप में देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में चल रहे समाज–सुधार आन्दोलनों में स्त्री–सुधार से संबंधी प्रमुख मुद्दों में सती प्रथा, बाल विवाह, परदा प्रथा, बहुविवाह, बेमेल विवाह, कन्या वध और विधवा पुनर्विवाह आदि को शामिल किया गया। उस समय चल रहे स्त्री–सुधार आन्दोलनों का रूढ़िवादियों ने बहुत बड़े स्तर पर विरोध किया। स्त्री विषय समस्याएँ ज्यादातर उच्च्व समझी जाने वाली जातियों में थी। विधवा–पुनर्विवाह जैसी प्रथा निम्न समझी जाने वाली जातियों में तो प्रचलित थी लेकिन उच्चवर्ग में इसको समर्थन प्राप्त नहीं था। इसकी अभिव्यक्ति हम 'भाग्यवती' उपन्यास में पंडित उमादत्त की पत्नी अर्थात भाग्यवती की मां के

माध्यम से देख सकते हैं। वह पं0 उमादत्त के गुरू जो कि विधवा विवाह के समर्थक थे उनकी आलोचना करते हुए कहती है कि ''क्यों न हो, मैंने सुना है कि एक बार तुम्हारे गुरु पंडित विश्वेश्वरनाथ जी भी जो इस काशी भर के सब पंडितों में शिरोमणि थे, एक ऐसी बुरी बात मुंह से निकाल बैठे थे कि जिसको सुन के धरती काँपती थी। चाहे उस समय उनके सामने कोई कुछ न उत्तर दे सका पर आप ही कहो तो, उन्होंने वह क्या बात मुंह से निकाल दी थी कि लड़की विधवा हो जाय उसका दूसरा विवाह हो जाना चाहिये? ईश्वर ने बड़ी दया की कि वह पंडितजी परलोक सिधार गये, नहीं तो इस खोटी बात को काशी में अवश्य चला जाते।''[86] उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट है कि सदियों से विधवाओं को लेकर लोगों में ऐसी धारणा बन गई थी लंबे समय से प्रचलित इस परंपरा को नए रूप में स्वीकारने की लोगों की मानसिक स्थिति नहीं थी। इस संबंध में हिन्दी नवजागरण काल के प्रमुख रचनाकार पं0 बालकृष्ण भट्ट ने कहा है कि ''हमारी कुलबधू की शोभा इसी में है कि हर तरह के कष्ट झेलते हुए भी वह सतीत्व की रक्षा करे।''[87] उस समय के प्रबुद्ध रचनाकार बालकृष्ण भटट् विधवाओं की समस्याओं को समझाते हुए जब उनको उसी रूप में देखने के पक्षपाती थे तो उस समय के बहुसंख्यक अशिक्षित लोगों की इस संबंध में क्या धारणा रही होगी इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है।

पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी समाज सुधार आन्दोलनों से प्रभावित थे। इनके विचारों में भी आर्य समाज की छवि स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी विधवा पुनर्विवाह के समर्थकों में एक थे उन्होंने अपने उपन्यास में विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हुए अपने एक पात्र पं0 उमादत्त से कहलवाते हैं कि ''बहुत कम पुरूष देखे ऐसे जाते हैं जो अकेले रहने में अपने मन को बिगड़ने न दें, फिर स्त्रियों की तो क्या गति है।''[88] यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग विधवाओं की समस्याओं को स्पष्ट रूप से समझ रहा था और उसमें सुधार चाहता था। 'भाग्यवती' के पूर्व लिखे गए दोनों उपन्यासों में विधवाओं की समस्याओं की ओर मात्र संकेत किया गया है पर प्रश्न उठता है कि उसके बाद ऐसा क्यों जिसमें भाग्यवती के समान विधवा–विवाह का समर्थन किया गया हो।

उन्नीसवीं सदी में भी शिक्षित स्त्री को लेकर लोगों में अनेक पूर्वाग्रह प्रचलित थे। इस बात को तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग समझ रहा था। 'वामा शिक्षक' में इसकी अभिव्यक्ति देखी जा सकती हैं लेकिन 'भाग्यवती' में ये पूर्वाग्रह हमको दूसरे रूप में देखने को मिलते हैं। जब भाग्यवती पर घर की स्त्रियों द्वारा चोरी का आरोप लगा दिया जाता है तो पं0 जगदीश उसको घर से निकालने का आदेश देते हुए कहते हैं कि ''उस दुष्टा भाग्यवती को अभी पकड़ के घर से बाहर निकाल दो। सच है पढ़ी हुई स्त्री बड़ी खोटी होती हैं''[89] भाग्यवती के बारे में ऐसा सुनकर जो समाज उसकी प्रशंसा किए नहीं थकता था उसी में लोग कहते हैं कि ''भाई क्या हुआ जो उसने थोड़ी सी विद्या पढ़ ली थी, पर अन्त को तो स्त्री ही थी न।''[90]

पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी का मुख्य उद्देश्य था स्त्री शिक्षा के महत्व को लोगों के सामने स्थापित करना। उसी के अनुसार वे कथा को आगे बढ़ाते हुए भाग्यवती के चरित्र को सबकी नज़र में ऊँचा उठाते हैं। घर के सारे लोग अपनी गलतियाँ मान लेते हैं। जो लोग कल शिक्षित स्त्रियों की बुराई कर रहे थे, वही लोग स्त्रियों को शिक्षा देने का समर्थन करते हुए कहते हैं कि ''वे कैसे बुरे माता–पिता हैं कि जो अपनी संतान को विद्या नहीं सिखाते? धिक्कार है उन पर कि जो यह बात कहा करते हैं कि स्त्री को विद्या न पढ़ानी चाहिये और बड़े ही मूर्ख वे लोग है जो अपने मुख से ये बातें कहा करते हैं कि जो विद्या पढ़ी हुयी स्त्री बिगड़ जाती है क्या भाग्यवती स्त्री नहीं है कई वर्ष अपने पति से अलग रह के पवित्र रही? और क्या यह विद्या का ही प्रताप नहीं, कि विपत्काल में धैर्य–संतोष को हाथ से न छोड़ा? और क्या यह विद्या का प्रताप नहीं कि एक लोहे के तल से सहस्रों रूपयों का पदार्थ इकट्ठा कर लिया।'[91]

भारत सदियों से पितृसत्तात्मक समाज रहा है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की भूमिका को हमेशा नकारा गया है। इस समाज के समर्थकों ने अगर स्त्री को स्वीकार भी किया तो अपने स्वार्थ के लिए ताकि, उनके अस्तित्व पर कोई आँच न आए। पितृसत्तात्मक समाज में लड़की का पैदा होना दुःख का कारण माना गया है, और लड़के को सुख का। लड़की–लड़के को लेकर बने इस भेद का दोषी हमारा समाज ही रहा है। 'देवरानी जेठानी

की कहानी' उपन्यास में लड़की पैदा होने का दुःख देखने को मिलता है वहीं 'वामा शिक्षक' उपन्यास में लड़की को इसलिए स्वीकार किया जाता है कि कोई लड़का पैदा नहीं होता 'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती को लड़की पैदा होने पर उसका पति मनोहर दुःख प्रकट करता है तो भाग्यवती उसको लड़की–लड़के में समानता बताते हुये कहती है कि ''स्वामी! यह क्या बात है, यदि आप ऐसे बुद्धिमान हो के उदास होने लगे तो और कौन न होगा? क्या आप कन्या और बालक में कुछ भेद गिनते हो? ईश्वर की दृष्टि में तो कुछ भेद नहीं होता। यदि उसके यहाँ कुछ भेद होता तो कन्या के शरीर में भूख, प्यास, नींद, आदि व्यवहार कुछ अधिक न्यून होते फिर जन्म मृत्यु, बढ़ना–घटना भी समान ही दिखाई देता है। अब कहिए कि सोच करने का क्या प्रयोजन।''[92] फिर आगे विवाह के संबंध में बात करते हुए कहती है कि ''कोई बेटी–बेटे के विवाह पर वृथाधन का नाश न करे।''[93] उस समय पढ़े–लिखे लोग भी लड़की पैदा होने पर चिन्ता ग्रस्त हो जाते थे, इसका सबसे बड़ा कारण दहेज था। यह समस्या मात्र उन्नीसवीं शताब्दी की समस्या नहीं थी इसको उदाहरण के तौर पर आज के समाज में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

पितृसत्तात्मक समाज में पुरूषवादी मानसिकता से गुलाम स्त्रियाँ वही सोचती या करती हैं जो कि पुरुष के हित में होता है। जब एक स्त्री का दूसरी स्त्री के प्रति वही दृष्टिकोण हो जाता है। जो एक पुरूष का स्त्री के प्रति होता है। तब स्त्री के लिए एक स्त्री चुनौती के रूप में खड़ी हो जाती है। 'भाग्यवती' उपन्यास में जब भाग्यवती को लड़का पैदा होता है तो उसकी सास अपशकुन की चिन्ता करके लड़के को बांधने के लिए ताबीज लाती है तब भाग्यवती इसका विरोध करते हुए कहती है कि ''जब लड़की हुई थी तब तुमने मुझे कोई यंत्र और धागा बांधने को नहीं दिया था। वह आज लो जीती–जागती और भली–चंगी हैं। न तो उस पर किसी की नज़र ही लगी और न वह आज लो किसी देव, परी वा भूत की जोखिम में आई ही देखी गई हैं, फिर आप यह तो बताइए कि उसकी रक्षा किसने की।''[94] उपर्युक्त कथन में लड़के–लड़की के भेद का तो विरोध किया गया है साथ ही साथ में तत्कालीन समाज में प्रचलित तर्कहीन रूढ़ियों (झाड, फूँक) का भी खण्डन किया गया है।

पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की हमेशा उपेक्षा की गई है। सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक सभी स्तर पर इनको दबाया गया है। इनको इस समाज ने इतनी भी स्वतंत्रता नहीं दी कि वे अपने साथ हो रहे व्यवहार के बारे में पूछ सके, कि मेरे साथ ऐसा क्यों हो रहा है ? इस बात को पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी बखूबी समझ रहे थे भाग्यवती को किस लिए घर से निकाला जाता है उसको कुछ पता नहीं, घर पुनः वापस आने पर कहती है कि ''मैं तो आज लो इस बात को सोचा करती हूँ कि मेरे ससुरे और सासु मुझे किस अपराध पर घर से बाहर कर दिया ? और यदि कोई मेरा अपराध उनको जान पड़ा था तो मुझे सामने बुलाकर झूठी करते। मैं तो आज लों यही माने हुई बैठी हूँ कि पराई बेटी का किसी के घर में क्या मान होता है, जब चाहा, गाय, भैंस की नाई कान पकड़ के बाहर कर दी।''[95] इससे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति थी। इस बात की ओर लेखक ने सबका ध्यान दिलाकर स्त्रियों के बारे में सोचने की नई दृष्टि दी है।

'भाग्यवती' उपन्यास की रचना अपने पूर्ववर्ती लिखे गए दोनों उपन्यासों के समान ही स्त्री–शिक्षा को केंद्र में रखकर की गई है। इस उपन्यास में स्त्रियों से संबंधित प्रमुख मुद्दों बाल–विवाह, बेमेल विवाह, विधवा पुनर्विवाह और विवाह में व्यर्थ धन अपव्यय आदि पर जितने सार्थक ढंग से बात की गई है, वैसी बात इसके पूर्व लिखित दोनों उपन्यास 'देवरानी–जेठानी की कहानी' और वामा शिक्षक में नहीं मिलती है। इसमें भी पूर्ववर्ती दोनों उपन्यासों के समान ही स्त्रियों के गुण–दोषों पर ही ज्यादा ध्यान दिया गया है। 'भाग्यवती' उपन्यास अपने से पूर्व लिखित दोनों उपन्यासों से हर दृष्टि में आगे की रचना है।

'भाग्यवती' में तत्कालीन चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों का प्रभाव तो देख सकते हैं पर उस समय में हो रहे आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की ओर थोड़ा भी संकेत करने का प्रयास नहीं किया गया।

अगर 'भाग्यवती' को शिल्प की दृष्टि से देखा जए तो इसमें औपन्यासिक तत्वों का प्रायः अभाव कम देखने को मिलता है। इसकी रचना भारतीय कथा कहानी के पद्धति पर हुई है। इस उपन्यास की अर्न्तवस्तु उस समय चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों से ली

गयी है। कथा वस्तु की दृष्टि से देखा जाए तो यह एक सफल रचना है। इसकी रचना जन सामान्य में बोली जाने वाली भाषा में की गयी है, और इसमें संस्कृतनिष्ठ अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। उस समय में 'भाग्यवती' जैसी रचना करना अपने आप में बहुत बड़ा काम था। 'भाग्यवती' उपन्यास अपने पूर्ववर्ती लिखे गये दोनों उपन्यासों (देवरानी जेठानी की कहानी और वामा शिक्षक) शिल्प की दृष्टि से उतनी सशक्त रचना नहीं है।

'भाग्यवती' उपन्यास की कथा तत्कालीन मध्यवर्गीय हिन्दू परिवारों की कथा है जो लगभग सभी जगह देखने को मिलती है। इसकी पूरी कथा 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही कथा–कहानी के रूप में चलती है। इस उपन्यास में उस समय चल रहे समाज सुधार के मुद्दों को बड़े ही तर्क पूर्ण ढंग से उठाया गया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', और वामा शिक्षक के समान इसकी भी रचना स्त्री–शिक्षा को लेकर की गयी है। पूर्ववर्ती दोनों उपन्यासों और इसमें बस यही अन्तर है कि इसमें रचनाकार जितने मुद्दे उठाता है उनका हल खुद देने का प्रयास करता है। चाहे वह विधवा विवाह हो, बाल विवाह हो या बेमेल विवाह। इसके पूर्ववर्ती लिखे गये दोनों उपन्यासों में इन मुद्दों की ओर मात्र संकेत कर दिया है कोई समाधान देने की जहमत नहीं उठाई है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से देखा जाए तो अपनी कमजोरियों के बावजूद एक सफल रचना कही जा सकती है। इसके केंद्रिय पात्र के रूप में केवल दो ही पात्र हैं एक उमादत्त जी दूसरा भाग्यवती। पूरी कथा भाग्यवती के इर्द गिर्द घुमती रहती है। अन्य पात्र चरित्र–चित्रण की दृष्टि से महत्व भले नहीं रखते हो पर उनके रहने से कथा का जनसामान्य से संबंध बना रहता है।

इस उपन्यास में दिल्ली आगरा और अम्बाला आदि के आसपास बोली जाने वाली खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''इस ग्रंथ में वह हिन्दी भाषा लिखी है कि जो दिल्ली और आगरा, सहारनपुर, अम्बाला के इर्द–गिर्द के हिन्दू लोगों में बोली जाती है और पंजाब के स्त्री–पुरूषों को भी समझनी कठिन नहीं है। इस ग्रंथ में जिस देश और जिस भांति के स्त्री–पुरूषों के बारे में बातचीत हुई है वह उसी के बोली और ढंग से लिखी है अर्थात् पूरबी, पंजाबी, पढ़ अनपढ़

स्त्री और पुरूष गौण मुख्य जहाँ पर जो कोई जैसे बोला, उसी की बोली भरी हुई है।''[96] इस उपन्यास में भी कथ्य के साथ–साथ व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ उतनी नहीं जितनी की इसके पूर्ववर्ती दोनों उपन्यासों में है।

निःसहाय हिन्दू

राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र की आज्ञा से सन् 1881 में 'निःसहाय हिन्दू' नामक सामाजिक उपन्यास की रचना की। इस उपन्यास को राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र को समर्पित किया है। राधाकृष्णदास भारतेन्दु हरिश्चंद्र के बुआ के लड़के थे, अवस्था में इनसे 15 वर्ष छोटे थे। इनकी शिक्षा–दीक्षा भारतेन्दु के ही देख–रेख में हुई। जिसके कारण इनका भारतेन्दु से गहरा प्रेम था। इस उपन्यास की रचना के प्रेरणा स्रोत भारतेन्दु को मानते हुए निवेदन में लिखा है कि ''यह ग्रंथ पूज्यपाद स्वर्गीय भाई साहब बाबू हरिश्चंद्र जी के आज्ञानुसार बनाया गया किन्तु कई कारणों से बिना छपा ही इतने दिनों तक पड़ा रहा। जिनकी आज्ञा से यह बना था, जिनके श्री चरणों में समर्पित करके फूलों अंगों नहीं समाने की इच्छा होती थी, हाय ! आज वही नहीं हैं ! सब उत्साह भंग हो गया, परंतु कोई जीता रहता उसको सभी कुछ करना पड़ता है।''[97]

इस उपन्यास का प्रकाशन सर्वप्रथम ताराचंद द्वारा सन् 1885 में संपादित 'भारतोदय' नामक पत्र में हुआ था। इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् 1890 में विक्टोरिया प्रेस बनारस से हुआ। राधाकृष्णदास ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''यह ग्रंथ जैसा लिखा गया था, अक्षर–अक्षर वैसा ही छपा है। इसमें जो कोई त्रुटि हो क्षमा की जाय।''[98] रामाशंकर व्यास द्वारा 27 नवम्बर 1881 ई0 में लिखित एक प्रशंसापत्र है, जिसमें उन्होंने जी ने लिखा है कि ''मेरे परम प्रिय मित्र बाबू राधकृष्णदास जी ने 'निःसहाय हिन्दू' नामक एक नवीन उपन्यास लिखा है। उन्होंने स्नेह वश मुझे उस उपन्यास का अद्योपांत करने के लिए दिया। मैं भी उनकी इच्छा अनुसार उसे अवलोकन किया, तो अति प्रसन्न हुआ।. . . मुझे विशेष आनंद इस बात का है कि बाबू राधाकृष्णदास यों ही सोत्साह रहे, और परिश्रम करते गए, न्यानाधिक सहायता मिलती रहे, और परिश्रम भगवान इनको यह सदा सत्कर्म तथा हम

लोंगों के मान्यवर श्री भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी की भक्ति पूर्वक सेवा करते रहें, जिनमें इनका असंख्य लाभ है।''[99] 'निःसहाय हिन्दू' 1881 में लिखा गया इसका प्रमाण खुद उपन्यास में उपलब्ध है। एक कलकत्ता के महाजन द्वारा लिखी गयी नकल जिसमें लिखा है कि ''पाठकों के कौतूहलार्थ हुंडी प्रकाशित की जाती है श्रीसिध कलकत्ता सुभ स्थान श्रीपति भाई मुन्नीलालजी जोग लिखा बनारस ते मूढ़चंद सुन्दरलाल की जैगोपाल बंचना। आगे हुंडी किता 1 आप ऊपर किया। रूपया 2500 अनकन पचीस सौ के नीमे साढ़े बारह सौ के दूने पूरे देना। इहाँ रक्खे मनीराम खटमल के मिती जेठ सुदी 13 से 31 दिन पीछे धनी जोग रूपया चलन बजार हुँडी की रीत ठिकाना लगाया दाम चौकस कर देना– आगे जदा सुभ मिति जेठ सुदी 13सं0 1938।''[100] इससे एक ओर जहाँ 1881 में इस उपन्यास की लेखन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर यह भी देखने को मिलता है कि महाजनी समाज में जब बैंकों का चलन नहीं था तब लेन–देन किस प्रकार होता था। इस उपन्यास में ऐसे कई दृष्टांत उपलब्ध हैं जो इसको 1881 में लिखा गया सिद्ध करते हैं।

'निःसहाय हिन्दू' उन्नीसवीं सदी में लिखे गये सभी उपन्यासों में अपना अलग स्थान रखता है। यह उपन्यास गो–वध जैसी यथार्थ समस्या को लेकर लिखा गया है। जिसमें गोकुशी क्यों नहीं करनी चाहिए ? इस बात पर गहराई से विचार किया गया है, और साथ ही हिन्दुओं और मुसलमानों की अच्छाईयों एवं बुराईयों दोनों का यथास्थान विवेचन किया गया है। यह हिन्दी–साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के आपसी भाईचारे की बात की गयी है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अलग–अलग मुद्दों को लेकर अनेक आन्दोलनों की शुरूआत हुई। जिनमें नागरी और गोवध आन्दोलन प्रमुख है। यह आन्दोलन संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) विशेषकर प्रयाग और काशी में इतना प्रभावशाली था कि आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती जब यहाँ आये तो अपना प्रमुख 'एजेण्डा' बालविवाह और विधवा विवाह को छोड़कर नागरी और गोवध निषेध को बना लिया। नागरी आन्दोलन मुख्य रूप से उर्दू के विरोध में खड़ा हुआ था, क्योंकि उस समय कार्यालयी भाषा के रूप में उर्दू को मान्यता प्राप्त थी। जिसको जानने वाले अल्पसंख्यक उच्चवर्गीय हिन्दू और मुसलमान

थे। नागरी को हिन्दुओं से तथा उर्दू को मुसलमानों से जोड़कर देखा गया, जिसके फलस्वरूप यह आन्दोलन भाषा विरोधी न होकर हिन्दू–मुस्लिम विरोधी हो गया। इसी तरह गोकुशी जो कि हिन्दू धर्म में अपराध माना जाता है, यह आन्दोलन मुसलमानों के विरोध में खड़ा हुआ था। दोनों आन्दोलन हिन्दू और मुसलमानों के विरोध में खड़े हो गये। यही कारण है कि दयानन्द सरस्वती जैसे समाज सुधारकों ने अपना प्रमुख 'एजेण्डे' को छोड़ दिया। नवजागरण काल में इस आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी के रचनाकारों पर सबसे ज्यादा दिखाई पड़ता है। जितने स्पष्ट रूप से तत्कालीन हिन्दी लेखकों ने गोवध और नागरी आन्दोलन का समर्थन किया है, उतने प्रभावशाली रूप में किसी अन्य आन्दोलन का समर्थन करते नहीं दिखाई देते हैं। इन मुद्दों को लेकर उन्नीसवीं सदी में अनेक रचनाएँ की गयीं, जिनमें 'निःसहाय हिन्दू' भी एक है।

उन्नीसवीं सदी में लिखे गये लगभग सभी उपन्यासों में मुसलमानों के प्रति दृष्टिकोण सम्मान जनक नहीं दिखायी देता है। तत्कालीन उपन्यासकारों ने मुसलमानों की जितनी कमियाँ दिखाने में रूची ली है उतना उनके अच्छे कार्यों के प्रति नहीं। इस पूर्वाग्रह से ग्रसित लगभग सभी रचनाकार दिखाई देते हैं। 'निःसहाय हिन्दू' में इस पूर्वाग्रह को देखा जा सकता हैं। अगस्त 1881 में रमाशंकर शर्मा ने 'निःसहाय हिन्दू' के प्रशंसा पत्र में लिखा है कि ''इस उपन्यास में उन्होंने यह बड़ा ही चमत्कार किया है कि एक मुसलमान को हिन्दुओं का साथी बनाकर यवनों के मुख में चपेट लगाई है और यथासाध्य यवनों ही को अपराधी सिद्ध किया है। अन्त में यवनों को परम द्रोही बनाया है, और हिन्दुओं को निर्दोष कर दिखाया है।''[101] उपर्युक्त विचारों को देखकर सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि तत्कालीन भारत में हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्य किस हद तक व्याप्त था। इसी वैमनस्य के कारण बाद के दिनों में भारत को असहाय पीड़ा का सामना करना पड़ा जिनमें 1905 का बंग–भंग और 1947 में भारत–पाकिस्तान के विभाजन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। तत्कालीन हिन्दी रचनाकारों में चाहे वह गौरीदत्त, मुन्शी ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय अथवा पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी या किशोरीलाल गोस्वामी ही क्यों न हों सभी ने किसी न किसी रूप में मुसलमानों को दोषी ठहराया है। 'निः सहायहिन्दू' में राधाकृष्ण दास ने अब्दुल

अजीज को हिन्दुओं का समर्थक बनाकर प्रस्तुत किया है। मदन मोहन और अब्दुल अजीज की दोस्ती के माध्यम से आपसी मतभेद अन्धविश्वासों का खण्डन करने का भी प्रयास किया गया। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार मुसलमानों की अपेक्षा अग्रेंजी शासन को श्रेष्ठ घोषित किए हैं। तत्कालीन समाज–सुधार आन्दोलनों से जुड़े समाज–सुधारकों ने मुसलमानों की अपेक्षा अंग्रेजों को श्रेष्ठ घोषित किया है। उदाहरण के रूप में दयानन्द सरस्वती को देखा जा सकता है।

सन् 1857 की क्रांति ने न केवल भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित किया अपितु धर्म, अर्थ, संस्कृति, सभ्यता और साहित्य को भी प्रभावित किया। कंपनी शासन द्वारा सन् 1857 की क्रांति का दमन करते समय दोषियों एवं उनके हितैसियों के साथ एक सा व्यवहार किया गया। जिसके फलस्वरूप तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग डर गया। अब उसमें इतना साहस नहीं रहा कि वह अंग्रेजी सरकार द्वारा किये जा रहे अमानवीय व्यवहार के प्रतिरोध में अवाज उठा सके। तब बुद्धिजीवियों ने सरकार से निपटने के लिए नई युक्ति सोचना प्रारंभ कर दिया, जिसके फलस्वरूप सन् 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। सन् 1857 की क्रांति का प्रभाव उसके बाद रचित साहित्य पर देखा जा सकता है। सन् 1870 में पंडित गौरीदत्त द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में औपनिवेशिक काल की राजनैतिक, आर्थिक हलचलों से अनभिज्ञता प्रकट होती है। 1872 में लेखक द्वय(मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय) द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का दूसरा उपन्यास 'वामा शिक्षक' में अंग्रेजी सरकार को दोष मुक्त तो घोषित किया गया है, लेकिन लेखक द्वय ने एक जगह 1857 की क्रांति की ओर संकेत करते हुए मुगलानी नामक पात्र से कहलवाया है कि ''गदर के पीछे बागियों के मकानों के साथ मेरी दुकाने भी सरकार ने जब्त कर ली और कुछ पूछ पाछ नहीं की . . . ।''[102] सन् 1877 में पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा रचित उपन्यास 'भाग्यवती' में अंग्रेजी राज द्वारा किए जा रहे कृत्यों के प्रति अनजान दृष्टिकोण अपनाया गया है। पूरे उपन्यास को देखने से ऐसा लगता है कि पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी अंग्रेजी–राज के प्रति आस्थावान दिखाई देते हैं। इनके द्वारा भारतीय जनता पर अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे अन्याय के प्रति

अनजान दृष्टिकोण अपनाया गया है और भारतीय जनता को अंग्रेजी शासन में सुखी दिखाया गया है तथा अप्रत्यक्ष रूप से इनकी बुराई की गयी है। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी अंग्रेजी शासन को न्याय प्रिय शासन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास में भाग्यवती नामक पात्र सबसे सचेत पात्र है वह कहती कि ''इनके समान चतुर और प्रजा का सुख चहने वाला कौन है।''[103] हिन्दी के लगभग सभी प्रारंभिक उपन्यासकार अंग्रेजी राज के प्रति आस्थावान दिखाई देते हैं।

राधाकृष्णदास अपने लेखन–काल के प्रारंभिक दिनों में कहीं न कहीं इन्हीं पूर्वाग्रहों से ग्रसित दिखाई देते हैं। इसकी अभिव्यक्ति 'निःसहाय हिन्दू' में स्पष्ट देखी जा सकती हैं। मदनमोहन नामक पात्र के माध्यम से मुसलमानों की आलोचना कराते हुए लिखा है कि ''हिन्दुस्तान के इतिहास को देखिए एक–एक मुसलमान लुटेरे बादशाह यहाँ से कितना–कितना धन ले गये ! यहाँ तक कि हिन्दुस्तान को बिल्कुल खोखला कर दिया। धर्म में इन लोगों ने ऐसी बाधा डाली, जिसे सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं और जी कॉपने लगता है। इन लोगों ने बड़े–बड़े मंदिर तोड़े, और मंदिरों की जगह मस्जिदें बनवा दी। . . . मुसलमानों का धर्म ही क्रूर है।''[104] उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि 19वीं सदी का भारत किस प्रकार जाति–पाति, धर्म, संप्रदाय में उलझा हुआ था,। जहाँ एक ओर अशिक्षित वर्ग इन दुर्भावनाओं से भरा था वहीं शिक्षित वर्ग भी मुक्त नहीं हो पाया था।

इसी तरह लाला श्रीनिवास कृत 'परीक्षा गुरू' में भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति नहीं दिखाई देती है। इस संबंध में अगर 'निःसहाय हिन्दू' को देखा जाय तो काफी आगे की रचना है। इसमें उस समय में हो रहे वैचारिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। राधाकृष्णदास ने इस उपन्यास के तृतीय परिच्छेद में भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा रचित 'भारत दुर्दशा' नाटक की पंक्तियों के माध्यम से अपना धन विदेश चले जाने पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा है –

''रोवहु सब मिलकै आवहु भारत भाई।

हा हा! भारत दुर्दशा देखी ना जाई।। ध्रुव।।

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

तापू पै महंगी काल रोग विसतारी।

दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हा री।

सबके उपर टिक्कस की आफत आई।

हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।''[105]

'निःसहाय हिन्दू' अपनी समकालीन परीस्थितियों की प्रबल अभिव्यक्ति के कारण उन्नीसवीं सदी में लिखे गए अन्य सभी उपन्यासों की अपेक्षा बेजोड़ है। हिन्दी उपन्यास में पहली बार हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी संबंधों को महत्व दिया गया है। उन्नीसवीं सदी में जहाँ भाषा और धर्म को लेकर बड़े स्तर पर आपसी मतभेद बढ़ता जा रहा था, वहीं बुद्धिजीवी वर्ग इस मतभेद को समाप्त करने की कोशिश कर रहा था। 'निःसहाय हिन्दू' उपन्यास की रचना इसी निमित्त को ध्यान में रखकर की गयी। किस प्रकार साम्प्रदायिक विद्वेष को मिटाकर साम्राज्यवादी ताकतों से लड़ा जाए यह चिंता इस उपन्यास के मूल में दिखाई देती है। अपनी इसी चिंता से प्रेरित होकर राधाकृष्णदास ने दोनों धर्मों में व्याप्त रूढ़ियों तथा उसको हवा देने वाले उनके समर्थकों की कड़ी आलोचना की है। भारत ही नहीं विश्व के लगभग सभी देशों में यह परंपरा रही है कि रूढ़िवादियों ने अपने स्वार्थ के लिए कुछ न कुछ जोड़ दिया है, इस बात की ओर संकेत करते हुए राधाकृष्णदास ने मदनमोहन नामक पात्र के मुख से 'भारत दुर्दशा' की पंक्तियों को दृष्टांत रूप में देते हुए लिखा है कि–

''रचि बाहु बिधि के वाक्य पुरानन मॉहि घुसाए;

शैव शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए।

जति अनेकन करी, नीच अरू ऊंच बनायों;

खान–पान, संबंध सबन को बरजि छुड़ायो।

जन्म–पत्र–विधि मिले व्याह नाहिं होन देत अब;

बालकपन में व्याहि देह बल नाश कियों सब।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल–मारयो;

विवाह–ब्याह–निषेध कियो, विभचारी प्रचारयो।

रोकि विलायत–गमन कूप–मण्डूक बनायो;

औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।

बहु, देवी, देवता, भूत प्रेतादि पुजाई;

ईश्वर सों सब बिमुख किए हिन्दू घबराई।''[106]

राधाकृष्णदास ने हिन्दू धर्मावलम्बियों के आडम्बरों के साथ–साथ मुसलमानों के धर्म में व्याप्त रूढ़ियों का भी उल्लेख किया है और जिम्मेदार लोगों को लताड़ा हैं। अब्दुल अजीज के माध्यम से मुस्लिम धर्म में बाद में जोड़ी गई रूढ़ियों की ओर संकेत करते हुए लिखा कि ''जबाह उल बकर कात उश शजर बाअ उल बशर शराब उल खमर' यानी बैल मारने वाले, वृक्ष काटने वाले, मनुष्य बेचने वाले, और मदिरापान करने वाले नजात कभी न होगी। फिर क्या कोई नया कुरान बनाया गया है? आप लोग ख्याल फरमावेंगे, तो साफ बदमाशों की शरारत है।''[107] यह बात तो स्पष्ट है कि बढ़ती धर्म गत रूढ़ियाँ समय के साथ व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में आपसी मतभेद का कारण बन गयी। कुछ स्वार्थियों ने जनता को अन्धेरे में रखकर अनेक अनैतिक कार्य करवाये, जिससे आने वाली पीढ़ी के अन्दर जातिगत भावना बढ़ती गयी, आधुनिक समय में ये समस्यायें और भयंकर रूप में मानवीय विनाश का रूप धारण कर ली है।

नवजागरण काल में चल रहे प्रमुख आन्दोलनों– ऊँच–नीच, जाति–पाति, सती–प्रथा, बाल–विवाह, विधवा–विवाह और स्त्री–शिक्षा आदि से राधाकृष्णदास भी प्रभावित दिखाई देते

हैं। इसकी अभिव्यक्ति केवल 'निःसहाय हिन्दू' के अलावा उनकी अन्य रचनाओं में देखा जा सकता है। इन मुद्दों को लेकर परवर्ती काल में अनेक रचनाएँ हुई। निःसहाय हिन्दू में जिस स्त्री को राधाकृष्णदास ने स्त्री द्वारा पीड़ित दिखाकर, स्त्री–पुरूष के भावनात्मक संबंधों को महत्व दिया है। उसी स्त्री को उन्नीसवीं सदी के रचनाकार सभ्य बनाने की कोशिश कर रहे थे, उसी बीसवीं सदी के दूसरे दशक के रचनाकार स्वतंत्रता देने की मांग कर रहे थे। तीसरे चौथे दशक के बाद स्त्रियाँ अपने भविष्य के बारे में खुद सोचने लगीं। स्त्री स्वतंत्रत्रा और संबंधों की मांग की पृष्ठ भूमि नवजागरण काल में ही देखी जा सकती है।

अंग्रेजी सत्ता स्थापित हो जाने के बाद शासन द्वारा भारत में जो विकास–कार्य हुआ वह भारतीय जनता को ध्यान में रखकर नहीं किया गया अपितु शासन की सुविधाओं को ध्यान में रखा गया। इस संबंध में हम रेल, डाक, और शिक्षा को देख सकते हैं। ब्रिटिश शासन में सदैव अपनी सुविधाओं का ध्यान रखा गया। इसका उल्लेख बाबू राधाकृष्ण दास ने 'निःसहाय हिन्दू' में स्पष्ट रूप से किया है। बरसात के समय में घूमने के लिए निकले मदनमोहन और माधव बातचीत में आम जनता और अंग्रेजों के आने–जाने की सड़कों की तुलना करते हुए मदनमोहन कहता है कि ''वाह!वाह! यहाँ की सड़क बहुत अच्छी है। हाँ क्यों नहीं , यह स्थान अंग्रेजों के आवागमन का है न।''[108] स्पष्ट है कि अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे इस प्रकार के व्यवहार को उस समय का शिक्षित वर्ग महसूस कर रहा था।

'निःसहाय हिन्दू' में अंग्रेजी राज में हो रही धोखाधड़ी और चापलूसी परस्त लोगों को दी जाने वाली उपाधियों की निन्दा की गई। इसमें स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि सरकार अपनी हानि की पूर्ति किस धोखाधड़ी से कर रही है और उसमें साथ देने वालों को किस प्रकार से उपाधियाँ देकर खुश कर दिया जाता है। इस संबंध में शीतला प्रसाद नामक पात्र के माध्यम से लेखक ने कहलवाया है कि ''बहुत खूब! लीजिए सुनिए! कल मुझे कलक्टर साहब ने बुलाया था। जब मैं गया, तो उठ खड़े हुए , और बोले, 'हमने आपको टैक्स लगाने का काम इसलिए सुपुर्द किया है कि आप गर्वनमेंट के बड़े खैरख्वाह हैं। हमें उम्मीद है, आप गर्वनमेंट की तरफदारी करेंगे ,न कि काले आदमियों की। देखिए,

परसाल इल साल टेक्स कम वसूल हुआ है, इसके लिए मेरी गवर्नमेंट से बड़ी शिकायत आई है। इससे आप इस कमी को कभी पूरा कर दीजिए, गवर्नमेंट मुझसे नाराज न हो। इसका एहसान मेरे उपर होगा। अगर यह काम मेरे हस्बख्वाह कर देंगे, तो मैं गवर्नमेंट से 'राय' का खिताब दिला दूँगा।''[109] स्पष्ट है कि उस समय किस प्रकार कूटनीति के तहत ब्रिटिश सरकार द्वारा उपाधियाँ कैसे और किन लोगों को दी जाती थी। यह उपन्यास ब्रिटिश शासनकाल में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वत खोरी को उजागर करता है। वहीं चापलूसी परस्त लोगों के चेहरे को अत्यन्त हास्यास्पद रूप में व्यक्त करता है।

बाबू राधाकृष्णदास ने इसमें उन्नीसवीं सदी में व्याप्त धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, समाजिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों तथा उसके विद्रूप चेहरे को उसी रूप में रखने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। इस उपन्यास में अंग्रेजों की प्रत्यक्ष रूप से बुराई नहीं की गयी है लेकिन हो रही लूटपाट, अंग्रेजों के आवास की अलोचना, के साथ ही उस समय की प्रचलित रूढ़ियों—जाति—पाति, बाल—विवाह, सम्प्रदाय, विधवा—विवाह निषेध की आलोचना की गयी है। इस उपन्यास में राष्ट्रीय भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। इसमें सबको एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास तो किया ही गया है साथ ही साम्प्रदायिकता के मूल कारणों को उजागर करने की भरसक कोशिश की गयी है।

'निःसहाय हिन्दू' मूल रूप से काशी को लेकर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास के मूल में जो भी समस्याएँ उठाईं गयी हैं उसका यथार्थ से गहरा संबंध है। यह तत्कालीन भारत की स्थिति को बयान करने वाला दस्तावेज है। इस उपन्यास को अगर आँचलिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। जिसमें ब्रिटिश—कालीन भारत की यथार्थ स्थिति को बयान करने की अभूतपूर्व क्षमता है।

सर्वप्रथम 'गोवध' समस्या को मूल में रखकर लिखे गये इस उपन्यास में मानवीय संबंधों की बात की गयी है। सामाजिक विसंगतियों के मूल में व्याप्त समस्याओं की ओर बे—हिचक स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। इस उपन्यास में एक स्त्री किस प्रकार एक स्त्री के विकास में बाधक होती है, इसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से हुई है, साथ ही

स्त्री–पुरूष के आपसी भावनात्मक संबंधों को गंभीरता से लिया गया है। जिस स्त्री–पुरूष संबंधों तथा सामाजिक भागीदारी की बात बीसवीं सदी के दूसरे दसक के बाद शुरू हुई उसको राधाकृष्णदास ने 1881 में ही उठा दिया था। नारी मुक्ति की पृष्ठभूमि उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों से ही देखा जा सकता है। इसमें नवजागरण कालीन समस्त मुद्दों को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उन्नीसवीं सदी में लिखे गये हिन्दी (साहित्य) के उपन्यासों में 'परीक्षा गुरू' के बाद सबसे ज्यादा 'निःसहाय हिन्दू' को पसंद किया गया। 'निःसहाय हिन्दू' एक कालजयी रचना है, जो युग और परिवेश के अनुसार अपनी प्रसांगिकता बनाये हुए है।

'निःसहाय हिन्दू' शिल्प की दृष्टि से अपने समकालीन लिखे गये सभी उपन्यासों में सबसे सशक्त रचना है। इस उपन्यास की भाषा समयानुकूल तथा पात्रानुकूल है। इस उपन्यास में उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें पूर्णविराम, अल्पविराम, हाइफन, अनुस्वार आदि चिन्हों का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। इस उपन्यास में नाटकीय तत्वों को भी आसानी से देखा जा सकता है। इसकी रचना बनारस के परिवेश को लेकर की गयी है। वहाँ की बहुसंख्यक जनता द्वारा भोजपुरी भाषा बोली जाती है। निम्नलिखित उदाहरण में उनकी संवाद शैली, भाषा शैली एवं व्याकरणिक दक्षता को देखा जा सकता है– दोपहर के समय प्रायः लोग खा–पीकर सोने चले गये थे। इस समय एक हुंडी का दलाल मनीराम खटमल की कोठी पर गया। पहरेदार से पूछा–''मुनीबजी कहाँ हैं''

पहरेदार ने कहा–''सूते के गए।''

दलाल–''जरा भाई, जगाय देव बड़ा जरूरी काम है।''

पहरेदार–''नाहीं साहब अबहिन तो सूते हैं, हम न जगैबै।''

दलाल–''अरे भाई, एक हुंडी का भुगतान है, कहीं संझा तक भाव न घट जाय।''

पहरेदार–''तब एके लिए हम का करी साहेब ?''[110]

इस उपन्यास की भाषा चयन पद्धति अत्यंत सशक्त है, जो अपने पूर्ववर्ती लिखे गये उपन्यासों से वस्तु और रूप की दृष्टि से अत्यंत सशक्त रचना है। अगर यह अपने लेखन काल में ही प्रकाशित हो जाती तो आलोचकों को इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास कहने में कोई अपत्ति नहीं होती।

परीक्षा गुरू

'परीक्षा गुरू' की रचना लाला श्रीनिवासदास ने सन् 1881 में की। आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने इसे अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास माना है। श्रीनिवासदास ने इसे 'एक संसारिक वार्ता कहा है।' इस पर विदेशी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में लिखित अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है। अपने पूर्ववर्ती लिखे गये उपन्यासों से शिल्प और कथ्य की दृष्टि से अलग है। लाला श्रीनिवासदास ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''अब तक नागरी और उर्दू भाषा मैं अनेक तरह की अच्छी, अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई इसलिए अपनी भाषा मैं यह नई चाल की पुस्तक होगी।''[111] 'परीक्षा गुरू' मूलतः सुधारवादी दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में मूलतः दो दोस्तों ब्रजकिशोर और मदनमोहन की कहानी है। मदनमोहन गलत संगत में पड़ जाता है और अनेक भोग विलास के साधनों का उपयोग करने लगता है। उसके इस काम को उसके स्वार्थी मित्र बढ़ावा देते हैं। अन्ततः उसकी आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है। तब ब्रजकिशोर उसको अनेक संकटों से बचाता है।

यह उपन्यास तत्कालीन समय में चल रहे मध्यवर्गीय समाज की सच्चाई को तो बयान करता ही है साथ में ही ब्रिटिश सरकार द्वारा हो रहे शोषण से निजात पाने का भी रास्ता बतता है। इस उपन्यास में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर विशेष रूप से बल दिया गया है। जो मत तत्कालीन औपनिवेशिक शासन के विरोध में था। इस बात को लाला श्रीनिवासदास ने सहज और स्वाभाविक रूप में सबके सामने रख दिया है। लाला श्रीनिवासदास ने कहीं

भी इस बात को खुलकर नहीं कहा है इसका सबसे बड़ा कारण है उनके सामने तत्कालीन परिरिस्थितियाँ। इसके अलावा तत्कालीन समय में चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों और राजनीतिक परिवर्तनों से इसका कोई सरोकार नहीं है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों की बात नहीं की गयी है पर तत्कालीन समय में स्वदेशी अपनाने की बात दबे स्वर में की गयी है। लाला श्रीनिवासदास जानते थे कि जब तक भारतीय जनता अपने देश में बनाएँ गए वस्तुओं को लेकर लगाव नहीं पैदा होगा तब तक आर्थिक या किसी प्रकार के संकट से उबर पाना संभव नहीं है। 'परीक्षा गुरू' अपने पूर्ववर्ती लिखे गए उपन्यासों में केवल शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है अपितु अपने विषयवस्तु की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

'परीक्षा गुरू' को शिल्प की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी ढंग का प्रथम उपन्यास को स्वीकार किया गया है। इस उपन्यास की रचना अंग्रेजी ढंग के उपन्यासों के आधार पर की गयी है। शिल्प दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती लिखे गए उपन्यासों से शसक्त रचना है। लाला श्रीनिवासदास ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''अब तक नागरी और उर्दू भाषा मैं अनेक तरह की अच्छी, अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई इसलिए अपनी भाषा मैं यह नई चाल की पुस्तक होगी।''[112] कथ्य की दृष्टि से देखा जाए तो यह अपने पूर्ववर्ती लिखे गए उपन्यासों से अधिक आगे की चीज लगता है फिर भी कहीं–कहीं कथ्य में चरित्र के साथ संयम नहीं दिखाई देता है। इसमें कुछ पात्र ऐसे लगते हैं मानों साक्षात देव मूर्ति या कोई संत महात्मा है जो उपदेश देते जा रहे हैं। इसका आभास कुछ–कुछ लाला ब्रजकिशोर में देखा जा सकता है गोपाल राय ने इस संबंध में लिखा है कि ''इस कथा के अधिकांश पात्र जीते जागते मनुष्य न होकर किसी न किसी गुण दोष के प्रतीक हैं। लाााला मदन मोहन अपव्यय के, उनके 'सभासद' खुशामद के, लाला ब्रजकिशोर सदुपदेश और सच्ची मित्रता के तथा मदन मोहन की पत्नी पतिव्रत्य का उदाहरण है। इन प्रतीकों से वर्तालाप तथा कार्य कराकर लेखक ने पाठकों यह उपदेश दिया है कि खुशामदपसंद, अपव्ययी, दंभी, झूठा आत्मसम्मान चाहने वाला तथा कामचोर व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकता।''[113] आगे फिर लिखा है कि'' 'परीक्षा गुरू' की

कथा–वस्तु और पात्र प्राचीन कथाओं की तरह किसी मानवेतर लोक या काव्यरूढ़िजन्य काल्पनिक समान्ती वातावरण से नहीं लिए गए हैं। यद्यपि इस कथा के अधिकांश पात्र 'विचारों' या 'गुणों' के उदाहरण हैं, तथा इनके कार्यों की संख्या अत्यंत अल्प है, फिर भी ये हमारे वास्तविक संसार के प्राणी हैं। लाला ब्रजकिशोर जैसे व्यक्ति की बात नहीं की जा सकती, पर लाला मदनमोहन, मुन्शी चुन्नीलाल, मास्टर शिंभूदयाल, लाला हरकिशोर, मिस्टर ब्राईट आदि पात्रों का चरित्र अविश्वनीय नहीं है। लाला ब्रजकिशोर भी उन्हें उनके उपदेशों से अलग कर देने पर विश्वासोत्पादक पात्र बन जाते हैं। इन पात्रों के अधिकांश कार्य विश्वासोत्पादक हैं।''[114] यह रचना यथार्थ से अपना गहरा संबंध रखती है। इसमें उर्दू फारसी तथा संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग बखूबी किया गया है पर अति भाषात्मक विद्वत्ता से बचाकर रखने का प्रयास किया है। लाला श्रीनिवासदास ने खुद अपनी भाषा के संदर्भ में लिखा है कि ''इस पुस्तक में मैं दिल्ली के कल्पित(फर्जी) रईस का चित्र उतारा गया है और उसको जैसा का तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने के लिए संस्कृत अथवा फारसी अरबी के कठिन, कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले साधारण बोलचाल पर ज्यादः दृष्टि रक्खी गयी है।''[115]

'परीक्षा गुरू' कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से उन्नीसवीं सदी में लिखे गये उपन्यासों में अलग तरह का उपन्यास है। शुक्ल जी के शब्दों में इसे अंग्रेजी ढंग का प्रथम उपन्यास कहना न्याय संगत लगता है।

नूतन ब्रह्मचारी

'नूतन ब्रह्मचारी' बाल मनोविज्ञान पर आधारित उपदेशात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास में सद्आचरण करने पर जोर दिया गया है। इसकी भूमिका में बालकृष्ण भट्ट ने अपने ध्येय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''हमारी इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को अवश्य ही मालूम हो जाएगा कि बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षा प्रद है और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है. . .।''[116] 'नूतन ब्रह्मचारी' प्रथमतः 1886 में 'हिन्दी प्रदीप' के जनवरी से लेकर

अप्रैल तक के तीन अंकों में लगातार प्रकाशित हुआ। इसको बालकृष्ण भट्ट ने पुस्तकाकार छपवाकर पाठकों को मुफ्त में बाँटा था। इस संबंध में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि ''यह उपन्यास सन् 1886 की हिन्दी प्रदीप जिल्दों के कुछ अंकों में 4 या 5 अध्याय पुस्तकार छपकर उस समय के ग्राहकों को उपहार में बाँट दिया गया था। जो बचा था उसके खरीदार कोई भी न हुए, बिना मूल्य लेने को सबही हिन्दी–रसिक बन गये।''[117] इसके बाद में कई संस्करण प्रकाशित हुए। ''सन् 1941 में हिन्दी प्रदीप कार्यालय सूडिया, काशी से तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ।''[118] और चतुर्थ संस्करण ज्ञान मण्डल काशी से हुआ। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है कि ''नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास एक ''सहृदय''के हृदय का विकास लेखक स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट।

भीमं वनं भवति तस्य पुर प्रधानम्।

सर्वेजनाः सुजनतामुपयान्ति तस्य।।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधि रत्नपूर्णा।

यस्यास्ति शुभ्र चरितं विपुलं नरस्य।।''[119]

शुरुआती दौर में इस उपन्यास को उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली जितनी की बाद के दिनों में ज्ञान मण्डल से प्रकाशित चतुर्थ संस्करण में चार हजार प्रतियों का प्रकाशित होना इसके प्रसिद्धि का पुख्ता प्रमाण है। इसकी समीक्षा 1911 में सरस्वती के अंक में प्रकाशित हुई जिसमें लिखा था कि '' नूतन ब्रह्मचारी। छोटा सा चालीस पचास पृष्ठ का उपन्यास है। केवल 3 आने देने से मिलता है। पं0 जनार्दन भट्ट अयिरपुर, प्रयाग को लिखने से घर बैठे आ जाता है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट जी का लिखा हुआ। हिन्दी–प्रदीप के पुराने अंकों से निकाल कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। शिक्षाप्रद है। औपन्यासिक दोषों से प्रायः रहित है। भट्ट जी की लेखनी से निकले हुए रस में डूबा हुआ है। अतएव लेने और पढ़ने लायक है।''[120] इस उपन्यास में महाराष्ट्र के एक ब्रह्मण विट्ठलराव, उनकी पत्नी राधाबाई और उनके पुत्र विनायक की कथा है। एक दिन जमींदार का बुलावा आने पर ब्रह्मण विट्ठलराव, उनकी पत्नी वहाँ चले जाते हैं। जाते समय विनायक को कह जाते हैं

कि कोई भी आए उसकी सेवा वन्दन करना, कोई ऐसा वैसा काम मत करना, इसके साथ ही अन्य दैनिक बातें समझा जाते हैं। जाते समय डाकू उनको देखते हैं और उनके आँखों से ओझल हो जाने के बाद डाकू उनके घर आते हैं। विनायक उनको अतिथि समझकर उनका आदर सम्मान करता है। विनायक के सरल स्वभाव को देखकर डाकूओं के सरदार का ह्दय परिवर्तित हो जाता है। अपने साथियों के काफी दबाव डालने पर भी बिना किसी प्रकार के लूट–पाट किये चला जाता है। अन्त में जब विनायक को पता चलता है कि वे डाकू थे तो उसके होश उड़ जाते हैं। डरा सहमा विनायक अपने माता–पिता के आने के बाद सारी घटना बताता है। कुछ साल बाद एक दिन ठाकुर के साथ विनायक किसी यात्रा पर निकलता है समय अधिक हो जाने के कारण उनका डेरा जंगल में पड़ता है। डाकूओं का मन रहता है कि लूट लिया जाए पर सरदार इसका विरोध करता है। सरदार को उसके दो साथी घायल कर देते हैं और उसे जंगल में छोड़कर भाग जाते हैं। सरदार की मुलाकात विनायक से होती है, वह विनायक को सारा प्रसंग सुना देता है। विनायक वह सब बातें ठाकुर को बताता है, इससे सभी लोग सावधान हो जाते हैं। रात को जब आक्रमण होता है तो सरदार के दोनों साथी मारे जाते हैं तथा अन्य साथी घायल होकर भाग जाते हैं।

'नूतन ब्रह्यमचारी' उपन्यास में पारंपरिक संस्कारों की महत्ता को स्थापित किया गया है, इस उपन्यास की कथावस्तु सामान्य है, फिर भी सामान्य कथावस्तु को लेकर लेखक ने बाल मनोविज्ञान को इतने गहरे तक समझाने का प्रयास किया है कि कहीं भी पाठक की रुचि में किसी प्रकार का विघ्न नहीं दिखाई देता है। इस उपन्यास में प्रमुख रुप से पुरानी चली आ रही परंपरा को नयी पीढ़ी को किस प्रकार संस्कार रुप में प्रदान किया जाता रहा है इसको स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है, इसके साथ ही नयी पीढ़ी उन संस्कारों को निभा पाएगी या नहीं इसके प्रति चिन्ता आम रुप से देखी जा सकती है। अगर 'नूतन ब्रह्यमचारी' को पहला बाल मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस उपन्यास के माध्यम से भट्ट जी ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि बच्चों को किस प्रकार अपनी बातों को सरलता पूर्वक समझाया जा सकता है।

इस उपन्यास में भी स्त्री–पुरुष के भावनात्मक संबंधों को महत्व दिया गया है पर अन्य साहित्यकारों की तरह पतिव्रत्य को लेकर चिन्ता आम रुप से दिखाई देती है। भट्ट जी की चिन्ता पतिव्रत के अलावा पत्नीव्रत्य के प्रति भी है, भट्ट जी ने विट्ठलराव और उनकी पत्नी के बारे में लिखा है कि ''उनकी घरेलू बातचीत कुछ ऐसे प्रेमालाप में सनी हुई थी जिससे बोध होता है कि ये दोनों पति–पत्नी एक मन दो तन होते हुए 'मम ब्रते ये हृदयं दधामि मम चित्मनुचित्त तेस्तु' पाणिग्रहण के समय की इस ऋचा को चरितार्थ कर रहे थे उनकी बातचीत में शुद्ध दाम्पत्य का भाव झलक रहा था। जैसा पति को अपनी पत्नी के सतीत्व का पूर्ण विश्वास था वैसा ही पत्नी पति को एक पत्नीब्रतवाला मानती थी। मुसलमानों के मनहूस कदम से दूषित हमारा समाज पर्दा को कुलीनता अभिजात्य और रईसकी इज्जत का श्रेष्ठ अंग मानती है।''[121] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भट्ट जी एक ओर स्त्री–पुरुष के परस्पर प्रेम को महत्व देते हैं तो दूसरी ओर समाज में प्रचलित पर्दा प्रथा होने के पीछे मुसलमानों को कोसना और उन्हें समाज को दूषित करने वाला बताया है। उन्नीसवीं सदी में लिख रहे ज्यादातर हिन्दी रचनाकारों का दृष्टिकोण मुसलामानों के प्रति सम्मान जनक नहीं दिखाई देता है। इनमें अधिकांश रचनाकारों ने मुसलमानों को बर्बर और अमानवीय दिखाने का प्रयास किया है। भट्ट जी भी इन प्रचलित पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाए थे।

इतनी कमियाँ होने के बावजूद उन्नीसवीं सदी में लिखे गए उपन्यासों से इसकी विषय वस्तु एकदम अलग है जो इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है। 'नूतनब्रह्मचारी' को अगर शिल्प की दृष्टि से देखा जाए ते इसके कई पक्षों पर नज़र डालनी पड़ती है। भाट्ट जी ने इस उपन्यास को आठ परिच्छेदों में विभक्त किया है। इसके तीन और चार परिच्छेद को छोड़कर प्रत्येक परिच्छेद को प्रारंभ करने से पहले लोक कहावतों (हिन्दी, संस्कृत) को उद्धृत किया गया है। जैसे पहले परिच्छेद में लिखा है कि होनहार वीरवान के चीकने होते पात, द्वितीय परिच्छेद में– 'न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्', पाँचवे परिच्छेद में 'सरला विरलायन्ते घनायन्ते कुलिद्रुमाः। न शमी च पुन्नागो हास्मिन् संसारकानने।।', छठवें में 'न किमपि दुष्करं दुरात्मानाम्', सातवें परिच्छेद में 'भाविचेन्न तदान्यथा', आठवें परिच्छेद में 'सत्संगतिः कथय

किं न करोति पुंसाम्।' इससे यह संकेत मिलता है कि इन परिच्छेदों में किस बात को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास की कथा परिच्छेदों में विभक्त है, लेकिन परिच्छेदों का संयोजन उचित ढंग से नहीं किया गया है। वर्णन करने में विशेष रुचि दिखाई गयी है। जिससे कथोपकथन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो यह कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं है। यह पारंपरिक कथा–कहानी कहने की शैली में लिखा गया उपन्यास है। इसमें औपन्यासिक गुणों का प्रायः अभाव दिखाई देता है। बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने सन् 1887 ई0 में 'आनन्द कादम्बिनी' में 'नूतन ब्रह्मचारी' की लगभग तीन पृष्ठों में इसके सभी परिच्छेदों की आलोचना लिखी। उसमें इसके कथ्य को लेकर ज्यादा तर्कपूण ढंग से इसका खण्डन किया। 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास कथ्य के संबंध में उन्होंने लिखा है कि ''कथा इस्की–बिट्ठलराव एक ब्रह्मण वो पुत्र बिनायक के घर तीन डाकूओं का आना, उस्के भोले स्वभाव से दयार्द्र हो तीनों में मुखिया डाकू का प्रसन्न हो बिना लूटे या कुछ लिए लौट जाना, कुछ दिन पीछे उसी मुखिया को उसके दोनों साथियों को मारना, और बिनायक का वहाँ पहुँच जाना वा–घायल से सूचित किये गये बिनायक के डेरे पर डाका पड़ने से उन दोनों घातक डाकूओं का मरना मात्र है।''[122] आगे लिखते हैं कि ''फिर भला इस्में तो किसी छोटी कहानी का भी अनन्द नहीं आया, उपन्यास कि जिस्में केवल कथा, लेख और प्रबंध चातुरी ही की प्रधान्य है, उस्की यह कथा ? रही प्रबन्ध चातुरी और लेख लालित्य, सो प्रबन्ध प्रायः कथा के आधार पर होता है, तथापि इसके प्रबन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य है–. . . ।''[123]

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास में संवादों का समायोजन अद्भूत रुप से देखा जा सकता है। इसके संवाद भट्ट जी के नाटककार रुप को सामने लाकर खड़ा कर देता है। कथा के साथ ऐसा लगता है मानों पूरा परिदृश्य आँखों के सामने चल रहा हो। उपन्यासकार की संवाद रचना की दक्षता निम्नलिखित पक्तियों में देखी जा सकती हैं–

''सरदार–क्यों रे, तू क्यों घर पर रह गया है ?

विनायक–महाराज! पिताजी हमारे ठाकुर साहब के यहाँ न गये हैं।

सरदार—हाँ, हाँ, सो तो हम जानते हैं। अभी राह में हमसे उनसे भेंट हुई थी।

विनायक—हाँ घर में चलिए न।. . . ।

सरदार—हाँ ! ठाकुर साहब के यहाँ क्यों गये हैं।?

विनायक—उन्होंने बुलाया था। कल हमारे यज्ञोपवीत के समावर्त्तन का दिन है।

सरदार—किसका दिन कल है ? (क्योंकि डाकूराम के बाबाने भी यह संस्कृत शब्द पहले कभी न सुना था)।

''समावर्त्तन''—विनायक ने समझा कि उन्होंने सुना नहीं।

सरदार—हाँ ! तभी तुम्हारे पिताजी ने कहा। तुम ऊपर वहाँ चलो। तुम्हारा नाम क्या है।

लड़के ने कहा 'मेरा नाम विनायक है।''[124]

भाषा की दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट ने नया प्रयोग किया है। इसमें तत्सम शब्दों और लोकप्रचलित संस्कृत एवं हिन्दी कहावतों एवं लोकाक्तियों का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से किया गया है जैसे होनहार वीरवान के चीकने होते पात, 'न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्','सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।' इनके प्रयोग से कहीं भी कथ्य या शिल्प पर किसी प्रकार की असंगति दिखाई नहीं देती है। यह मूलतः उपदेशात्मक पद्धति पर लिखा गया उपन्यास है।

सौ अजान एक सुजान

बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित यह एक उपदेशात्मक पद्धति का सामाजिक उपन्यास है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 'हिन्दी प्रदीप' में 1890 में जून—अगस्त से 1895 जनवरी—फरवरी—मार्च तक प्रकाशित हुआ। पुनः सन 1906 ई0 में इसको पुस्तकाकार प्रकाशित करवाया। इस उपन्यास की पूरी कथा उपदेशों से भरी पड़ी है, इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है कि ''सौ अजान एक सुजान एक प्रबंध कल्पना। इस पूरे उपन्यास का ढाँचा

काल्पनिक है इसका किसी वास्तविक घटना से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इसका न्यायिक मूल्यांकन पूरे उपन्यास को पढ़ने के बाद ही किया जा सकता है।''[125] साथ ही प्राकृत का ऐसा वर्णन किया गया है मानों कविता है। आगे चलकर इस पद्धति पर हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को देखा जा सकता है। यह 'परीक्षा गुरू' के समान ही उपदेशात्मक पद्धति पर लिखा गया उपन्यास है। 'परीक्षा गुरू' में एक धनी आदमी गलत संगत में पड़कर दिखावा करने के लिए अनेक ऐशो आराम के साधन जुटाने में लग जाता है। इसी चक्कर में कई लोगों से कर्ज भी ले लेता है। बाद में फस जाता है और उसको जेल जाना पड़ता है। ऐसे समय में उसके एशो आराम का लुफ्त उठाने वाले चापलूस मित्र साथ नहीं देते हैं। ब्रजकिशोर उसको इस मुसीबत से निकालता है। ठीक 'सौ अजान एक सुजान' की कथा इसी वस्तु पर आधारित है। इसमें हीराचंद जो कि बहुत अमीर व्यापारी थे उनके मरने के बाद उनका सारा कार्य भार उनके दोनों पोतो के कंधों पर पड़ जाता है पर गलत संगत, भौतिक प्रियता और भोग की अधिक लालसा के वश में होकर दोनों अपनी दौलत का दुरूपयोग करना शुरू कर देते हैं। उनका हित चाहने वाला चंदू ऐसा करने से बार–बार मना करता है पर चपलूस मित्रों के कारण दोनों चंदू को अपना दुश्मन मानने लगते हैं। अन्त में जब उनके मित्र बर्बाद कर देते हैं तो चंदू उनको इस गहरे संकट से निकालता है।

मुसलमानों को लेकर हिन्दी के प्रमुख रचनाकारों में से लगभग अधिकांश इस पूर्वाग्रह से ग्रसित थे कि मुसलमान बर्बर, हत्यारे और अमानवीय होते हैं उनके ही कारण देश की यह दशा हुई। इस पूर्वाग्रह से बालकृष्ण भट्ट भी मुक्त नहीं दिखाई देते हैं। हजारों वर्षों से रचे बसे मुसलामान जो भारत को अपना देश मानते हैं उनको भारतीय नहीं समझना उनके साथ ही नहीं पूरे देश के साथ बेमानी है। हिन्दू–मुसलमानों के धर्म और सम्प्रदाय की राजनीति हमेशा आम जनता के लिए गलाघोटू साबित हुई है। जाति प्रथा उन्नीसवीं सदी में चल रहे आन्दोलनों के बावजूद समाप्त नहीं हुई थी। इससे अभी भी बहुसंख्यक वर्ग मुक्त नहीं हो पाया है। इस संबंध में बालकृष्ण भट्ट ने एक पात्र के बारे में लिखा है कि ''इस बात की ताक में तो यह न जानिये कब से था कि किसी–न–किसी तरह हीराचंद के घराने

में हकीम साहब का प्रवेश करावें; पर चंदू के कारण, जो देखते ही आदमी की नस–नस पहचान जाता था, दूसरे हीराचंद की स्त्री रमादेवी के कारण, जिसे हकीम दवा तथा मुसलमानों से किसी तरह का संपर्क रखने में घिन और चिढ़ थी, नंदू की कुछ न चलती थी। हकीम भी यह केवल नाम का ही हकीम था; हिकमत मुतलक न पढ़ था। मुसलमानों में यह एक चलन है कि जो लोग कुछ पढ़े–लिखे होते हैं, और उन्हें कहीं कुछ जीविका का डौल नहीं लगा, तो वे या तो हकीम बन जाते हैं या मौलबी हो लड़कों को पढ़ा अपना पेट पालते हैं।''[126] इस उपन्यास में बुद्धू पाण्डेय नामक पात्र अपने आप सोचते हुए कहता है कि ''एक बार एक मुसलमान बारहदुआरी के भीतर घुस गवा रहा तब बड़े सेठ साहब सगर बारहदुआरी धोआइन रहा, वहीं अब निरे मुसलमान भरे हैं।''[127] बालकृष्ण भट्ट ने हकीम का वर्णन करते हुए उसके हकीमी ठाठ–बाट के बारे में लिखा है कि ''इधर हकीम एक तो मुसलमान, दूसरे पुराने समय की अमीरी की बू में पगा हुआ था; घर में पूँजी भांग की चाहे न हो पर ज़ाहिर नुमाईश नौवाबों ही की रहना चाहिए।''[128] यह दशा मात्र मुसलमानों की ही नहीं थी अपितु निम्न समझी जाने वाली जातियों के प्रति भी यही दुर्भावना व्याप्त थी। हिन्दुओं और मुसलमानों में शोषित, पीड़ित आम जनता की कहीं बालकृष्ण भट्ट बात करते नहीं दिखाई देते। इनको भी अपनी जाति का मोह छोड़ नहीं पाया फिर भी धर्म के नाम पर होने वाले पाखण्ड का खण्डन किया। हिन्दू धर्म में व्याप्त पारंपरिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए लिखा है कि ''चंदू की योग्यता और पांडित्य का प्रकाश हम पहले कर आए हैं कि यह पंडितजी का पट्टशिष्य था, और उनके पढ़ाये हुए विद्यार्थियों में सबसे चढ़–बढ़ा था; बल्कि शिरोमणि महाराज के सब उत्तम गुण इसमें देखे गए, अंतर केवल इतना ही पाया गया कि स्वभाव का यह अत्यंत तीक्ष्ण और क्रोधी था, लल्लोपत्तो और ज़ाहिरदारी इसे आती ही न थी, बल्कि ऐसे लोगों पर इसे जी से घीन थी। उन ब्राह्मण और पंडितों में न था कि केवल दूसरों ही के उपदेश के लिए बहुत–से ग्रंथों का बोझ लादे हो, पर काम में पतित महामंद शूद्र से भी अधिक गए बीते हों । लोभ, कपट और अहंभाव का कहीं संपर्क भी इनमें न था। स्वलाभ–संतोष, सिधाई और जीव–मात्र की हितेच्छ की यह मूर्ती था। इसके संबंध में लिखा है कि–

''विप्रान स्वलाभसंतुष्टान साधून् भूतसुहृत्तमान;

निरहक्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसाअसकृत।''[129]

उन्नीसवीं सदी में चल रहे स्त्री सुधार आन्दोलनों की झलक इस उपन्यास में लेश मात्र ही देखने को मिलती है। इन्होंने हीराचंद की बहू के विधवा होने के बाद की दशा का कोई उल्लेख विशेष रूप से नहीं किया है अगर किया है तो उसी पारंपरिक रूप से किया है। जिसे कुछ सम्पति मिलती है और वह लोगों की सहायता तथा अन्य कार्य करती है। भट्ट जी ठीक 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती' के समान ही अस्तित्व विहीन स्त्री की परिकल्पना की है, जो परदे में रहे किसी का विरोध न करे नहीं कुछ बोले, ऐसी स्त्री के बारे में लिखा है कि ''रमा यद्यपि पढ़ी–लिखी न थी, पर शील और उदारता में मानों साक्षात सची देवी का अनुहार कर रही थी। पुरखिन और पुरनियाँ स्त्रियों के जितने सदगुण हैं, सबका एक उदाहरण बन रही थी। सरल और सीधी इतनी कि जब से अपने पति हीराचंद का वियोग हुआ तब से दिन रात में एक बार सुखा अन्न खाकर रह जाती थी। . . .बूढ़ी हो गई थी, पर आधा घूँघट सदा काढ़े रहती थी।''[130] रमादेवी और उसकी बहूओं के पर्दा और व्यवहार से जिस परदे में रहने वाली स्त्री का समर्थन किया गया है। वह पुरूषवादी मानसिकता का मनोविज्ञान प्रस्तुत करता है कि उस समय समाज का बहुसंख्यक उच्चवर्ग स्त्रियों को किस रूप में देखने का आकांक्षी था। उनकी इस दशा में होने का सबसे बड़ा कारण अशिक्षा था। शिक्षा से वंचित रखकर उनके साथ हमेशा जानवरों जैसा व्यवहार किया गया। नन्दू नामक पात्र सेठ हीराचंद के घर की स्त्रियों के बारे में सोचता है कि ''यह पंडित मेरा पक्का दुश्मन है। यह यहाँ का रहने वाला नहीं, एक अजनबी पर देशी ने ऐसा कदम जमा रखा है कि बड़ी सेठानी बहु मा जो यह कहता है वही करती हैं; नहीं तो जैसा मैंने बाबू को काठ का उल्लू बनाया अपने तावे में कर छोड़ा था वैसा ही रमा बहू को भी, स्त्री की जाति है, मुट्ठी में करते क्या लगता था।''[131] बालकृष्ण भ जट्ट हाँ एक सजग निबन्धकार, कवि, आलोचक, पत्रकार थे वही सफल उपन्यासकार भी थें। इतना सब होने के बावजूद हिन्दू धर्म के प्रति इतना अधिक प्रेम दिखाई देता है कि पूरा उपन्यास धार्मिक उपदेशों से भरा पड़ा है। मनुष्य को क्या करना चाहिए क्या नहीं करना, किसके

साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए किसके साथ रहना चाहिए किसके साथ नहीं रहना चाहिए ? इसका विवरण पंडित जी के संदर्भ इस प्रकार देते हैं ''पंडित जी उस धन में से केवल साधारण भोजन और मोटा झोंटा कपड़ा पहन लेने के सिवा सब का सब अपने पास पढ़ने वाले विद्यार्थियों की छात्रवृत्ति में खर्च कर देते थे। लड़का–बाला इनके कोई न था ; पर इस बात का इनको कुछ सोच न था, उन विद्यार्थियों को ही अपना पुत्र मानते थे। बरन् पुत्र से अधिक प्रेम इनमें इनका था''[132] भारत में अंग्रेजी राज को त्रासदी का काल कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस संबंध में लगभग सभी उपन्यासकार मौन हैं। उस समय भी सामान्य जनता के साथ न्याय और ईमानदारी के साथ नहीं होता था, भ्रष्टाचार चरम पर था। कानून तोड़ने वालों के हाथ विका हुआ था। इस बात की ओर संकेत लेखक नंदू नामक पात्र के माध्यम से करवाते हैं वह कहता है कि ''जी हाँ माफ कीजिए आपकी बात कटती है, अदालत में इंसाफ होता है यह आप नाहक कह रहे हैं, उलटे सीधा सीधे का उलटा वहाँ हमेशा होता है, इंसाफ तो ऐसा ही कभी साज़नादिर होता है। दूसरे यह कि अदालत तो रूपया की है, अदालत ही पर क्या रूपये से क्या नहीं होता। खैर हुजूर से मैं तक़रीर नहीं किया चाहता, आप जो कहें मैं उसे अंगीकार किए लेता हूँ।''[133] इसमें तत्कालीन समाज में व्याप्त अव्यवस्था पर गहरा व्यंग किया गया है। यह अव्यवस्था आधुनिक काल में जब हम स्वशासन की बात कर रहे हैं, इस समय भी हमारे अधिकारों का गला घोट रही है बिल्कुल पहले की तरह। बदलाव इतना है कि पहले गैर थें अब हमारे अपने खुद हैं।

'सौ अजान एक सुजान' शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो यह 'नूतनब्रह्मचारी' का विकसित रूप है। बालकृष्ण भट्ट के इन दोनों उपन्यासों ('नूतनब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान') की आलोचना उस समय में निकल रहे पत्र–पत्रिकाओं में खूब लिखी गई। जितनी आलोचनात्मक टिप्पणी बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों पर लिखी गई उतनी आलोचना किसी और पर नहीं लिखी गई। 'सौ अजान एक सुजान' में कथोपकथन वर्णात्मक होने के कारण पाठक के प्रवाह को भंग करता है। भट्ट जी पात्रों के चरित्र–चित्रण के साथ–साथ उनका सौन्दर्य वर्णन इस ढंग से करते हैं कि मानों किसी गद्यकार की कल्पना नहीं अपितु

रचना किसी कवि की रचना है। ऋतुओं का वर्णन इस प्रकार किया है ''शिशिर की दारूण की सीक से सिकुड़े हुए देहधारियों के एक बसंत की सुखद उष्मा संचार होते ही खेलने लगते हैं। उसी तरह कुसुम वाण की गर्मी शरीर में बैठते ही नव युवा युवतियों के अंग–प्रत्यंग में सलोनापन भीगने लगता है। वन, मन, नयन में नयी–नयी उमगें जगह करती जाती हैं; एक अनिर्वचनिय शोभा होने लगता है। प्रिय पाठक नयी उमर की मनोहर पुष्प वाटिका की कुछ अकथ कहानी है; इसका ढंग ही कुछ निराला है। हमने बसंत की सुखद उष्मा के संचार की सूचना पहले आपको दी है नयी–नयी कलियों को छोड़कर विकास पाने स्वच्छन्द अवसर इसी समय मिलता है; अत्यंत कटिले और मुरझाये हुए पेड़ जिनकी ओर बाग का माली कभी झाँकता भी नहीं एक साथ हरे–हरे लहलहा उठते हैं।''[134] अतिशयोक्ति पूर्ण सौदर्य वर्णन करने की जगह अगर केवल जहाँ जरूरत होती वहाँ करते तो शायद पाठकों का ध्यान भंग नहीं होता। जब हम 'सौ अजान एक सुजान' पढ़ते हैं तो हमें 'परीक्षगुरू' की याद आ जाती है, इसमें ब्रजमोहन किशोर की कहानी है, ब्रजकिशोर अपने मित्र को विपत्ती से निकालकर समाज में पुनः सम्मान योग्य बनाता है।

'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास प्रारंभ होने के साथ ही किसी वेद, शास्त्र या ग्रंथ का श्लोक दोहा या कहावत का प्रयोग ठीक 'नूतन ब्रह्मचारी' की शैली में ही करते हैं। इससे पाठक को पता चल जाता है कि इस अध्याय में कौन सी घटना घटने वाली है। जैसे प्रथम अध्याय में ''खोटे को संग साथ, हे मन, तजो अँगार ज्यों ;/ततो जारयै हाथ, सीतल हू कारो करयै।''[135] चतुर्थ अध्याय में ''यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वं विवेकता; /एकैक प्यनर्थय किमु यत्र चतुष्ठतयम।''[136] पृ0 30 लिखा है। यह उपन्यास 23 प्रस्तात्रओं (अध्यायों) में विभक्त है।

'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास में व्याकारणिक त्रुटियाँ अनेक स्तरों पर देखने को मिलती है। संज्ञा, सर्वनाम और अन्य वाक्य सम्मत गल्तियाँ इन पंक्तियों में देखी जा सकती है। कि ''इस बात की ताक में तो यह न जानिये कब से था कि किसी–न–किसी तरह हीराचंद के घराने में हकीम साहब का प्रवेश करावें; पर चंदू के कारण, जो देखते ही आदमी की नस–नस पहचान जाता था, दूसरे हीराचंद की स्त्री रमादेवी के कारण, जिसे

हकीम दवा तथा मुसलमानों से किसी तरह का संपर्क रखने में घिन और चिढ़ थी, नंदू की कुछ न चलती थी। हकीम भी यह केवल नाम का ही हकीम था; हिकमत मुतलक न पढ़ था।'' 2, दासी ने आय किवाड़ खोल कहा''[137] उपर्युक्त वाक्यों में व्याकरणिक त्रुटिया भले हैं फिर भी संवाद की दृष्टि से देखा जाए तो पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है जो भट्ट की सजगता का परिचय देती है। पात्रानुकूल भााषा के कारण इस उपन्यास का कथ्य और शिल्प बहुत ही सशक्त बन गया है।

'सौ अजान एक सुजान' नायक को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है, कुछ लोगों का मानना है कि ऋद्धिनाथ इस उपन्यास का कथा नायक हैं अगर सूक्ष्म ढंग से देखा जाए तो वातस्विक नायक चंद्रशेखर है। (चंदू शुरू से अन्त तक उन गुणों का निर्वाह करता है जो किसी अन्य पात्र को नायक कहने की संभावना को ही समाप्त कर देता है) पूरी कथा ऋद्धिनाथ के इर्द गिर्द अवश्य घूमती है पर कुछ ऐसा नहीं देखने को मिलता कि जिससे उसे नायक कहा जाए। इस उपन्यास का विश्लेषण करते समय विद्वानों ने इसकी नायिका रमादेवी के बारे में कोई विचार विमर्श नहीं किया है। जो शुरू से अन्त तक अपने पुत्रों को सुधारने में लगी रहती है। इसमें रचनाकार ने पात्रों का चरित्र–चित्रण करते समय लोकोक्तियों एवं कहावतों का प्रयोग किया है, जो इसके सौंदर्य को और भी बढ़ा देता है। शिल्प की दृष्टि से भले ही कुछ कमियाँ हो पर यह एक सफल उपन्यास (रचना) है।

'एक जोड़ी अँगूठी'

'एक जोड़ी अँगूठी' की रचना सन् 1879 ई0 में केशवराम भट्ट द्वारा रचित 39 पृष्ठों का उपन्यास है। इसके लेखक के नाम को लेकर हिन्दी साहित्य में विवाद का विषय बना हुआ है। 'हिन्दीं उपन्यास कोश' में गोपालराय ने इसे बंगला से अनूदित रचना स्वीकार किया है, परन्तु उसके वास्तविक रचनाकार का नामोल्लेख नहीं किया है। इसी तरह

रामनिरंजन परिमलेंदु ने भी इसे बंगला से अनूदित रचना माना है, इन्होंने भी इसके वास्तविक रचनाकार का नामोल्लख नहीं किया है। नाम का पता नहीं होने का सबसे बड़ा कारण था कि तत्कालीन रचनाकारों द्वारा अनूदित किए गए ग्रंथों में वास्तविक रचनाकार का नाम न देना, इस कारण इस उपन्यास के वास्तविक रचनाकार का नाम पता नहीं चलता है। 1880 के 'हिन्दी प्रदीप' में एक जोड़ी अँगूठी की समीक्षा प्रकाशित हुई उसमें लिखा था कि "एक जोड़ी अँगूठी या (ए पेयर ऑफ रिंग्स) श्री केशवराम भट्ट कृत बंग भाषा से अनुवादित भाषा इसकी खड़ी बोली उर्दू है, किस्सा निस्संदेह बड़ा मनोहर है और बिहार बंधु प्रेस बंकीपुर में छपकर प्रकाशित हुआ है।"[138] रामनिरंजन परिमलेंदु ने इस संबंध में तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "हिन्दी प्रदीप के अनुसार 'एक जोड़ी अँगूठी' बंगला भाषा का अनुवाद है, यह ज्ञात नहीं है। उन्नीसवीं सदी की अनूदित रचनाओं में मूल लेखकों के नाम बहुधा नहीं दिए जाते थे। अनूदित उपन्यासों में बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय आदि का उल्लेख अपवाद है। सन् 1888 में प्रकाशित अयोध्या सिंह उपध्याय 'हरिऔध' का 'बेनिस का बांका' उपन्यास अंग्रेजी के उपन्यास का रूपन्तर है, मूल लेखक का नाम पुस्तक में नहीं है।"[139] 'एक जोड़ी अँगूठी' के मूल लेखक का नाम पता नहीं चलता इसे हिन्दी की मौलिक रचना स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस उपन्यास के मूल लेखक के नाम को लेकर जहाँ विवाद है वहीं इसके मूल नाम को लेकर विद्वानों का मत एक नहीं हैं। गोपालराय ने 'हिन्दी उपन्यास कोश' में इसका नाम 'एक जोड़ा अँगूठी' लिखा है जो व्याकरणिक और वास्तविक नाम की दृष्टि से गलत है।

14 मई 1879 में बिहार बंधु में इसका अन्तिम भाग प्रकाशित हुआ, इसमें लिखा था कि "यह किस्सा आज खतम हो गया। इसकी कैफियत जब खुले कि शुरु से आखीर तक सारा किस्सा लगातार पढ़ा जावे। अगर 'बिहार बंधु' के पढ़ने वालों को यह किस्सा पसंद हो तो क्या मुजायका इसकी एक अलग किताब छप जावे।"[140] बाद में इसका प्रकाशन बिहार बंधु प्रेस से पुस्तक रूप में हुआ।

यह एक प्रेम कथा पर आधारित सुखान्त उपन्यास है इसमें रचनाकार ने सामाजिक विडम्बनााओं के बीच प्रेम को सतही ढंग से समझने की कोशिश की है। इस उपन्यास में महेश्वर और छबीली जो एक दूसरे से प्रेम करते हैं। छबीली की अवस्था सोलह वर्ष है, उसके पिता उसकी ओर से निश्चिंत हैं। कुछ समय बाद छबीली के पिता कुछ शास्त्रगत कारणों से दोनों का विवाह करने से इनकार कर देते हैं। महेश्वर प्रेम पीड़ा से निजात पाने के लिए व्यापार करने सिंघल जाने का निर्णय लेता है और छबीली से इस विषय में कहता है कि ''जिस दिन तुम्हारे बाप ने कहा कि मैं अपनी बेटी की शादी महेश्वर से हरगिज न करुँगा, उसी दिन से मैंने सिंघल जाने का इरादा ठाना है। और ख्वाहिस है कि अब वहाँ से न लौटूँ। अगर तुम्हे भूल गया तो लौट आऊँगा... तुम समझोगी कि अगर जहाँन एक तरफ हो और तुम एक तरफ तब भी हमारे जहाँन तुम्हारे बराबर नहीं है।''[141] छबीली और महेश्वर को अपनी शादी न होने के पीछे क्या कारण था यह उनको समझ में नहीं आता।

महेश्वर को सिंहल गये हुए तीन वर्ष गुजर गये कोई खोज खबर नहीं मिली इधर बनारस में छबीली की शादी गुप्त रुप से कर दी गयी। विवाह के समय छबीली और उसके पति के आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है। शादी किससे हुई पति–पत्नी दोनों को पता नहीं चलता। आनन्द स्वामी ने विवाह हो जाने के बाद दोनों से कहा कि ''तुम लोगों का ब्याह तो हो गया, पर तुम लोगों ने एक दूसरे को देखा नहीं। इस व्याह से गरज इतनी थी कि कन्या का कुआंरपन मिटे। और यह मैं नहीं कह सकता कि इस जन्म में तुम लोगों की भेट हो या न हो। अगर कदाचित हो जाए, तो तुम लोग एक दूसरे को पहचान नहीं सकोगे। लेकिन पहचानने के लिए मैं एक उपाय किये देता हूँ। हमारे पास एक जोड़ी अँगूठी है। और दोनों ठीक एकसां हैं।... इनको मैंने आप अपने हाथों गढ़ा है। अगर कन्या इस तरह की अँगूठी किसी पुरुष के हाथ में देखे तो उसी को अपना पति समझे। और जब वर किसी स्त्री के हाथ में ऐसी ही अँगूठी देखे तो उसी को अपनी स्त्री समझे देखों ख़बरदार ये अँगूठियाँ खोई न जावें। इनकी रक्षा अपनी जानों में बढ़कर करना। और भूखो मरो तब भी इन्हें न किसी को देना न बेचना। और यह भी मैं कह देता हूँ कि आज से पाँच बरस के अन्दर इन्हें हरगिज़ नहीं पहनना। आज असाढ़ सुदी पंचमी है और ग्यारह दंड रात आई

है। इसके बाद 5वें असाढ़ संदी पंचमी के ग्यारह दंड रात के पहले अँगूठियों का पहनना मना है। देता हूँ।''[142]

एक दिन छबीली को उसके माँ के गहनों बक्से में एक कागज का टुकड़ा मिलता है। जिसमें लिखा था–

''ज्योतिष में गिनके दे

छबीली सरीखी सोने की पुतली

व्याह के होने से विपत्ति की आशंका

रस तक एक दूसरे का मुँह हो सके''[143]

इस कागज का आधा हिस्सा गायब रहता है जिससे कुछ स्पष्ट नहीं हो पाता है। विवाह हो जाने के बाद छबीली का प्रेम महेश्वर के प्रति ही रहा। वह उसकी जगह किसी दूसरे को स्वीकार करने के लिए मन से तैयार नहीं होती। अपने मन में कहती है कि ''यह क्या माजरा है,–अगर महेश्वर से मैं ब्याही न गई तब जिस किसी से ब्याह हो न क्यों,–पर वह हमारा स्वामी नहीं।''[144] जब सादी के पाँच वर्ष बाद जब महेश्वर सिंहल से आता है तो छबीली अपने प्रेम को लेकर तरह–तरह के तर्क करती है। राजा उसके पति महेश्वर से उसकी अँगूठी लेकर छबीली को अपनी पत्नी बताता है। इतने बड़े राजा की पत्नी बनकर भी उसका महेश्वर के प्रति प्रेम कम नहीं होता। अपने मन में कहती है कि ''महेश्वर की जुदाई का गम तो हमें था ही, अब दूसरे की जोरु होने की तकलीफ़ें क्यों कर बरदाश्त करूँगी। अपने दिल में तो मैं महेश्वर की जोरू हूँ। फिर ज़ाहिर क्योंकर मैं दूसरे की जोरू बनूँ।''[145] छबीली अन्त में अपने प्रेम को स्वीकार करते हुए राजा से कहती है कि ''महाराज, में कुलटा हूँ। मैं आपकी जोरू बनने के लाइक न रही। मैं प्रणाम करती हूँ, मुझे रुखसत कीजिए। समझ लीजिए के गोया हमारे संग कभी आपका व्याह ही नहीं हुआ।''[146] यह सब सुनने के बाद राजा ने कहा कि यह अँगूठी मैंने महेश्वर से ली है, और वही तुम्हारा पति है। तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए मैंने यह सब किया। अन्त में महेश्वर ने महाराज से कहा

कि ''महाराज आपने जिस तरह हमारी मन माँगी मुराद पुरी की, ईश्वर उसी तरह आप की सब मुरादें पुरी करे। आज जैसा मैं सुखी हुआ, ऐसे सुखी आप के राज में कोई न बसता होगा।''[147]

पूरे उपन्यास में कथा मात्र महेश्वर और छबीली के इर्द–गिर्द घूमती रहती है, फिर भी अन्य पात्रों का चयन निरर्थक रुप से कहीं नहीं किया गया है। अगर देखा जाए तो यह एक नायिका प्रधान नाटक है। इसमें नायिका को एक संघर्षशील नारी के रुप में प्रस्तुत किया गया है। उन्नीसवीं सदी में वेद शास्त्रों के प्रति बहुसंख्यक वर्ग की किस हद तक आस्था थी इसका ज्वलंत उदाहरण इस उपन्यास में देखा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में भारत में चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों से बहुसंख्यक वर्ग अनभिज्ञ था। वे अपनी पारंपरिक रुढ़ियों को छोड़ना नहीं था ऐसी स्थिति आज के उत्तर आधुनिक दौर में लगभग बनी हुई है। जिस आस्था और विश्वास की बात इस उपन्यास में की गयी है उससे आज भी इनकार नहीं किया जा सकता।

इस उपन्यास में जिस तरह नायिका का स्वच्छन्द संवाद दिखाया गया है वह उस समय अपने आप में बहुत बड़ी बात थी जबकि स्त्री को समाज मात्र गृहणी के रुप में देखने का आकांक्षी था। उन्नीसवीं सदी में चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों को देखने से पता चलता है कि कुछ स्त्रियों को छोड़कर भारतीय समाज में किसी को सम्मान नहीं मिला सदियों का इतिहास इसका प्रमाण है। इनमें सम्मान पाने वाली अधिकांश स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा बनाए गये मार्ग को कहीं अवरुद्ध नहीं करती, न ही ये पूछते दिखाई देती कि मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ ? 'एक जोड़ी अँगूठी' में छबीली के साथ ऐसा ही होता है। राजा उसकी परीक्षा लेता है पर महेश्वर की किसी प्रकार परीक्षा नहीं ली जाती है। भारत के आधी आबादी की इससे अधिक त्रासद स्थिति और क्या हो सकती है।

'एक जोड़ी अँगूठी' उपन्यास की रचना केशव राम भट्ट द्वारा एक लोकप्रचलित कहानी को लेकर की गयी है। जिसके पात्र सामान्य होते हुए भी असमान्य से लगते हैं। कथ्य में कई जगह विसंगतियाँ आम तौर पर देखी जा सकती है। कथ्य को बाँधने का काम

संवादों ने किया है, इस रचना की सार्थकता इसके कथ्य में निहित है। संवादों के कारण इस उपन्यास में नाटकीय तत्व आ गएँ हैं । कहीं भी इसकी नाटकीयता इसके शिल्प (पक्ष) को कमजोर नहीं बनाती है, बल्कि उसमें सहायक सिद्ध होती है। उदाराणार्थ संवाद की दक्षता को देखा जा सकता है–

''छ–। ''परदेस की ? कहाँ ? ''

म–। ''सिंहलदीप को।''

छ–। ''सिंहलदीप ! सो क्यों ? क्यों सिंहलदीप, क्यों जाओगे''

म–। क्यों जाऊँगा।'' मैं सोदागर–बचा हूँ।–सौदागरी के लिए जाऊँगा।'' इतना कहते कहते उस की आँखें डबडबा आईं।''[148]

'एक जोड़ी अँगूठी' उपन्यास की कहानी भले ही गप्प लगे पर इसके शिल्प की सार्थकता से इनकार नहीं किया जा सकता है। इसकी भाषा इतनी सरल और आम लोगों द्वारा बोली जाने वाली है जिसमें संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव दोनों शब्दों का स्वभाविक प्रयोग किया गया है। व्याकरणिक दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ देखने को मिलती है, कहीं–कहीं कुछ शब्दों को निरर्थक रख दिया गया है। उदाहरणार्थ इन पक्तियों में देख सकते हैं–''नर्मदा ने लाख सर पटका लेकिन छबीली ने उस माला को न लिया। नर्मदा ने लचार होकर उसे राजा मदनदेव को जा के दिया। राजा ने इसके बदले में नर्मदा को बहुत रुपये दिये। छबीली को इन बातों की ख़बर नहीं थी।''[149] शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास भले ही कमजोर हो, पर इसमें पाठक का ध्यान कहीं भंग होता दिखाई नहीं देता है। यही इसकी सार्थकता है।

कुसुमकुमारी

'कुसुम कुमारी' की रचना देवकीनन्दन खत्री ने सन् 1898–99 में की। यह एक फैटेंसी पर आधारित उपन्यास है। इसमें घटनाएँ और पात्र ठीक चंद्रकांता की तरह

काल्पनिक हैं, इनका सामाजिक जीवन से कोई स्थूल संबंध नहीं दिखाई देता है। यह उपन्यास रनबीरसिंह और कुसुम कुमारी के प्रेम पर आधारित है। रनबीर अपने मित्र जसवन्तसिंह के साथ जंगल में शिकार खेलने जाता है। जंगल में दोनों रास्ता भूल जाते हैं और उनके घोड़े भी मर जाते हैं। तब दोनों पैदल ही पहाड़ी से दूर दिखाई दे रहे नगर की तरफ जाने लगते हैं, तभी रास्ते में एक वाटिका आती है उसी में एक तरफ मंदिर बना हुआ है, उसमें दो मूर्तियाँ बनी हुई थी जिसे जसवन्तसिंह देख लेता है और वह उसकी सूचना रनबीर को देता है, रनबीरसिंह उस मूर्ती की सुन्दरता देखकर बेहोश हो जाता है। जसवन्तसिंह रनबीर को वहीं छोड़कर उस नगर की ओर बढ़ जाता है। इधर रनबीर रहस्यमय ढंग से गायब हो जाता है। जसवन्तसिंह उसका पता लगाता है तो पता चलता है कि उसको बालेसिंह के आदमी उठा ले गये हैं। जसवन्तसिंह उसको खोजते—खोजते रानी कुसुमकुमारी के राज में पहुँच जाता है वहाँ पर यह बात रानी को पता चल जाती है। रानी जसवन्तसिंह को अपने पास बुलाती हैं जसवन्तसिंह जब रानी को देखता है तो उनके रूप पर मोहित हो जाता है। जहाँ जसवन्तसिंह रनबीर को बचाने के लिए जान देना चहता है वहीं कुसुम कुमारी को देखने के बाद उसकी जान लेने को उतारू हो जाता है। अपने इस काम के लिए जाकर बालेसिंह से मिल जाता है, उसी समय रानी अपने विश्वास पात्रों को अपने राज्य का कार्य भार देकर बीमारी का बहाना बनाकर अपने उसी बीमारी में मरने की अफवाह फैलवा देती हैं। उसी समय रानी के पास बालेसिंह एक गुप्तचर को संदेश देकर भेजता है, उसको पता लगता है की रानी मर गईं। वह आकर बाले सिंह से कहता है। बालेसिंह बहुत पश्चताप करता है। वह जसवन्तसिंह की सच्चाई रनबीर से बता देता और रनबीर को मुक्त कर देता है। बाद में पता चला कि रानी जिंदा हैं तो जसवन्तसिंह ने पहले बालेसिंह के उस आदमी को मरवा दिया जो उसका विश्वास पात्र था इसी तरह जसवन्तसिंह बालेसिंह पर अपना विश्वास जता लेता है। जसवन्तसिंह और बालेसिंह दोनों ने रानी की सेना पर आक्रमण कर दिया जिसमें रनबीर बहादुरीपूर्वक लड़ता है और घायल हो जाता है। बाद में काफी दवा करने के बाद बचने की आशा होती है तो अचानक रनबीर गायब हो जाता है इससे रानी उसके विरह में बेचैन हो जाती हैं। रनबीर अपने को जंगल में पत्तों पर सोया पाता है। वहाँ एक कोई साधु रहते हैं वे उसे बताते हैं कि उसके पिता

जी अभी जीवित हैं उनको छुड़ाने के लिए कहा और रनबीर को ऐसी औषधि का लेप लगाया जिसको लगा लेने के बाद उसका रंग काला हो गया। उसने अपने पिता को उससे मुक्त कराया। अन्त में यह राज खुला कि कुसुम कुमारी और रनबीर की शादी बचपन में हो चुकी थी। इनके पिता एक–दूसरे के मित्र थे।

'कुसुम कुमारी' एक घटना प्रधान उपन्यास है, इसमें अप्रत्याशित घटनाओं को तो प्रस्तुत किया गया है। उन घटनाओं का संबंध तत्कालीन समाज से बहुत दूर तक नहीं दिखायी देता है। रचनाकार का उद्देश्य मात्र पाठक में कौतूहल बनाए रखना नहीं है, वरन् उनको सामाजिक सरोकारों से जोड़ना भी है। रनबीर के पिता का गुलाम होना कहीं न कहीं भारत के गुलामी से संबंध रखता है।

साधु रनबीर से कहता है कि स्त्रियों को लेकर देवकीनन्दन खत्री का दृष्टिकोण पुराना ही दिखाई देता है। उन्होंने उस स्त्री को सम्मान करने योग्य माना है जो व्यवहार कुशल एवं पुरुष के कार्य में बांधा पहुँचाने वाली न हो। इस उपन्यास में ऐसी स्त्री को दिखाया है जो शासिका रहते हुए भी अपने कुछ कर्मचारियो को छोड़कर बाकी से पर्दा करती है। देवकीनन्दन खत्री ने स्त्री–पुरूष के आपसी भावनात्मक संबंधों को महत्व नहीं दिया है। इनके जो संबंध दिखाई देते हैं वह स्वाभाविक नहीं लगते है।

खत्री जी का जाति–पाति संबंधी दृष्टिकोण पुराना ही है, इन्होंने कुसुमकुमारी में इसका समर्थन करते हुए लिखा है प्यासे रनबीर और यशवन्त से कहलवाते है कि ''मुझे प्यास भी बड़े जोर की लगी है, मगर जब तक यह न मालूम हो कि यह बाग किसका है या यह डोल किस जात के पानी पीने का है तब इस डोल से पानी भर कैसे पीऊँ ?''[150] देवकीनन्दन खत्री ब्राह्मण परिवार से संबंध रखते थे, इतने प्रतिभाशाली होते हुए भी, जाति–पाति से उपर नहीं उठ पाए, इसका सबसे बड़ा कारण उनका पारिवारिक संस्कार भी था। जब मैंने इस संबंध में उनके प्रपौत्र विवेक खत्री से बात–चीत की तो बिना किसी प्रकार की टिप्पणी किए हुए कहा कि 'ये उनका निजी मामला था इसको छोड़ देना चाहिए।'

बीरेन्द्रबीर

बाबू देवकी नंदन खत्री द्वारा लिखित अपराध प्रधान उपन्यास है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन नागरीप्रचारिणी सभा काशी से 1895 ई0 में हुआ। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है कि ''बीरेन्द्रवीर अथवा कटोरा भर खून बाबू देवकी नंदन खत्री द्वारा रचित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकासित 1895।''[151] इस उपन्यास की शुरूआत रहस्यात्मक घटना कटोरा भर खून को लेकर हुई। इसमें ऐसे राजपरिवार की कथा है जो शासक होते हुए भी शासित है। इसकी मूल कथा बिहार के जमींदार करन सिंह पर आधारित है। करन सिंह के यहाँ सुखा पड़ने के कारण उनकी सारी फसल नष्ट हो गयी, कर माफी के लिए राजा से अपील भी की लेकिन उस पर किसी प्रकार की सुनवाई नहीं हुई। उसकी सारी सम्पत्ति शासन द्वारा अधिग्रहित कर ली गयी। तब वह अपनी पत्नी के सारे गहने पाँच सौ में बेचकर उसमें से तीन सौ अपने विश्वास पात्र नौकर करन सिंह राठी को देकर बीबी बच्चों को उसी के आसरे छोड़कर व्यापार करने चला जाता है। शुरूआती दौर में वहाँ के राजा को शक होता है कि कहीं यह कोई दुश्मन का आदमी तो नहीं है, जाँच कराने पर पता चलता है कि यह एक रहमदिल इंसान है। राजा कुछ दिनों में उसके न्यायप्रियता और सच्चे स्वभाव से प्रशन्न होकर उसको कुछ क्षेत्र दे देता है। जब करन सिंह अपने बीबी बच्चों को लेने जाता है तो रास्ते में करन सिंह राठी की नियत खराब हो जाती है। और करन सिंह को जहर देकर मार देता है बड़े बेटे को मारकर फेक देता है दोनों छोटे लड़के और लड़की को लेकर चला जाता है। उनका पालन पोषण स्वयं करता है। वीरसिंह उसकी बहन अहिल्या जो तारा के साथ रहती है पर करन सिंह राठी उसको यह नहीं बताता कि वह उसकी बहन है। अहिल्या के बड़े होने पर राजा की नियत खराब हो जाती है और वह तारा की शादी तो करने देता है पर अहिल्या की शादी करने का विरोध करता है, जबकि अहिल्या तारा से उम्र में बड़ी है। इस बात से परदा तब उठता है जब अहिल्या से कहता है कि ''सुन्दरी, अगर तू मेरी बात न मानेगी तो पछताएगी। मैं जबर्दस्ती तुझे अपने कब्जे में करके अपनी ख्वाहिश पूरी कर सकता हूँ, मगर मैं चाहता हूँ कि एक दिन के लिए क्या हमेशे के लिए तू मेरी हो जा। अगर तेरी इच्छा है तो तेरे लिए रानी को भी मार डालने को

तैयार हूँ और तुझे अपनी रानी बना सकता हूँ।''[152] बाद में रानी उसको अपनी मायके भिजवाकर उसका विवाह बाबूसिंह से करवा देती है कुछ सालों बाद जब राजा को इस बात का पता चलता है, तो वह उसका अपहरण करवा लेता है। उस पर दबाव डालता है कि मेरी हो जाओ मैं तुम्हारे लिए रानी को मार दूँगा। काफी लोभ देने पर उसकी बात नहीं मानती। अन्ततः उसकी पुत्री को लटका कर काट दिया जाता है। यह सब दृश्य तारा और उसकी दो नौकरानियाँ देख लेती है। तारा बेहोश हो जाती है। जब होश में आती है तो देखती है की दोनों की लाशें जमीन पर पड़ी रहती है और राजा तारा को उसके पिता सुजान सिंह को मारने के लिए कहता है वह ऐसा नहीं कर पाता बाद में तारा सारा वृत्तांत बीरसिंह को बता देती है राजा के लिए मुश्किलें बढ़ जाती हैं और वह अपने छोटे पुत्र के खून के आरोप में बीरेन्द्र सिंह को फँसा देता है। फिर उसे नाहर सिंह नामक डाकू छुड़ा ले जाता है। यह उसका बड़ा भाई विजय सिंह है जिसे करनसिंह राठी ने मरा हुआ जानकर छोड़ा था। दोनों जमींदार और नेपाल के सेनापति खड्ग सिंह के साथ मिलकर करन सिंह राठी पर विजय प्राप्त करते हैं। अन्त में नाहर सिंह अपने एक विश्वासपात्र साधु से मिलता है यह साधु वही करन सिंह है जिनको जहर दे दिया गया था। इनको अनिरूद्ध के भाई ने पाँच वर्ष तक बेहोशी की अवस्था में रखा था जब होश आया तो एकान्त में रहने लगे। करन सिंह की आज्ञा होने के कारण अनिरूद्ध सिंह ने यह भेद नाहर सिंह को नहीं बताया।

भारतीय ही नहीं अपितु औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी विडम्बना थी कि अपने किए पर परदा डालने के लिए बेकसूर लोगों को बेवजह किसी आरोप में बंद कर दिया जाता था, 1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजों ने अनेक गिरफ्तारियाँ की, र्निदोषों को सजा दी गयी, इसकी अभिव्यक्ति देवकीनंदन खत्री ने बीरेन्द्र सिंह के माध्यम से की है। अगर देखा जाए तो इस उपन्यास में केवल आपराधिक घटनाओं का उल्लेख करते हुए मनोरंजन करता नहीं अपितु इसके साथ ही ब्रिटिश शासन के निकम्मेंपन को भी उजागर किया है। किया प्रकार प्रशासन अपने दोषों को छिपाने के लिए लोगों को झूठे आरोप लगाकर दण्डित करता था। इस उपन्यास में स्त्रियों को जिस तरह निरीह दिखाया गया है, यह उस समय के रजवाड़ों की विसंगति को दर्शाता है। खत्री जी अधिकांश स्त्री पात्र अवला ही हैं।

उदाहणार्थ राजा के पुत्र की लास देखकर जो उनकी दशा होती है उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि ''हाँ, अगर मर्दों की मंडली होती तो शायद दो एक आदमी रह भी जाते मगर औरतों का इतना बड़ा कलेजा कहाँ''[153] खत्री जी ने भले ही पुरूषों के बीरता का बखान किया है पर स्त्री–पुरूष के आपसी संबंधों के महत्व को स्वीकार करते हैं जो उन्नीसवीं सदी में बहुत बड़ी बात है इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ''बीर। तुम्हारी बातें मेरे दिल में खुपी जाती हैं और मैं भी यही चाहता हूँ कि यदि महाराज की आज्ञा न भी हो तौ भी तुम्हे अपने साथ लेता चलूँ; मगर उन लोगों के ताने शर्माता और डरता हूँ जो सिर हिला कर कहेंगे कि 'लो साहब बीरसिंह जोरू के साथ 'लो साहब बीरसिंह जोरू को साथ लेकर लड़ने गये हैं'.''[154]

जब राजा तारा को मारने की आज्ञा देता है तो उस समय अपने पति के बारे में सोचती है कि ''हाय, अगर ऐसा होता है तो मैं पति के पहिले ही मरने के लिए तैयार हूं, बस अब देर मत करो। है! तुम रोते क्यों हो ? अपने को सम्हालो और मेरे मारने में अब देर मत करो !!''[155]उन्नीसवीं सदी में लगभग सभी उपन्यासकारों ने स्त्री के इसी रूप का चित्रण किया है जो उस समय के स्त्री विमर्श का सबसे विमर्श का सबसे बड़ा मुद्दा है।

चंद्रकांता

चंद्रकांता की रचना देवकी नंदन खत्री ने सन् 1888 ई0 में की। इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन हरिप्रकाश यंत्रालय (प्रेस) काशी से हुआ था इसकी रचना खत्री जी ने ऐयारों को आधार बनाकर की है। इसके लेखन के पीछे सबसे बड़ा कारण एयारी किताबों का हिन्दी साहित्य में उपलब्ध नहीं होना था। इसकी भूमिका में लिखा है कि ''आज हिन्दी में बहुत से उपन्यास हुए हैं, जिनमें कई तरह की बातें वो राजनीति भी लिखी गयी है, मगर राजदरबार के तरीके वो सामान भी ज़ाहिर किये गये हैं, मगर राजदरबारों में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफन–मौला, यानि सूरत बदलना,

बहुत–सी दवाओं का जानना, गाना–बजाना दौड़ना, अस्त्र चलाना, जासूसों का काम देना, वगैरह बहुत सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराये वो पलटनों की जाने गँवाये लड़ाई खत्म करा देते थे। इन लोगों की बड़ी कदर की जाती थी। इन्हीं ऐयारी पेशे से आजकल बहुरूपिये दिखाई देते हैं। वे सब गुण तो इन लोगों में रहे नहीं, सिर्फ शक्ल बदलना रह गया, वह भी किसी काम का नहीं। इन ऐयारों का बयान हिन्दी किताबों में अभी तक मेरी नज़रों से नहीं गुज़रा। अगर हिन्दी पढ़ने वाले इस मजे को देख लें तो कई बातों का फायदा हो। सबसे ज़्यादे फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा। इन सब बातों का खयाल करके मैंने 'चंद्रकांता' नामक उपन्यास लिखा।''[156] यह खत्री जी का प्रथम उपन्यास है यह उन्नीसवीं सदी में हिन्दी साहित्य में सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाला उपन्यास है, इसकी लोकप्रियता का पाता इतने से ही लगया जा सकता है कि इसको पढ़ने के लिए हजारों लोगों ने हिन्दी सीखी। उपन्यास लेखन के क्षेत्र में प्रथम रचना से ही इतनी लोकप्रियता किसी अन्य समकालीन रचनाकार को नहीं मिली, वह भी उस समय जब लोग उपन्यास को छुप–छुपाकर पढ़ते थे इस विधा को अश्लील माना जाता था। अब यह अवधारणा समाप्त हो चुकी है।

धार्म सत्ता परिवर्तन का सदियों से महत्वपूर्ण कारणों में कारण प्रमुख रहा है। राजनीति ने धर्म का सहारा लेकर न जाने कितने राष्ट्रों को बर्वाद किया है। भारतीय ही नहीं अपितु विश्व के इतिहास में यह सदा से होता चला आया है। आधुनिक समय में राजनीति का धर्म से जो संबंध है, यह समस्या आज की ही ऊपजी नहीं है अपितु सदियों से परंपरा रूप में चली आ रही है। इसके नाम पर हमेशा आम जनता को छला गया है, धर्म के नाम पर प्रेरित होकर बड़े परिवर्तन का कारण बनी है, उसमें उसके साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। धर्म के नाम की संस्था में कुछ लोगों ने जहाँ अच्छा काम किया तो कुछ स्वार्थियों ने अपने लाभ के लिए पूरी विनाश लीला ही रच दी। इस बात को खत्री जी उस समय बखूबी समझ रहे थे। इस बात का उल्लेख क्रूरसिंह के गद्दी मिलने के संबंध में नाजिम से कहलवाते हैं कि ''नजिम : हमारे राजा के यहाँ बनिस्बत काफिरों के मुसलमान

ज़्यादा हैं, उन सभों को आपकी मदद के लिए मैं राज़ी कर सकता हूँ और उन लोगों से कसम खिला सकता हूँ कि महाराज के बाद अपको राजा मानें मगर शर्त यह है कि काम हो जाने पर आप भी हमारे मज़हब मुसलमानी को क़बूल करें ?

क्रूरसिंह : अगर ऐसा है तो तुम्हारी शर्त मैं दिलो जान से क़बूल करता हूँ।

अहमद : तो बस ठीक है, आप इस बात का इकरारनामा लिखकर मेरे हवाले करें, मैं सब मुसलमान भाइयों को दिखलाकर उन्हें अपने साथ मिला लूँगा।''[157]

धर्म के साये में सदियों से फलती–फूलती चली आ रही जाति नामक मानवीय विरोधी रूढ़ि ने हर युग में इंसान का गला घोटा है। इंसान की बनाई इस व्यवस्था ने वर्ण से जाति और उपजाति में परिवर्तित हो गया। अब आदमी अपने नाम या कर्म से नहीं पहचाना जाता है भाई चारा भी जाति से निर्मित हो रहा है यह एक ऐसा मनोरोग है जिसका इलाज करने में सैकड़ों वर्षों लगे, अगर यह व्यवस्था समाप्त होगी तो इसके मूल से कोई और मानवता विरोधी व्यवस्था पैदा हो जाएगी, चेहरा बदल जाएगा पर आत्मा वही रहेगी। जाति और सम्प्रदायवाद ने मानवीय प्रेम का विनाश ही किया है। जातिवाद से देवकी नंदन खत्री भी ऊपर नहीं उबर पाए थे इसका समर्थन करते हुए खत्री जी तेजसिंह के माध्यम से करते हुए लिखे हैं कि ''मैं हिन्दू हूँ हुक्का तो नहीं पी सकता, हाँ हाथ से ज़रूर पी लूँगा।''[158] खत्री जीने जितना अपने पात्रों को जाति से धर्म भ्रष्ट होन पर ध्यान दिया है। उतना ध्यान इससे होने वाली मानवीय संबंधों में हानि की ओर नहीं दिया है। उन्नीसवीं सदी में चल रहे समाज सुधार अन्दोलनों को उस समय का पढ़े–लिखे वर्ग ने भी ठेगा दिखाया था। उसमें अधिकांश लोग धर्म, संस्कृति, और परंपरा नामक मनोरोग से ग्रसित थे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि देवकी नंदन खत्री जाति के समर्थकों में एक थे। इन्होंने चंद्रकांता में ही नहीं अपितु कुसुम कुमारी में भी इसका समर्थन किया है। जब रनबीर और जसवन्त भटकते–भटकते एक वाटिका में जाते हैं तो वहाँ अपनी प्यास बुझाने के संदर्भ में बात करते हुए कहते हैं कि ''मुझे प्यास भी बड़े जोर की लगी है,

मगर जब तक यह न मालूम हो कि यह बाग किसका है या यह डोल किस जात के पानी पीने का है तब इस डोल से पानी भर कैसे पीऊँ ?''[159]

मुसलमानों के प्रति देवकीनंदन खत्री का दृष्टिकोण वैसा ही था जैसा कि तत्कालीन अन्य बहुसंख्यक उपन्यासकारों का। इस उपन्यास में उसे धर्म परिवर्तन करने वाला, गलत लोगों का साथ देने वाला दिखाया गया है। उदाहरणर्थ इस पंक्तियों में देखा जा सकता है जिसमें तेजसिंह कहता है कि ''मुसलमान सब उसके दोस्त हैं, दोहाई महाराज की ! खूब तहकीक़ात की जाय !'' महाराज ने मुंशी से कहा, ''तुम जाकर पता लगाओं की क्या मामला है ?'' थोड़ी देर बाद मुंशी आए और बोले ''महाराज क्रूरसिंह घर में तो नहीं हैं, और घरवाले कुछ बताते नहीं कि कहाँ गए हैं।'' महराज ने कहा ''जरूर चुनार गया होगा ! अच्छा उसके यहाँ के किसी प्यादे को बुलाओ।'' हुक्म पाते ही चोबदार गया और एक बदकिस्मत प्यादे को पकड़ लाया। महाराज ने पूछा क्रूरसिंह कहाँ गया है ?'' प्यादे ने ठीक पता नहीं दिया। रामलाल ने फिर कहा ''दोहाई महाराज बिना मार खाये न बतायेगा !'' महाराज ने मारने का हुक्म दिया। पिटने के पहले ही उस बदनसीब ने बतला किया कि चुनार गये हैं।''[160] आगे विजयगढ़ के बारे में हरदयाल से बात करते हुए कहता है कि ''आप दो बातों बुलाबें।''[161] इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन बहुसंख्यक वर्ग का मुसलमानों के प्रति क्या रवैया था। सन् सत्तावन की क्रांति के असफलता का सबसे बड़ा कारण साम्प्रदायिक मतभेद था। हिन्दुओं और मुसलमानों के इस आपसी मतभेद को अंग्रेजों ने और बढ़ाने का प्रयास किया, और इसमें सफल भी रहे। इसके फलस्वरूप 1906 में मुस्लिम लीक की स्थापना हुई और 1947 भारत पाक की त्रासदी, उसके बाद न जाने कितने अमानुषिक नरसंहार हुए जो आज भी उसी रूप में हैं। सम्प्रदायवाद की जड़ इतने गहरे तक जम चुकी है कि एक सम्प्रदाय दूसरे का हमेशा अविश्वास की दृष्टि से देखता है। जय सिंह मुसलमान सिपाहियों पर शक जाहिर करते हुए कहता है कि ''हरदयाल सिंह ने मुसलमानों को बहुत कम कर दिया था तो भी एक हजार मुसलमान रह गये थे। क़वायद देख कुमार बहुत खुश हुए मगर मुसलमानों की सूरत देख त्योरी चढ़ गयी। कुमार की सूरत से महाराज समझ गये और धीरे से पूछा, ''इन लोगों को जबाब दे देना चाहिए ?''[162] आगे

कुमार ने कहा ''नहीं, निकाल देने से ये लोग दुश्मन के साथ मिल जायेंगे ! मेरी समझ में बेहतर होगा कि दुश्मन को रोकने लिए पहले इन्हीं लोगों को भेजा जाय। इनके पीछे तोपखाना और थोड़ी फौज हमारी रहेगी, वे लोग इन लोगों की नियत ख़राब देखने या भागने का इरादा मालूम होने पर पीछे से तोप मारकर इन सभों की सफ़ई कर डालेंगे। ऐसा खौफ़ रहने से ये लोग एक दफ़े तो खूब लड़ जायेंगे, मुफ्त में मारे जाने लड़कर मरना बेहतर समझेगें।''[163] स्त्रियों के संबंध में ऐसा लगता है कि खत्री का दृष्टिकोण पारंपरिक ही रहा है। अभी भी लोगों में यह प्रचलित है कि स्त्रियों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। किस क्षण बदल जाए कुछ नहीं कहा जा सकता। बीरेन्द्रसिंह राजा शिवदत्त के बगल में भेस बदलकर बैठे एआरों को चंद्रकांता और चपला के रूप में देखकर कहता है कि ''यह क्या हो गया ! चंद्रकांता इस तरह खुशी–खुशी शिवदत्त के बगल में बैठी हुई हाव–भाव कर रही है, यह क्या मामला है ? क्या मेरी मुहब्बत एकदम उसके दिल से जाती रही, साथ ही माँ–बाप की मुहब्बत भी बिल्कुल उड़ गयी ? तिसमें मेरे सामने उसकी यह कैफ़ियत है ! क्या वह यह नहीं जानती कि उसके सामने ही मैं इस कोठरी में कैदियों की तरह पड़ा हुआ हूँ ? जरूर जानती है, वह देखो मेरी तरफ तिरछी आँखों से देख मुँह बिचका रही है। साथ ही इसके चपला को क्या हो गया जो तेजसिंह पर जी दिये बैठी थी और हथेली पर जान रख इसी महाराज शिवदत्त को छकाकर तेजसिंह को छुड़ा ले गयी थी। उस वक्त महाराज शिवदत्त की मुहब्बत इसको न हुई और इस तरह अपनी मालकिन चन्द्रकान्ता के साथ बराबरी के दर्ज़े पर शिवदत्त के बग़ल में बैठी है। हाय–हाय, स्त्रियों का कुछ ठिकाना नहीं, इनपर भरोसा करना बड़ी भूल है।''[164] यही दृष्टिकोण बाद में लिखित उपन्यास कुसुमकुमारी में भी इनको लेकर दिखाई देता है। जब जसवन्त गुप्त द्वार से डर जाता है और कालिन्दी को छोड़कर भाग आता है तो बिना सोचे समझे उसका दोष देते हुए कहता है कि ''जसवन्त– वह मेरे प्रेम में उलझकर नहीं आई थी बल्कि मेरी मौत बनकर आई थी और मुझे मारकर अपने मालिक की खैरखाही उत्तम रीति से किया चाहती थी !... बेशक मुझसे भूल हुई, अब कभी ऐसा नहीं करूँगा। अगर कोई मर्द रहता तो मैं कभी धोके में नहीं आता मगर उस औरत की सूरत ने मुझे दीवाना बना दिया।''[165]

उन्नीसवीं सदी में चल रहे समाज सुधार आन्दोलनों में स्त्रियों से संबंधित मुद्दों स्त्री–शिक्षा, विधवा विवाह, बाल विवाह एवं बेमेल विवाह निषेध आदि प्रमुख थे। खत्री जी इन समाजसुधार मुद्दों से परिचित होते हुए भी कुछ विशेष नहीं लिखा। इस उपन्यास में विधवाओं को खाना पानी देने का समर्थन करते हुए लिखा है कि ''शिवदत्त– जो कुछ मैं चाहता हूँ आप सुन लीजिए। मेरे आगे कोई लड़का नहीं है जिसकी मुझे फिक्र हो। हाँ, चुनार के किले में मेरे रिश्तेदारों की कई बेवाएँ हैं, जिनकी परवरिश मेरे ही सबब से होती थी, उनके लिए आप कोई ऐसा बन्दोबस्त कर दें, जिससे उन बेचारियों की ज़िन्दगी आराम से गुजारे।''[166] यहाँ पर खत्री जी विधवाओं को अनाथलय की व्यस्था का समर्थन करते हैं अर्थात जैसे अनाथालय में खाना पानी दे दिया जाता है उसी प्रकार इनके साथ भी व्यवहार करने पर बल दिया है, कहीं भी उनके सामाजिक भागीदारी और अधिकार की बात नहीं की है। इस संदर्भ में में देखें तो हिन्दी साहित्य के सिर मौर माने जाने वाले साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट जो की किसी भी मुद्दे पर अपनी तीखी टिप्पणी के लिए जाने जाते हैं, जब विधवा विवाह की बात आई तो यह कहकर अपने को अलग कर लेते है कि ''हमारी कुलवधू की शोभा इसी में है कि कष्ट सहते हुए अपने सतीत्व की रक्षा करे।''[167]

इनके अलावा अन्य समकलीन रचनाकार इस मुद्दों पर लगभग चुप्पी ही साधे हुए हैं। फिर भी अगर देखा जाए तो च्रंद्रकांता अपने समकालीन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक मुद्दों को दूसरे अर्थों में व्याख्यायित करता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों को घटना प्रधान कहकर साहित्यिक उपन्यास मानने से इनकार कर दिया है। परावर्ती आलोचकों और इतिहासकारों ने लगभग इनके संदर्भ में यही राय दी है। इस बाता से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनके उपन्यास घटना प्रधान उपन्यास हैं पर घटना प्रधान उपन्यास कहकर इनका मूल्यांकन न करना इनके और उस युग दोनों के प्रति अन्याय है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने खत्री जी के उपन्यास के संबंध महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''1. खत्री जी के उपन्यास घटना–प्रधान, मनोरंजन और कौतूहलवर्द्धक कहे जा सकते हैं। इनके उपन्यासों का विधान तिलिस्मी और जासूसी के उन प्रयोगों को लेकर किया है जो पिछले

समय के जागीरदारों और सामंतों के क्रीड़ा–विलास के परिचायक है। 2. यद्यपि इन उपन्यासों में असंम्भव घटनाओं का योग है, परन्तु साथ ही घटनाओं की योजना कौतूहल की बृद्धि करती है, जिसमें पाठक का मन रमता है। नायक और नायिकाएँ यद्यपि राजकीय वर्ग से ली गई है, परंतु चरित्र–निर्माण प्रेम और वीरता के स्वच्छन्द प्रसंगों को लेकर हुआ है, जिससे उनमें जन–साधारण के लिए आकर्षण आ गया है।''[168] ''भारतेंदु युग हमारे समाज में एक आन्दोलन का रूप है जो मध्यवर्ग के उत्थान के साथ शुरू होता है। उस युग में समाज राजे राजवाड़ों की पकड़ के बाहर निकलने लगा और उसका नेतृत्त्व मध्यवर्ग के हाथों में आने लगा था। भारतेंदु युग के लेखकों ने अपनी अनेक रचनाओं में राजे–राजवाड़ों के हाथों से समसज की बागडोर निकलने के चित्र प्रस्तुत किए और राज–दरबारों के षड्यंत्रों का भण्डाफोड़ किया। उनपर छाई वासना और विलासिता और उनकी दिन दिन गिरती हुई आर्थिक स्थिति की ओर संकेत किया. . . संतति में भारतेंदु यग के जीवन का एक अंग जो सड़ गया था, बड़ी अच्छी तरह प्रतिबिम्बित है।''[169]

हिन्दी साहित्य में देवकी नंदन खत्री को देखा जाए तो इनके द्वार रचित उपन्यास मात्र कथ्य की दृष्टि से ही नहीं अपितु भाषा, भाव, चरित्र चित्रण और अपने संवाद योजन के अतिरिक्त अन्य कारण से इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा जैसा की इस विषय पर चर्च हो चुकी है। खत्री जी की भाषा प्रायः वाह्यडंबरों से प्रायः मुक्त है। खत्री जी ने अपने उपन्यास 'चंद्रकांता', 'बीरेन्द्रवीर' 'नरेन्द्र मोहिनी' या 'चन्द्रकाता संतति' में अतिरिक्त भाषायी बोझ लादनें का प्रयास नहीं किया है। इनकी भाषा को कुछ रचनाकार राजा शिवप्रसाद की नकल कहते हैं अगर विचार किया जाए तो देखने में मिलता है कि इनकी भाषा कुछ हद तक राजा साहब की भाषायी आदर्श का एक नाया संस्करण है। जैसा कि राजा साहब सामान्य जनता की भाषा पर अधिक जोर देते थे उसी तरह खत्री जी ने अपने लेखन में बहुसंख्यक वर्ग द्वारा बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दुस्तानी' का व्यवहार किया है। खत्री जी ने 'चंद्रकांता' की भाषा के संदर्भ में इसकी भूमिका में लिखा है कि ''अगर हिन्दी पढ़नेवाले इसे मजे को देख ले तो कई बातों का फायदा हो। सबसे ज्यादे फ़ायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा''[170] खत्री जी ने अपनी भाषा के

संदर्भ में 'चंद्रकांता संतति' के चौविसवें भाग में लिखा है कि ''इसके पढ़ने के लिए कोश की तलास नहीं करनी पड़ती।''[171] खत्री जी अपने उपन्यासों की रचना साधारण पाठकों को ध्यान में रखकर किया है। इनकी इसी नीति के कारण इनके उपन्यासों को हाथो–हाथ लिया गया। इसकी भाषा को समझने के लिए लोगों को अलग से मशक्त नहीं करनी पड़ती थी। ''देवकीनंदन की सभी कथा पुस्तकें सुखांत हैं। उनकी सभी कथाओं के अन्त में विवाहों की धूम–धाम दिखाई पड़ती है। चंद्रकांता के अन्त में चंद्रकांत और बीरेन्द्र सिंह के विवाह, उसकी धूमधाम तथा हँसी खुशी का विस्तृत वर्णन है। चंद्रकांता और बीरेन्द्र का ही नहीं, चपला और तेज सिंह तथा चम्पा और देवी सिंह का भी विवाह होता है। 'चंद्रकांता संतति' के अन्त में लगभग आधे दर्जन जोड़ों का विवाह होता है। अल्पशिक्षित पाठकों की सुखांत कथाओं में अधिक रूचि होती है।''[172] इस बात का खाशा ध्यान रखकर इन्होंने अपने उपन्यासों की रचना की है। पाठकों की रूचि का ध्यान रखते हुए खत्री जी संवाद योजना सटीक की है ताकि पाठकों को कहीं उब महशूस नहीं हो। इनके संवाद कौशल को निम्न उद्धरणों में देखा जा सकता है–

''तेज सिंह को देखकर कुमार ने जोर से कहा ''आओं भाई तेजसिंह, तुम तो विजयगढ़ ऐसे गये कि फिर खबर भी न ली, क्या हमको एकदम ही भूल गए ?''

तेजसिंह :(हँसकर) विजयगढ़ में आप ही काम कर रहा हूँ कि अपने बाप का ?

बीरेन्दसिंह : अपने बाप का।''[173]

शिल्प की दृष्टि से अगर 'बीरेन्द्रवीर' को देखा जाए तो इसमें औपन्यासिक गुणों का समावेश पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है यह रचना अपने समकालीन लिखे गये उपन्यासों में भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। इसमें चंद्रकांता और कुसुमकुमारी के समान ही भाषा के प्रवाह को रचनाकार कहीं बाधित करता नहीं दिखाई देता है। इसमें उर्दू, फारसी और लोकप्रचलित शब्दों का प्रयोग कथानक को संबृद्ध बनाते हैं, इसके साथ ही इसकी नाटकीयता पाठक वर्ग को और भी आकर्षित करती हैं और कहीं भी उसकी रूचि को बाधित करते नहीं दिखाई देती।

इनके अलावा खत्री जी के अन्य उपन्यासों में सफल संवाद योजना देखी जा सकती है। खत्री जी एक सबसे बड़ी विशेषता है कि वे अपने पाठक के साथ चलते हैं अर्थात् सुख दुःख जो भी हो ये पाठक के अनुसार ही निष्कर्ष देते चलते हैं। खत्री जी ने जितने भी उपान्यासों की रचना की किसी में भी किसी प्रकार की अतिरिक्त विद्वता दिखाने का प्रयास नहीं किया। जो इनके उपन्यासों को सबसे ज्यादा पसंद किए जाने का मूल कारण था।

हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी

हृदयहारिणी वा आदर्शवाला किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका प्रथम संस्करण 1904 में प्रकाशित हुआ। ''जिसमें सूचना है कि हदयहारिणी उपन्यास तेरह वर्ष पूर्व हिन्दी के एक मात्र दैनिक (1809 ई0) में छपा था। उस समय लेखक के परम मित्र पंडितवर प्रतापनारायण मिश्र उसका संपादन करते थे।''[174] लवंगलता वा आदर्शवाला की भाँति यह भी सिराजुदौल पर आधारित है, इन दोनों उपन्यासों को भाग–1 और भाग दो कहा जा सकता है। इन दोनों उपन्यासों का मूल्यांकन अलग–अलग करना संभव नहीं है। अगर कर भी लिया गया तो किशोरीलाल गोस्वामी के प्रति पूरी ईमानदारी से न्याय नहीं हो पाएगा। दोनों के कथानक एक दूसरे पूरक हैं।

सिराजुदौला दिन के तीसरे पहर में अपने मनोरंजन के लिए सभा का आयोजन करता है। उसका कहना था कि ''जब खूब घनी भीड़ इकट्ठी हो जाय, तो उसपर एक मतवाले हाथी को छोड़ना और फिर वह हाथी किस किस को किस किस तरह चीरता, फाड़ता, कुचलता और मारता है, यह तमाशा देखकर अपने दिल को साद करना।''[175] जब कुसुमकुमारी पोटली बगल में दबाये नजरें नीची किए हुए जा रही थी और हाथी उसी की तरफ बढ़ रहा था। ''कोई कहता–'' हा ! परमेश्वर ! यह लड़की मरी।'' कोई कहता–''अब किसी तरह नहीं बच सकती।'' कोई चिल्लाता, ''अरी बावली भाग जा, देखती नहीं नब्बाब का मतवाला हाथी तेरे ही ऊपर झपटा हुआ आ रहा है।''[176] नरेंद्र आकर अपने जहरीले

बाण से हाथी को मार देता है कुसुमकुमारी चली जाती है नरेंद्र लोगों से उसके बारे में पूछ कर उसी रास्ते हो लेता है जिस रस्ते वह जाती है। आगे उससे मुलाकात होती है वह उसके घर जाता है उसकी स्थिति एकदम दैनिय रहती है, इसके पहले जब आया था तो कुसुम की मदद करना चहता था पर उसकी माँ को यह सब पसंद नहीं आता है, तब वह उसकी टोपियाँ खरीदकर मदद करता है। नरेंद्र इससे पहले अपना नाम बीरेंद्र बताकर रखता है उससे उसकी माँ को और कुसुमकुमारी को बहुत लगाव हो जाता है, जब बिना बताए घर छोड़कर चला जाता है तब उसकी माँ नरेंद्र के चिंता में बीमार हो जाती है। जब नरेंद्र से दूबारा मुलाकात होती है तो अपना असली नाम तो बताता है ही साथ में यह भी बताता है कि मैं कौन हूँ। उसकी माँ कमलादेवी मृत्यु के बाद कुसुमकुमारी और उसकी दासी को कुछ दिन किसी गुप्त स्थान पर रखता है, फिर अपने राज्य में ले जाता है।

उसी समय अंग्रेजों और सिराजुदौला के बीच युद्ध होने वाला होता है, इसमें अंग्रेजों की तरफ से नरेंद्र को भी युद्ध लड़ने का न्यौता आता है वह उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। जब सिराजुदौला राजाओं से मदद माँगने जाता है तो उसकी कोई मदद नहीं करता है। इस युद्ध में सिराजुदौला की हार होती है। युद्ध के बाद कुसुमकुमारी को पिता और उसके मामी की संपत्ति लौटा दी जाती है। इसके साथ ही उसे दो लाख रूपये भी मिलते हैं। वह अपनी अपनी सारी संपत्ति ननद को सौपकर पहले लवंगलता और मदनमोन की सादी कराती है फिर कुसुमकुमारी और नरेंद्र परिणय बंधन में बध जाते हैं।

उन्नीसवीं सदी में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक उपन्यासों में समय पात्र एवं कथ्य का ध्यान अच्छी तरह रखा गया है लेकिन कथा में अपने चल रहे पूर्वाग्रहों को थोप दिया है। व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण इन उपन्यासों की ऐतिहासिकता की सच्ची झलक देखने को नहीं मिलती। किशोरी लाल गोस्वामी ने इन पूर्वाग्रहों के कारण इतिहास के दरख्तों को पहचानने की कोशिश नहीं की। इनके इन उपन्यासों में तमाम इतिहास विधायक कमियाँ होने पर भी अपनी ऐतिहासिकता बचाए हुए हैं। ऐतिहासिक उपन्यास का प्रारंभिक रूप इनके उपन्यासों में देखने को मिलता है, अतः इनको हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास का जन्मदाता कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

किशोरीलाल गोस्वामी को अच्छी तरह पता था कि अंग्रेजीराज में भारत की आम जनता की क्या दुर्गति हो रही है इस उपन्यास को पढ़ते हुए इनकी यह चिन्ता भले आम लगती है। पर मुसलमानों से अंग्रेजों को श्रेष्ठ घोषित करते हैं यह उनका भ्रम था जितना त्रासद जीवन भारतीय जनता का अंग्रेजीराज में गुजारा वैसा शायद ही किसी मुसलमान शासक के काल में रहा हो। किशोरीलाल गोस्वामी के सामने अंग्रेजीराज का वर्षों का इतिहास सामने था फिर भी ऐसी बात क्यों किए। इसके पीछे दो प्रमुख कारण थे एक अंग्रेजीराज का आतंक, दो अति हिन्दुवादी मानसिकता से ग्रसित होना। मुसलमानों की आलोचना करते हुए लिखा है कि ''जिस काल में भारत की स्वाधीनता को मिट्टी में मिलाया, उसी की अनिवार्य गति से मुसलमानों का प्रताप सूर्य भी कई सौ बरस तक खूबही तपकर अन्त में पश्चिम के महासागर में सदैव के लिए जाकर डूब गया और ब्रिटनियम (अंग्रेज़) सौदागरों ने सौदागरी के बहाने से इस देश को हड़प लिया। यद्यपि यह देश फिर भी पराधीनता की बेड़ी से जकड़ाही रह गया; पर इतना अच्छा हुआ कि अंग्रेजों ने मुसलमानों के अत्याचार से इस अधमरे देश का पिण्ड छुड़ाया। यद्यपि अभी तक अंग्रेजों ने उस उत्तम नीति का व्यवहार भारतीयों के साथ प्रारंभ नहीं किया है, जैसा कि वे अपने गोरे भाइयों के साथ करते हैं, पर तौ भी यहाँ वालों को इस बात पर संतोष है कि उनका गला अत्याचारियों से छूटा। इसी से कहना पड़ता है कि काल की महिमा का कोई पार नहीं पा सकता, चाहे सो करे।''[177] इनको इतना पता था कि मुसलमान सदियों से इस देश में रहते चले आ रहे हैं। उनपर नहीं विश्वास करना उस समय व्याप्त पूर्वाग्रह को व्यक्त करता है। नरेंद्र और मदनमोहन के माध्यम से इनकी बुराई करते हुए लिखा है कि ''यदि आज दिन भारत की इतनी दुर्गति न हुई होती, तो आज एक विदेशी मित्र के सामने सहायता के लिए हाथ न फैलाना पड़ता। मैं जहाँ तक अनुमान करता हूँ एक न एक दिन ये विलायती सारे भारतवर्ष में अपना झण्डा फहरावेंगे और तब ये लोग यहाँ वालों के साथ कैसा बर्ताव करैंगे, इसे ईश्वर ही जाने, पर इस समय तो ये लोग अत्याचारी मुसलमानों के जुल्म से यहाँ वालों को बहुत ही बचा रहे हैं, यह थोड़े आनन्द की बात नहीं है।''[178]

माधव सिंह ने कहा,–''यद्यपि जिस भांति कंपनी वाले इस देश में अपना पैर जमाते जाते हैं, आपके कथनानुसार किसी न किसी दिन ये अवश्य भारत के राजा बन बैठेंगे और यहां वाले फिर भी पराधीन ही रहेंगे, किन्तु एक अत्याचारी राजा की प्रजा बनने की अपेक्षा एक न्यायी राजा का दासानुदास बनना कड़ोर गुना अच्छा है, क्योंकि इस बात के लिए यह भारत अंग्रेजों का सदा रानियाँ बना रहेगा कि इन्होंने अत्याचारियों के हाथ से यहां वालों की जान बचाई। यदि ऐसे अवसर पर अंग्रेज न आए होते तो यहां वाले अपना या अपने देश का कल्याण न कर सकते, क्योंकि कई सौ बरस तक मुसलमानों की गुलामी करते करते हिन्दुओं में अब जान ही कितनी बाकी रह गई है।''[179] यहाँ ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी अंग्रेजीराज के हिमाईती थे। इन्होंने देश का कल्याण अपने हाथों न सोचकर विदेशियों के हाथ सोचा यह उस समय के बहुसंख्यक मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विडंबना थी।

1857 के क्रांति के असफलता का एक प्रमुख कारण सम्प्रदायवाद इस उपन्यास में उभर कर सामने आता है जो उस समय की राजनैतिक दशा से हमें परिचित कराता है। एक जगह अंग्रेजों को एकदम निर्दोश मानते हुए दाग लगाने वाला सेठ अमीनचंद को बताते राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ''राजा शिवप्रसाद सदा अंग्रेजों की खुशामद करते रहे, पर क्लाइब की यह बात उन्हें बुरी भी लगी और उन्होंने भी उसके लिए यों लिखा कि–''अफ़सोस है कि क्लाइब ऐसे मर्द से ऐसी बात ज़हूर में आवे, पर क्या करें ईश्वर को मंजूर है कि आदमी काम बे ऐब न रहे। इस मुल्क में अंग्रेरेज़ी अमल्दारी शुरू से आज तक मुआमले की सफाई और कौलक़रार की सचाई में मानों धोबी की धोई हुई सफ़ेद चादर रही है, केवल इसी अमीनचंद ने उसमें यह एक छीटा सा लगा दिया है''[180] इनका ऐसा कहना सीधे–सीधे अंग्रेजों की चापलूसी करना है।

लवंगलता वा आदर्शवाला

लवंगलता वा आदर्शवाला किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी रचना अठहरवीं सदी की महत्वपूर्ण घटना बंगाल में अंग्रेजों के शासन की

स्थापना और सिराजुदौला का पतन को लेकर लिखा गया। उसके पतन के पीछे क्या कारण थे गोस्वामी जी ने उसे अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक सच कितना यह तभी तक निर्णय किया जा सकता है जब सिराजुदौला के शासन काल के ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी हो।

सेठ अमीनचंद अग्रेजों के काफी करीबी मित्र थे, उनके व्यवसाय में हमेशा मदद किया करते थे। जब उनका परिचय बड़े–बड़े साहूकारों से हो गया तो उनको वो सम्मान देना बंद कर दिए जो पहले देते थे इसके साथ ही विश्वास करना भी बंद कर दिये। जब सिराजुदौला पर आक्रमण करते हैं तो उस समय सेठ अमीनचंद को कैद करा लेते हैं। जब उनका बफादार हजारीमल समान और स्त्रियों को लेकर भागना चाहता है उस समय घर को घेर लेते हैं और घुसने की कोशिश करते हैं, उनको रोकने की कोशिश में उनके सभी बफादार मारे जाते हैं। तब उनका जमादार स्त्रियों पर भारी अत्याचार होने की आकांक्षा के डर से तेरह स्त्रियों का सर काटकर स्वयं लड़ते हुए मारा जाता है। इसके बाद सिराजूदौला अंग्रेजों को हराकर सेठ अमीनचंद को मुक्त करता है।

सिराजूदौला का बहनोई सैयद अहमद उसका का ध्यान भोग विलास की ओर खिचता है, कई वेश्याओं से मिलाता है। एक दिन नरेन्द्र से कुसुमकुमारी के बारे में जान जाता है तो वह उसे पाने के लिए नरेन्द्र को धोखा देता है। सेठ अमीनचंद से कहता है कि जिसे आप अपना दोस्त समझते हैं वह आपका बहुत बड़ दुश्मन है और वही आपके बर्वादी का कारण है। इस बात को सुनकर अमीचंद उसे सिराजुदौला के पास पहुँचा देता है, इधर नरेंद्र को सैयद अहमद अपनी बातों में उलझाए रखना चाहता है कि सिराजूदौला आए और उसे गिरफ्तार कर ले, पर उससे पहले मीरजाफर का खत नरेंद्र को मिल जाता है और वह वहाँ से भाग जाता है। सिराजूदौला आने के बाद नरेंद्र को न पाकर सैयद अहमद पर कोई ध्यान नहीं देता है। मीरजाफर का बेटा मीर एक दिन सैयद अहमद को अमीनचंद और नबाब के खिलाफ भड़काने की कोशिश करता है। सैयद अहमद कहता है कि तुम्हारे पिता भी अंग्रेजों को गुप्त सूचानाएँ देते हैं। इस बीच वह गिरफ्तार कर लिया जाता है। फिर मीरजाफर उसके घर सबूत खोजने जाता है, वहाँ से एक संदूक उठवा

लाता है जिसमें सैयद और नरेंद्र के बीच लिखे गए अनेक पत्र मिलते, कुछ ऐसे भी पत्र थे जो अंग्रेजों और मीरजाफर के मिली भगत को साबित करते हैं। मीरजाफर तीन–चार उन पत्रों को रख लेता है जो भेजे नहीं गये थे। जितने पत्र मीरजाफर के खिलाफ मिलते हैं उनको वह जला देता है।

एक बार सैयद अहमद नरेंद्र के महल में घूम रहा था तो उसकी बहन की तस्बीर देखा और उसे किसी तरह उठा लाया। वही तस्बीर बाद में सिराजुदौला को मिल गई। सिराजुदौला ने नरेंद्र को अपनी बहन को पहुँचाने को कहा, उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इसके बाद सिराजुदौला अपने बीस विश्वासपात्रों को भेजकर लवंगलता का रात में सोते समय अपहरण करवा लेता है, लवंगलता रास्ते में बीसों का नाम लिख लेती है, उनको बेवकूफ बनाना चहती है पर वे इतने सचेत रहते हैं कि सफल नहीं हो पाती। मुर्शीदाबाद पहुँचने के बाद नगीना बानों जो कि सैयद अहमद की पत्नी थी उसने लवंगलता की काफी मदद की। पहले उन बीस विश्वास पात्रों पर आरोप लगाकर कत्ल करवाया। फिर सिराजुदौला को बेवकूफ बनाकर अपना काम निकालती रही। इधर मनमोहन जिसपर अपना सब कुछ सौंपकर अपने बीमार पिता से मिलने गया था वह लवंगलता खोजत–खोजते मीरजाफर से मिला बाद में उसकी मदद नगीना बानों ने की। उसने लवंगलता के साथ अपने पति को भी मुक्त कराकर दिल्ली की तरफ भाग गयी। इसके बाद अंग्रेजों और सिराजुदौला के बीच युद्ध हुआ, इसमें सिराजुदौला की हार हुई। संपंत्ति का बटवारा हुआ इसमें अमीनचंद को कुछ नहीं मिला, यही दुःख लेकर कुछ समय बाद मर गये।

किशोरीलाल गोस्वामी के दोनों उपन्यास (हृदयहारिणी वा आदर्शवाला और लवंगलता वा आदर्शवाला) ऐतिहासिक पद्वति पर लिखे गये हैं। अतः दोनों उपन्यासों में वर्णात्मकता अधिक देखने को मिलती है। किशोरीलाल गोस्वामी ने इन उपन्यासों की कथा बंगाल के नबाब सिराजुदौला और अंग्रेजों पर केंन्द्रित है। इस उपन्यास में गोस्वामी जी ने सिराजुदौला को एक चरित्रहीन, भोग–विलास में लिप्त मानवीय संवेदनाओं से विहीन राजा के रूप में प्रस्तुत किया है। दोनों उपन्यासों में सिराजुदौला को खलनायक के ही सिद्ध

किया गया है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से देखा जाए तो उतना महत्वपूर्ण नहीं है। इसका नायक नरेन्द्र को भले ही बनाया गया है परन्तु उसकी जीवंत भूमिका का स्पष्टीकरण नहीं हुआ है अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि गोस्वामी जी ने इन उपन्सासों में इतना अधिक वर्णात्मक पद्धति का प्रयोग किये हैं कि पात्रों को बोलने का मौका कम ही मिला है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से भले ही उपयुक्त न हो पर इनकी संवाद योजना पाठकों को अपनी तरफ अकर्षित करती है। उदाहरणार्थ दोनों उपन्यासों की संवाद योजना देखी जा सकती है–

''नज़ीर– ''अगर ताबेदार उस अमर के सुनने काबिल हो तो हुजूर बतलावें की वह कौन सी बात है, जिसने हजरत के दिल को आज इतना परीशान कर रखा है।''

सिराजुद्दौला,– ''क्या कहें, भाई ! मर्ज काबिल इजहार नहीं !''

नज़ीर– ''बेशक, हुजूर का फ़र्माना बजा है, लेकिन बात यह है कि जब तक गुलाम उस बात से अगाह न हो ले, क्योंकर उस बारे में अपनी नाक़िस राय जाहिर कर सकता है।''

सिराजुद्दौला– ''वाक़ई, मियां नज़ीर ! तुम्हारा कहना सही है, लेकिन वह बात ऐसी पेंचीली है कि हजार कोशिश करने पर भी ज़बान बाहर नहीं निकलती !''

सिराजुद्दौला,–'' वह क्या''

नज़ीर,–''अगर कुसूर मुआफ़ हो तो जुबान खोलूँ !''

नज़ीर,–(मुसकुराकर)''अगर मेरी समझ मेरे साथ दगा नहीं कर रही है, तो मैं बखूबी इस अमर को समझ गया हूँ।''[181]

उपर्युक्त पंक्तियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किशोरीलाल गोस्वामी इनमें किसी प्रकार की अतिरिक्त विद्वत्ता दिखाने का प्रयास नहीं किया है। गोस्वामी जी ने स्वभाविक बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। दोनों उपन्यास न कि ऐतिहासिक दृष्टि से अपितु अपनी यथार्थता से गहरे संबंध रखते हैं।

बलवंत भूमिहार

भुवनेश्वर मिश्र ने 'बलवंत भूमिहार' की रचना सन् 1896 ई0 में बिहार के भूमिहारों को लेकर की। यह एक याथार्थवादी ढंग का 166 पृष्ठों का उपन्यास है। इस बात की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ''बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग जमीन्दारों की संख्या में अधिक लोग भूमिहार जाति के पाए जाते हैं। जमीन्दारों से इनकी इतनी बहुतायत इस ओर है कि साधारण लोग इनकी 'जमीन्दार बाभन' जाति का कहते हैं। इस कारण मैंने इन लोगों का चरित्र इस पुस्तक मे लिखा है। इसकी कथा आज से प्रायः 30 बर्ष पूर्ब की सी दी गई है, पर जैसा चरित्र भूमिहारों का इसमें लिखा गया है प्रायः वैसा ही चरित्र उन लोगों का आज तक है। मैंने उस परित्र में दोषारोपण नहीं किया है और न उनकी उत्तमता प्रकट करने की चेष्ट की है– पर जैसा मैंने उसे पाया है इस पुस्तक में लिख दिया है। यदि उस चरित्र को यथार्थ रूप में लिखने में मुझसे किसी स्थान पर भूल हुई हो मेरे भूमिहार पाठक वर्ग उसे मेरी असावधानता का फल समझकर माफ करेंगे।''[182]

भूमिहारों पर केंद्रित यह उपन्यास उनकी तत्कालीन आपसी राजनीति और जन सामान्य के शोषण में अपनाए गये हथकंडों को ज्यों का त्यों उल्लेख किया है। जिस समस्या पर प्रेमचंद ने 1920 के बाद लिखना प्रारंभ किया उसको भुनेश्वर मिश्र के उपन्यास में 25 वर्ष पहले ही देख सकते हैं। जिस प्रगतीशीलता की बात 1936 के बाद की जाती है वह पारंपरिक रूप में हिन्दी साहित्य में देख सकते हैं। इस उपन्यास में भूमिहारों के बारे में लिखने के कारण मिश्र जी को उनका कोप भाजन भी बनना पड़ा था। भूमिहारों ने इसकी सारी प्रतियाँ खरीद कर गंगा में प्रवाहित कर दिया, किसी तरह उनकी पत्नी ने एक प्रति को छूपा ली। जिसका प्रकाशन 2005 में रामनिरंजन परिमलेंदु ने करवाया।

इसकी भूमिका देखने से स्पष्ट हो जाता है कि रचना करते समय भूमिहारों का आतंक कहीं न कही इनके मन में व्याप्त था। इसकी भूमिका में औपनिवेशिक भारत में भारतीयों के खुद का आपसी संबंध, स्वर्थीपन और तानाशाही को भरसक दिखाने का प्रयास किया है। उन्नीसवीं उदी में सामान्य जनता जो एक तरफ ब्रिटिश शासन से परेशानी थी,

दूसरे तरफ अपने जमींदारों और महाजनों से। जन सामान्य की क्या दशा थी इसके बारे में अंदाजा इस उपन्यास से लगाया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी तक आते–आते महाजनी सभ्यता ने पूँजीवादी रूप धारण कर लिया।

भारत में व्याप्त जाति प्रथा को श्रेष्ट समझी जाने वाली जातियों अपने फायदे के लिए हमेशा बढ़वा देता रहा है। धर्म नाम की संस्था को जहाँ एक ओर शान्ति एवं सुरक्षा का द्वेतक माना गया, वहीं स्वार्थियों के कारण सबसे बड़ा अशान्ति और विनाश लीला का साधन भी बना है। साम्प्रादयिक भावना की जड़ भारत में सदियों से चली आ रही है इसको बढ़ावा देने का काम हमेशा स्वार्थी पंडितों और मुल्लाओं के कारण होता रहा है। भुवनेश्वर मिश्र भी इस पूर्वग्रह से मुक्त नहीं हो पाए थे। इनकी इस मानसिकता का पता तब चलता है जब बलवंत की खोज में सिपाही आते है तो बुढ़िया के हाथ से पैसा छीनने वाले सिपाही के बारे में लिखा है कि ''बुढ़िया रूपये रखने के लिए उठी ही थी कि सिपाही लोग पहुँचे और बलवंत को नहीं पा उदास हो बुढ़िया को गाली देते चले गये। चलने के समय अदालत के मुसलमान सिपाही ने बुढ़िया के हाथ से दोनों रूपये छीन लिये।''[183] यहाँ पर मुसलमान सिपाही नहीं लिखते तो उपन्यास के कथ्य या शिल्प में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे स्पष्ट है कि अन्य हिन्दी साहित्सकारों की तरह ही इनका दृष्टिकोण मुसलमानों के प्रति सम्मान जनक नहीं दिखाई देता है। यह तत्कालीन भारतीय जनता का शोषण भारतीय जनता द्वारा किस तरह हो रहा था इस बात की ओर भुवनेश्वर मिश्र ने पाठक वर्ग का ध्यान खिचने का प्रयास किया है। इसकी भाषा का चयन पाठक वर्ग के अनकूल किया गया है। देवकी नंदन खत्री के समान ही इसके पाठकों को शब्द कोश की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, लेकिन कथ्य की दृष्टि से उतनी सफल रचना नहीं है।

ठेठ हिन्दी का ठाट

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध रचनाकार हरिऔध ने बंकीमपुर प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह के कहने पर सन् 1899 में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक उपन्यास की रचना

की। हरिऔध ने इस ओर संकेत करते हुए इसकी उपेद्घात (भूमिका) में लिखा है कि ''एक वर्ष वितने पर   यथेष्ट आनन्द होगा।'' इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन बंकीमपुर प्रेस हुआ। हरिऔध ने इस उपन्यास को एक लुभावनी कथा कहा है। इसका उल्लेख करते हुए मुख पृष्ठ पर लिखा कि 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' अर्थात् ठेठ हिन्दी में लिखी गई एक मन लुभाने वाली कहानी।''[184]

यह मूलतः ठेठ हिन्दी में लिखा गया पहला उपन्यास है। हरिऔध जी ने इंशाअल्लाह खाँ द्वारा ठेठ हिन्दी साहित्य में लिखी गयी प्रथम गद्य रचना 'रानी केतकी की कहानी' को दूसरी ठेठ हिन्दी की रचना 'ठेठ हिन्दी का ठाठ को स्वीकार किया है। इसकी भूमिका में लिखा है कि ''जहाँ तक मेरा अनुभव है मैं कह सकता हूँ, ठेठ हिन्दी में अब तक केवल एक ग्रंथ लिखा गया है, और वह लखनऊ के प्रसिद्ध कवि 'इनशा अल्लाह खाँ' की बनाई 'कहानी ठेठ हिन्दी' है। जो मेरा विचार ठीक है, और मैं भूलता नहीं हूँ, तो कहा जा सकता है कि मेरा 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक यह उपन्यास ठेठ हिन्दी का दूसरा ग्रंथ है।''[185]

यह प्रेमकथा पर आधारित एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें देवबाला और देवनन्दन की प्रेम कथा अनेक चली आ रही परंपरिक कथाओं पर आधारित तो है, पर इसमें उन पारंपराओं में क्या कमियाँ रही हैं, उससे समाज कौन सा हिस्सा हमेशा उपेक्षित रहा, किस पर अपने होने का बोझ लादकर समाज का एक हिस्सा अपनी मर्यादा का झूठा स्वांग भरता रहा, किन अतार्कीक और असमाजिक परंपराओं को निभाने के लिए एक इंसान के महत्व को इस समाज ने नहीं स्वीकार किया। मनवीय शरीर और स्वतंत्रता को हर पक्ष (स्त्री–पुरूष) को बराबर थी, पर पुरूष ने अपनी प्रभुसत्ता मनवाने के लिए स्त्रियों के विरूद्ध अनेक षडयंत्र रचे। इस बात को हरिऔध जी बखूबी समझ रहे थे। उन्होंने इसी पुरूषवादी मानसिकता को इस उपन्यास में व्यक्त किया है। जब देवबाला की मा उसका विवाह देवनन्दन से करने का प्रस्ताव रखती है तो उसका पिता कहता है कि ''मैं तुमको कहाँ तक समझाऊँ, देवनन्दन का ब्याह हमारी लड़की के साथ नहीं हो सकता। यह मैं जानता हूँ, देवनन्दन का बाप बड़ा धनी है; देवनन्दन भी देखने सुनने पढ़ने लिखने सब बातों में अच्छा है, पर हाड़ में तो अच्छा नहीं है !''[186] इस बात का तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन करते हुए

कहती है कि ''कैसा ! हाड़ में अच्छा नहीं है कैसा ! मैं तो जानती हूँ, उसके ऐसा सुघर सजीला लड़का इस गाँव भर में कोई दूसरा नहीं है।''[187] जब देवबाला का पिता उससे तर्क में जीत नहीं पाता तब उसे धमकी देते हुए कहता है कि ''मुझको बहुत खिझाया, पर चेत रखो, जो फिर मुझ से ऐसी बातें करोगी, मुझ को बिना समझे बूझे छेड़ेगी, तो तुमको ठीक करने के लिए हम को जतन करना होगा। तुमारी बातों में आकर हम अपनी जात नहीं गँवा सकते। तुम तिरिया हो, हठ करना छोड़ और कुछ तुम को नहीं आता।''[188] उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम तत्कालीन स्त्रियों की क्या दशा रही होगी इसको महसूस कर सकते हैं। यह उपन्यास तत्कालीन समाज की पोल खोल कर रख देता है।

संदर्भ

1. मुक्तिबोध रचनावली, नेमिचन्द्र जैन, पृ0 101
2. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, डॉ0 शिवकुमार मिश्र, पृ0 141
3. प्रेमचंद और भारतीय समाज, सं. आशीष त्रिपाठी, पृ0 46–47
4. रानी केतकी की कहानी, इंशाअल्लाह खाँ, भूमिका पृ0 15
5. वही, पृ0 2
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ0 229
7. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, बच्चन सिंह, पृ0 50
8. रानी केतकी की कहानी, भूमिका पृ0 14–15
9. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपालराय, पृ0 24
10. राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का हिन्दी गद्य के विकास में अवदान, उमेश नन्दन सिन्हा, पृ0 51
11. राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, सं0 वीर भारत तलवार/नामवर सिंह, पृ0 69
12. वही, पृ0 69
13. वही, पृ0 71–72
14. राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का हिन्दी गद्य के विकास में अवदान, उमेश नन्दन सिन्हा, पृ0 47
15. वही, पृ0 72
16. वही, पृ0 73
17. वही, पृ0 78
18. आलसियों का कोड़ा, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, पृ0 11
19. राजा भोज का सपना, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, पृ0 19–20
20. वही, पृ0 20
21. वही
22. इसका प्रथम संस्करण 1853 में आगरा से प्रकाशित हुआ। इसके द्वितीय भाग के रचनाकार मुंशी नज्म अलादीन हैं

23. देवरानी जेठानी की कहानी, पं0 गौरीदत्त शुक्ल, भूमिका
24. वही, पृ0 6
25. रस्साकशी, डॉ0 वीरभरत तलवार, पृ0 212
26. देवरानी जेठानी की कहानी, पं0 गौरीदत्त शुक्ल, पृ0 11
27. वही, पृ0 11
28. वही, पृ0 11–12
29. वही, पृ0 18
30. वही, पृ0 17
31. वही, पृ0 19
32. वही, पृ0 21
33. वही, पृ0 34
34. स्त्री–दर्पण, भाग 4, 1911
35. देवरानी जेठानी की कहानी, पं0 गौरीदत्त शुक्ल, पृ0 22
36. वही, पृ0 29
37. वही, पृ0 32
38. वही, पृ0 32
39. वही, पृ0 33–34
40. स्त्री–दर्पण, 1911 भाग–4
41. हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास का पाठकों की रूचि का प्रभाव, गोपाल राय, पृ0 215
42. देवरानी जेठानी की कहानी, पं0 गौरीदत्त शुक्ल, भूमिका
43. उपन्यास की संरचना, प्रो. गोपाल राय, पृ0 33
44. वामा–शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद/मुंशी कल्याण राय, मुख पृष्ठ
45. वही, भूमिका
46. आजकल, जुलाई 2004, पृ0 – 33
47. हिन्दी कथा साहित्य और उसपर पाठकों की रूचि का प्रभाव, गोपाल राय , पृ0 189

48. वामा–शिक्षक पृ0 20
49. वही, पृ0 20–21
50. प्रेमरत्न, भूमिका,– बीबी रत्न कुँवरि, सं. राजा शिवप्रसाद सिंह 'सितारेहिन्द', पृ0 1–2
51. वही, पृ0 22
52. कविवचनसुधा, 3 नवम्बर 1874, सं0 भारतेन्दु हरिशचंद
53. बिहार बंधु 23जून 1874
54. वामा–शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद/मुंशी कल्याण राय, पृ0 23
55. वही, पृ0 23
56. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, पृ0 72
57. कविवचनसुधा, जून 1874, सं0 भारतेन्दु हरिशचंद
58. वामा–शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद/मुंशी कल्याण राय, पृ0 21
59. वही, पृ0 21
60. स्त्री दर्पण, अंक 3 भाग 25, दिसम्बर 1921, श्रीमति राजकुमारी देवी
61. वही, पृ0 2
62. वही, पृ0 9–10
63. वही, पृ0 152
64. वही, पृ0 173
65. वही, पृ0 27
66. वही, पृ0 173
67. वही, पृ0 223–224
68. वही, पृ0 209
69. वही, पृ0 130–131
70. वामा–शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद/मुंशी कल्याण राय, पृ0 130
71. भाग्यवती, पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी, मुख पृष्ठ
72. बिहार बंधु 19मई 1877

73. भाग्यवती, पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी, भूमिका

74. वही, पृ0–7

75. वही, पृ0–7

76. वही, पृ0–8

77. कविवचनसुधा, 8 सितम्बर 1884

78. बालकृष्ण भट्ट, संपादक –पद्यमाकर पाण्डेय, पृ0–20

79. भाग्यवती, पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ0–8

80. वही, पृ0 9

81. वही, पृ0 9–10

82. वही, पृ0 10

83. वही, पृ0 78

84. वही, पृ0 11

85. वही, पृ0 11

86. वही, पृ0 13

87. बालकृष्ण भट्ट, संपादक –पद्यमाकर पाण्डेय, पृ0–20

88. भाग्यवती, पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ0–13

89. वही, पृ0 50

90. वही, पृ0 50

91. वही, पृ0 70

92. वही, पृ0 71

93. वही, पृ0–71

94. वही, पृ0 80

95. वही, पृ0– 67

96. उपन्यास की संरचना, गोपाल राय, पृ0 6

97. निः सहाय हिन्दू, राधाकृष्णदास, पृ0 6

98. वही

99. वही, पृ0 7–8

100. वही, पृ0 53

101. वही, पृ0 7

102. वामा शिक्षक, पृ0 209

103. निः सहाय हिन्दू राधाकृष्णदास, पृ0 78

104. वही, पृ0 15–16

105. वही, पृ0 11–12

106. वही, पृ0 16

107. वही, पृ0 56

108. वही, पृ0 37

109. वही, पृ0 64–65

110. निःसहाय हिन्दू, राधाकृष्णदास पृ0 51

111. भूमिका, पृ0 1–2

112. परीक्षा गुरू, लाला श्रीनिवासदास, भूमिका

113. हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास का पाठकों की रूचि का प्रभाव, गोपाल राय, पृ0 221

114. वही, पृ0 222

115. परीक्षा गुरू, भूमिका

116. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, भूमिका, पृ0 2

117. हिन्दी उपन्यास कोश, पृ0 41–42

118. वही

119. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, मुख पृ0

120. 19 सरस्वती 1911, पृ0 622

121. वही, पृ0 6

122. आनन्द कादम्बिनी, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन',1887, पृ0 19

123. वही, पृ0 19

124. नूतन ब्रह्मचारी, बालकृष्ण भट्ट, पृ0 23–24

125. सौ अजान एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, मुख पृ0

126. वही, पृ0 56

127. वही, पृ0 92

128. वही, पृ0 70

129. वही, पृ0 15–16

130. वही, पृ0 48–49

131. वही, पृ0 72–73

132. वही, पृ0 12

133. वही, पृ0 105–106

134. सौ अजान एक सुजान, बालकृष्ण भट्ट, पृ0 20

135. वही, पृ0 1

136. वही, पृ0 30

137. वही, पृ0 56

138. हिन्दी प्रदीप 1 नवम्बर, 1880ई0, प्रयाग, जिल्द 4 संख्या 3, पृ0 2

139. भारतेंदु काल का अल्पज्ञात हिन्दी गद्य–साहित्य, पृ0 53

140. बिहार बंधु 14 मई 1879, पृ0 4

141. एक जोड़ी अँगूठी, केशवराम भट्ट, पृ0 3

142. वही, पृ0 12–13

143. वही, पृ0 9

144. एक जोड़ी अँगूठी, केशवराम भट्ट, पृ0 11

145. वही, पृ0 28–29

146. वही, पृ0 30–31

147. वही, पृ 039

148. एक जोड़ी अँगूठी, केशवराम भट्ट, पृ0 3

149. वही, पृ0 21

150. कुसुमकुमारी, देवकीनन्दन खत्री, पृ0 7–8

151. बीरेन्द्रबीर, देवकीनन्दन खत्री, मुख पृ0

152. वही, पृ0 66

153. वही, पृ0 11

154. वही, पृ0 3–4

155. वही, पृ0 7

156. चन्द्रकांता, देवकीनन्दन खत्री, भूमिका, पृ0 10

157. वही, पृ0 13–14

158. वही, पृ0 18

159. कुसुमकुमारी, पृ0 7–8

160. चन्द्रकांता, देवकीनन्दन खत्री, पृ0 38

161. वही, पृ0 52

162. वही, पृ0 82

163. वही

164. वही, पृ0 110–111

165. कुसुमकुमारी, पृ0 81

166. चन्द्रकांता, पृ0 239

167. बालकृष्ण भट्ट राष्ट्रीय पत्रकार, सं. पद्ममाकर पाण्डेय, पृ0 20

168. आलोचना, अक्टूबर 1954, पृ0 55

169. आलोचना, ले0 प्रदीप सक्सेना जनवरी–मार्च 1986 पृ0 46

170. चंद्रकांता, देवकीनंदन खत्री, सं. राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ0 9

171. चंद्रकांता संतति, देवकीनंदन खत्री, चौवीसवाँ भाग

172. हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास का पाठकों की रूचि का प्रभाव, गोपाल राय, पृ0 286

173. चंद्रकांता, देवकीनंदन खत्री, सं. राजेन्द्र यादव, पृ0 57

174. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास, ज्ञानचंद झैन, पृ0 176

175. हृदयहारिणी वा आदर्शवाल, किशोरीलाल गोस्वामी, पृ0 3

176. वही, पृ0 4

177. वही, पृ0 23

178. वही, पृ0 30

179. वही, पृ0 30

180. वही, पृ0 74

181. लवंगलता वा आदर्शवाला, पृ0 26

182. बलवंत भूमिहार, भुवनेश्वर मिश्र, भूमिका

183. बलवंत भूमिहार, पृ0 9

184. ठेठ हिन्दी का ठाट, हरिऔध, मुख पृ0

185. वही, पृ0 1

186. वही, पृ0 7

187. वही, पृ0 7

188. वही, पृ0 1

उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में चित्रित युगीन समस्याएँ

भारत में उन्नीसवीं सदी में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्तर पर अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इन परिवर्तनों की अभिव्यक्ति उस समय में लिखे गये उपन्यासों में हम देख सकते हैं–

स्त्री–शिक्षा

हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा के लेखन का प्रारंभ 19 वीं शताब्दी के सातवें दशक से हुआ। इन प्रारंभिक उपन्यासों की रचना स्त्री–शिक्षा को मूलाधार बनाकर की गई है। इन उपन्यासों के केन्द्र में स्त्री संबंध समस्याओं को देखा जा सकता है, वैसे तो इन उपन्यासों के पूर्व हिन्दी में मौलिक एवं अनूदित अनेक गद्य रचनाएं देखने को मिलती हैं, जिनमें सर्वप्रथम मौलिक गद्य कथा इंशा अल्हा खाँ द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' है, जिसकी रचना 19वीं सदी के प्रथम दशक में हुई। इसके अलावा राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' द्वारा रचित 'वीर सिंह का वृतान्त' (1855), 'वामा मनरंजन' सन् 1856 में बनारस से प्रकाशित हुई, यानि हिन्दी में उपन्यास के पूर्व अनेक गद्य रचनाओं में स्त्री–विमर्श के स्वर देखने को मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की दृष्टि से पहली रचना पंडित गौरीदत्त द्वारा रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी' है जिसका प्रथम संस्करण 1870 ई0 में मेरठ के 'जियाई छापाखाना' से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की रचना स्त्री–शिक्षा को केन्द्र में रखकर की गई है। इसका उद्देश्य स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्रदान करना है। इसके प्रथम संस्करण की भूमिका में पंडित गौरीदत्त ने लिखा है कि ''स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं सब अपने अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं परन्तु मैंने इस कहानी को नए रंग ढंग से लिखा है। मुझको निश्चय है कि दोनों स्त्री–पुरूष इसको पढ़कर अति प्रशन्न होंगे और लाभ उठायेगें ...पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या–क्या अन्तर है, बालकों का पालन–पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए। ..... बेपढ़ी

स्त्री जब एक काम को करती है उसमें क्या—क्या हानि होती है पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है उसमें क्या—क्या लाभ होता है। स्त्रियों की वह सब बातें जो आज तक नहीं लिखी गई मैंने खोजकर सब लिख दी है. . .।''[1] इस उपन्यास की रचना स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये की गयी थी। एक पिता अपनी पुत्री को पत्र लिखता है कि —''तुम्हारा पढ़ना—लिखना उसी दिन काम आवेगा, जब अपने सास की आज्ञा में रहोगी। सास को माता के समतुल्य जनाना। ननद और जेठानी को अपनी बहिनों से अधिक मानना। .... जो ज्ञानवान लड़कियाँ हैं घबराती नहीं। सब काम किए जाती है .... आए गए का सम्मान करना, सबसे मीठा बोलना, संतोष से अपने कुटुंब गुजारा आपको तुच्छ जानना यह अच्छे कुल की बेटियों का धर्म है।''[2] उस समय मध्यवर्गीय हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों को शिक्षित करने का मुख्य उद्देश्य उन्हें 'उच्चकुल' की स्त्रियों के समान 'आदर्श रूप' में ढालना था। डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यास 'मिरातुल—उरूस'(उर्दू का प्रथम उपन्यास) को सरकारी खर्चे पर छापा गया और हिन्दी में 'देवरानी जेठानी की कहानी' को 100 रूपये का सरकार की तरफ से इनाम मिला था। उस समय लिखी गई इन पुस्तकों में स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने पर अधिक बल दिया गया। इन पुस्तकों की रचना करते समय स्त्रियों का ध्यान न रखते हुए उनके अभिभावकों पर ज्यादा ध्यान रखा गया। इस कृति में एक ही घर की दो स्त्रियों की कथा है, देवरानी को लेखक ने अपना आदर्श बनाकर प्रस्तुत किया है जो कर्म की उपासिका है। अगर देखे तो नारी जीवन एवं नारी धर्म पर केंद्रित इस उपन्यास की मूल कथा का तात्पर्य यह है कि अशिक्षित स्त्रियाँ परिवार के जीवन को अत्यन्त दुःखद और शिक्षित स्त्रियाँ नरकतुल्य घर को स्वर्ग जैसा बना देती हैं। इस उपन्यास में लेखक ने देवरानी के चरित्र में नैतिक मूल्यों को दिखाया है। देवरानी के माध्यम से तत्कालीन समाज में प्रचलित अशिक्षा, अन्धविश्वास और रूढ़ियों को दिखाने का भरसक प्रयास किया है।

3 नवबंर 1873 ई0 की कविवचनसुधा में 'स्त्री—शिक्षा' विषयक लेख में भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने लिखा है— ''यह बात तो सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहां की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरूष विद्वान और पंडित

होवेंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख होवेंगी तो उनमें आपस में कभी स्नेह नहीं होगा और नित्य कलह होगी।''[3] स्त्री–शिक्षा का ही समर्थन करते हुए 'बिहार बंधु' नामक साप्ताहिक पत्र में 23 जून 1874 ई0 के अंक में प्रकाशित एक लेख में कहा गया था कि ''शास्त्र में स्त्री को पुरूष का अर्द्धांग लिखा है तो विचारने की बात है कि आधा अंग जिसका मूरख रहेगा वह कभी ज्ञानी नहीं हो सकता और देखना चाहिए कि सिर्फ इसी रोग से हिन्दुस्तान की ऐसी दशा है कि इस घड़ी सब देशवालों से हम लोग ज्यादा खराब हाल में हैं।''[4] उस समय कुछ लोग 'स्त्री शिक्षा' के महत्व को समझने लगे थे। उनको यह बात समझ में आ गई थी कि हमारी दशा में तब तक सुधार नहीं हो सकता जब तक स्त्रियों को शिक्षित नहीं किया जाएगा। इस कार्य में उच्च मध्य वर्ग ने अपनी अहम भूमिका निभाई। ''औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जब पुरूष स्कूल कालेजों में अंग्रेजी शिक्षा पाकर निकलने लगे तो उनकी स्त्रियों का अनपढ़ और जाहिल रहना उन्हें खटकने लगा। नये शासन के नियम–कायदों और सभ्यता संस्कृति के असर से उनकी अपनी जीवन शैली बदल गई थी और उन्होंने शिष्टाचार के नए तौर तरीके अपना लिए थे। अब उन्हें अपने घरों में स्त्रियों के बर्ताव और काम करने के पुराने ढंग फूहड़ और असुविधा जनक लगने लगे थे। उनके सामने अंग्रेज परिवारों की स्त्रियाँ थीं, जिनके कपड़ों की सफाई, व्यवहार कुशलता, बातचीत का ढंग शिष्टाचार और कार्य निपुणता उन्हें अपनी घरेलू स्त्रियों के लिए आदर्श (मॉडल) लगता था। लिहाजा ये सुधारक पितृसत्तात्मक ढाँचे में कोई सुधार किए बगैर, औरतों पर अपने परंपरागत नियंत्रण में ज़रा भी ढीला किए बिना, अपनी स्त्रियों को एक खास क्षेत्र में घरों के अन्दर नए 'आदर्श' रूप में ढाँलने की कोशिश करने लगे। स्त्रियों को इससे पहले भी पुरुषों की नई रूचियों और नई जरूरतों के मुताबिक तय की गयी भूमिका को बेहतर ढंग से निभाने के लिये गढ़ा जा रहा था।''[5] भारतेंदु हरिश्चंद्र भारतीय स्त्रियों को शिक्षा देने का समर्थन क्यों कर रहे थे इनका यह मनतव्य 'नीलदेवी की भूमिका देखने से स्पष्ट हो जाता है ''आज बड़ा दिन है। किस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। लेकिन मुझको आज भी दुःख है। इसका कारण मनुष्य–स्वभाव–सुलभ ईर्ष्या मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे रमणी लोग भेदसिंचित केश–राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे

निज–निज पति गण के साथ प्रशन्न वदन इधर से उधर फर फर कल की कल पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी–सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गोरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल–लक्ष्मी–गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घुमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती है, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह–देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें यही लालसा है। इस उन्नति–पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुल–परंपरा मात्र है और कुछ नहीं है।''[6] उन्नीसवीं सदी में पढ़े–लिखे मध्यवर्ग ने स्त्री शिक्षा की ओर अपना कदम सबसे पहले बढ़ाया और स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया।

सन् 1872 ई0 में मुंशी कल्याण राय और मुंशी ईश्वरी प्रसाद के संयुक्त लेखन द्वारा 'वामा शिक्षक' नामक उपन्यास की रचना की गई। इस उपन्यास का पहली बार प्रकाशन 1883 ई0 में विद्यादर्पण छापा खाना मेरठ से हुआ। इस उपन्यास का लेखन हिन्दू स्त्रियों को पढ़ने और पढ़ाने के लिए किया गया है ताकि सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़िग्रस्तता और नाना प्रकार के पाखंडों से मुक्त हो सकें। लेखक द्वय ने इसकी भूमिका में लिखा है कि ''इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों को पढ़ने के लिए तो एक–दो जैसे मिरातुल उरूस आदि बन गई है परन्तु हिन्दुओं आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई कि जिससे उनको जैसा लाभ चाहिए मिल सके।....इस पुस्तक से हिन्दुओं की लड़कियों को रीति–भांति के अनुसार लाभ पहुंचाने और सुशील हो और जितनी (बुरी) चाले और पाखंड जिनका आजकल मूर्खता के कारण प्रचार हो रहा है उनके जी से दूर हो जाएगें और बुरी प्रवृत्तियों को छोड़कर अच्छी प्रवृत्तियां सिखेगी और लिखने पढ़ने और गुण सीखने में रूचि होगी....।''[7] इस उपन्यास में 'देवरानी जेठानी की कहानी' के समान ही पढ़ी लिखी और अनपढ़ स्त्री से हानि–लाभ बताते हुए स्त्री शिक्षा का समर्थन

किया गया है। 'वामा शिक्षक' में अनेक कुप्रथाओं का खण्डन करते हुए स्त्री चेतना को वाणी प्रदान की गई है। इस उपन्यास में बाल विवाह का विरोध, विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया गया हैं। 'वामा शिक्षक' की कथा में एक विशेष प्रकार की आन्तरिक सूत्र बद्धता, स्वाभाविकता और विश्वसनीयता है, एवं कथा का आयाम भी विस्तृत है। इसको हिन्दी साहित्य में स्त्री–विमर्श का प्रथम सशक्त उपन्यास माना जा सकता है।

इस उपन्यास में अपने पूर्ववर्ती लिखे गए हिन्दी उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' और उर्दू के उपन्यास 'मिरातुल उरूस' के समान ही लेखक द्वय ने स्त्री–शिक्षा के महत्व को प्रतिपदित किया है। यह उपन्यास तत्कालीन समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति थी ? इसका ज्वलंत दस्तावेज़ है। उन्नीसवीं शताब्दी में बहुसंख्यक वर्ग में लड़कियों की शिक्षा को लेकर अनेक पूर्वाग्रह प्रचलित थे। लोगों का मानना था कि–स्त्रियाँ पढ़ लिख कर चरित्रहीन हो जाएँगी, पराये पुरूष को पत्र लिखेगीं हँस–हँसकर लोगों से बाते करेगीं, सास–ससुर और पति की आज्ञा नहीं मानेगीं, पति को नीचा दिखायेंगी, खानदान का नाम डुबोयेगीं आदि–आदि। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में स्त्रियों की शिक्षा का विरोध करते हुए जमुनादास नामक पात्र कहता है कि ''जो लड़कियाँ पढ लिख जाएँगी और बड़ी होकर अपने सासरे जाएँगी तो वहाँ जाकर किसी के बस में नहीं रहेंगी–निडर और निर्लज्ज होकर जिसको चाहेगी चोरी छिपे चिट्ठी पत्री लिख भेजा करेगीं।''[8] आगे स्त्री–शिक्षा का समर्थन करते हुए लेखक द्वय पात्र मथुरादास से कहलवाते हैं कि ''जब पढ़ लिख जाएँगी तो अपनी बुराई भलाई आप समझने लगेगीं, लाज को अच्छी तरह समझेगीं जो आप कहते हैं कि जिसको चाहेंगी चिट्ठी पत्री लिख भेजेगीं सो जो बाप, भाई और जेठ देवर और नातेदारों को अपनी कुशल क्षेम और घर के समाचार लिख भेंजें तो उसमें कुछ बुरी बात नहीं है।''[9] स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी में बुद्धिजीवी वर्ग तो स्त्रियों को शिक्षित करने के महत्व को समझ रहा था लेकिन बहुसंख्यक वर्ग सदियों से चली आ रही स्त्री–शिक्षा को लेकर रूढ़ियों से मुक्त नहीं हो पाया था। इस उपन्यास की रचना 'मिरातुल उरूस' (उर्दू) और 'देवरानी जेठानी की कहानी' को आधार बनाकर की गई है। इन दोनों उपन्यासों के समान ही इसमें भी स्त्री को मात्र शिक्षित करने की बात की गई न कि उसकों उच्च शिक्षा देने की। इस उपन्यास में

ऐसी स्त्री की कल्पना की गई है जो अस्मिता विहीन है और कहीं भी पुरूष के बंधनों से मुक्त नहीं है।

पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा 1877 में लिखित उपन्यास 'भाग्यवती' को उनकी विधवा पत्नी ने सन् 1887 में प्रकाशित करवाया। 'भाग्यवती' उपन्यास के मुख पृष्ठ पर 'स्त्री–शिक्षा की अपूर्व पुस्तक' और 'स्वदेशी बालिकाओं के उपकारार्थ' घोषित किया गया है। इस उपन्यास में 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षा' से आगे जाकर स्त्री और उसके सामाज संबंधी प्रमुख समस्याओं–बालविवाह, विधवा विवाह और स्त्री–शिक्षा संबंधी समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से बात की गयी है। इस उपन्यास का मूल उद्देश्य स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देना है। उपन्यास की भूमिका में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने लिखा है कि ''यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी–लिखी तो होती हैं, परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश–विदेश की बोल चाल और अन्य लोगों से बरत–व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनकों विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना–कपड़ा, बरतन आदि पदार्थ खो बैठी और घर में बैठी भी किसी छली स्त्री–पुरूष के बहकाने से अपने घर का नाश कर लिया .....।''[10] इस उपन्यास में बाल विवाह, विधवा विवाह और स्त्री–शिक्षा आदि के बारे में विचार करते हुए अनेक पारंपरिक रूढ़ियों का तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन किया गया है। ''उन्नीसवीं सदी के सुधार आन्दोलनों में भद्रवर्गीय सुधारकों का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध स्त्री–पुरुषों के बीच दोहरे मानदंडों के इस्तेमाल में था। ये मानदंड अक्सर एक–दूसरे के उल्टे भी होते थे। विद्यासागर, द्वारिकानथा गांगुली (ब्राह्मो समाजी) और लाला देवराज (आर्य समाजी) जैसे कुछ एक सुधारक ही उन अन्तर्विरोधों के प्रति सजग और कुछ हद तक उनसे मुक्त थे। वे आधुनिक बनना चाहते थे, लेकिन स्त्रियों को आधुनिक बनाया जाए कि नहीं, अगर बनाया जाए तो किस हद तक–इसी द्वंद्व में पड़े रहते थे।''[11] लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखित उपन्यास 'परीक्षा गुरू' जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास माना है। इसमें सेवा भाव लिप्त स्त्री को आदर्श रूप में स्वीकार किया गया है। पर अपने निबन्ध में सदाचरण स्त्री–शिक्षा का समर्थन करते हुए लिखा है कि ''बहुधा लोग यह समझते हैं कि स्त्रियों को परमेश्वर ने केवल हमारा जी

बहलाने के लिए एक खिलौना बनाया है। उनको विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं। फिर जब स्त्रियों की यह दशा हुई, तो उनकी संतान को घर में उपदेश कहाँ मिलेगा ? और एक अज्ञान बालक को बालकपन में उसके माता–पिता से सदुपदेश न मिला, तो आगे चलकर उसके पूरे सदाचारणी होने की आशा कैसे होगी ?''[12] इस संबंध में देखा जाए तो इनके समकालीन रचनाकार राधाकृष्णदास के 'निःसहाय हिन्दू' में स्त्री–पुरूष के भावात्मक संबंधों को महत्व दिया गया है लेकिन उसे पुरूष के प्रति पूर्णतः आस्थावादी बनाकर प्रस्तुत किया गया है। भुवनेश्वर मिश्र ने 'बलवंत भूमिहार' में अस्मिता विहिन स्त्री की कल्पना की है तो 'घराऊ घटना' में आभूषण प्रिय स्त्री की। किशोरीलाला गोस्वामी ने भी अपने उपन्यास 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' और 'लवंगलता वा आदर्शबाला' में स्त्री को पुरूष के प्रति पूर्ण रूप से आश्रित दिखाया है। नवजागरण कालीन लेखकों में स्त्रियों के सतीत्व को लेकर चिन्ता आम तौर पर देखी जा सकती है। इस संबंध में प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा है कि– ''हाय। एक वुह दिन थे कि हमारे यहां सतीत्व उस पराकाष्ठा पर पहुँचा हुवा था कि जीते जल जाना तक रिवाज हो गया था, और एक दिन है कि पतिव्रता ढूँढे मिलना कठिन है। हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि सारी स्त्रियाँ रूक्मनीबाई की साथिनी हो रही हैं पर इसमें भी संदेह नहीं है कि पति के सुख–दुःख में अपना सचमुच दुःख सुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह निभाने वाली स्त्रियाँ भी हजारों में दस ही पाँच हो तो हों।''[13]

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में स्त्रीवादी साहित्य को मुख्य धारा के साहित्य से अलग करके ही हमेशा देखा गया। ये बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत में उपन्यास का प्रारंभ स्त्रियों के सुधार संबंधी चिन्ताओं को लेकर हुआ। लगभग प्रत्येक भारतीय भाषा के प्रारंभिक उपन्यासों में लेखकों ने स्त्री संबंधी चिन्ता को देखा और परखा है दरअसल अंग्रेजों के भारत में शासन के परिणाम स्वरूप एक ओर जहाँ पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान का प्रभाव समाज पर पड़ा, वहीं शिक्षा और नवींन चेतना ने पुरूषों को इस बात का एहसास दिलाया कि समाज का आधा हिस्सा यानि स्त्रियाँ जब तक अनपढ़ और अशिक्षित हैं तब तक समाज, परिवार और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होना संभव नहीं है। समाज के प्रति

नैतिक चिन्ता से उत्प्रेरित हिंदी नवजागरण काल के कथाकार अपनी–अपनी सीमाओं में स्त्री के प्रति दायित्व का निर्वाह करते दिखाई देते हैं। उनके यहाँ स्त्री–स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में नहीं आती बल्कि वह घर चलाने वाली और घर के रोजमर्रा के काम–काज में आने वाली मूलभूत शिक्षा की अधिकारिणी थी। घर के बाहर उसके सामाजिक व्यक्तित्व के विकास की कोई संभावना इन उपन्यासों में नहीं दिखाई पड़ती। सन् 1909 में नेहरू परिवार की स्त्रियों द्वारा निकाली जा रही पत्रिका 'स्त्री दर्पण' में पहली बार स्त्रियों ने अपने बारें में इतने व्यापक तौर पर स्वयं लिखना प्रारंभ किया, किन्तु 'स्त्री दर्पण' में लिख रही ज्यादातर स्त्रियाँ अभी भी गृहस्थी से बाहर नहीं निकल पाई थी। फिर भी 'स्त्री–दर्पण' पत्रिका ने भारतीय स्त्री आन्दोलन को आगे बढ़ाने में अहम भूमिका का निर्वाह किया। इससे पूर्व स्त्रियों की समस्याओं के बारे में इतने व्यापक तौर पर बात नहीं की गई थी। आगे चलकर भारतीय राजनीति के परिदृश्य पर गांधी जी के आने से स्त्रियों ने राजनीतिक कार्यों में व्यापक भागीदारी लेनी शुरू की। भारत में स्त्रियों का कोई एक जागृत सचेतन आंदोलन 1947 तक नहीं दिखाई पड़ता। 'चिपको आन्दोलन' समाज में स्त्रियों की व्यापक हिस्सेदारी को अभिव्यक्त करता है, जिसकी नींव निश्चित रूप से नवजागरण काल के साहित्य में दृष्टव्य होती है।

विधवा–विवाह

अगर समाज सुधार आन्दोलनों पर नज़र डाली जाए तो स्त्रियों से संबंधी जितनी भी समस्याएँ थी वे सारी समस्याएँ उच्च समझी जाने वाली जातियों में प्रचलित थी। चाहे वह सती प्रथा हो, विधवा पुनर्विवाह हो, कन्या वध हो, या बाल विवाह हो। विधावाओं की दशा की ओर मात्र संकेत किया है कोई हल निकालने का प्रयास नहीं किया गया है। बालकृष्ण भट्ट ने होली पर लिखी गयी कविता में इनकी दशा के बारे में लिखा है कि

''माध्यम विधवा दुखियारी सुनों कोई टेर हमारी

डालत रही जीवत जो पिय संग सो हम भारत नारी।

बालवयस पति मरन विपत्ति अति–समझ–समझ दुःख भारी, हाय विरहा नल जारी।''[14]

बालकृष्ण भट्ट जैसे सचेत आलोचक विधवाओं की समस्याओं को समझते हुए भी उनको उसी रूप में रहने में अपना गौरव समझते थे। इस संबंध में उनका कहना है कि ''बाल विवाह रुक जाने से विधवा–विवाह का प्रश्न आप हल हो जायेगा। आप कहते थे कि बाल–विवाह का बड़ी भारी कोढ़ रुप कुरीति तो बाँधे हो, विधवा विवाह की दूसरी भीषण कुरीति और गले मढ़ना चहते हो।''[15] आगे विधवा विवाह का विरोध करते हुए कहते हैं कि ''हमारी कुलवधू की शोभा इसी में है कि हर तरह के कष्ट झेलते हुए भी वह सतीत्व की रक्षा करे।''[16] भारतेंदु जैसे समर्थ रचनाकार विधवा–विवाह के समर्थन मे कोई रास्ता नहीं निकाल सके। उन्नीसवीं सदी के लगभग सभी रचनाकारों ने इस संबंध में कुछ कहने की जहमत नहीं उठाई। इसका कारण था उस समय इसका बहुसंख्यक वर्ग द्वारा विरोध किया जाना। उच्च्च समझी जाने वाली जातियों में यह समस्या आमतौर पर थी। इस संबंध में गौरीदत्त ने अपने पात्रों के माध्यम से संकेत किया है। एक जगह छोटे लाल की बहू के मामा की लड़की असमय (दस वर्ष) विधवा हो जाने पर उसको देखकर दुखी स्त्रियाँ आपस में वार्तालाप करते हुए कहती हैं कि ''इस लौण्डियां ने देखा ही क्या है? यह क्या जानेगी कि मैं भी जगत में आई थी। किसी के जी की कोई क्या जाने है। इसके जी में क्या–क्या आती होगी। इसके साथ की लौण्डियाँ अच्छा खावे हैं, पहिने हैं, हँसे हैं, बोले हैं गावें हैं, बजावे हैं। क्या इसका जी नहीं चाहता होगा? सात फेरों की गुनहगार है। जो हमारी जाति में पड़े हैं। मुसलमानों और साहब लोगों में दूसरा विवाह हो जाए है और अब तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गूजर, नाई, धोबी, कहार, अहीर आदियों में तो दूसरे विवाह की कुछ रोकटोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से संभाषण नहीं हुआ हो और विवाह के पीछे देहान्त हो जाय, तो वह पुनर्विवाह योग्य है। अर्थात् उस स्त्री का दूसरा विवाह कर देने से कोई दोष नहीं।''[17]

उन्नीसवीं सदी में ऐसे सामाजिक उपन्यासों की रचना ज्यादा की गई जिसमें स्त्री पुरुष की मानसिकता से बाहर निकलकर सोचती दिखाई नहीं देती। स्त्री के ऐसे रूप देखने को

मिलते हैं जिनमें स्त्री अपने पति की सेवा करती है, उसे अपना देवता मानती हैं, उसके बिना खुद को पूर्ण मानने को तैयार न हो, अपनी स्वतंत्रता और अस्तित्व की उसको कोई चिन्ता न हो। इन बातों को तत्कालीन कुछ उपन्यासकारों ने बढ़ा–चढ़ाकार प्रस्तुत किया। इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि स्त्रियाँ ऐसी सोच भी नहीं रखती थी। स्त्रियों के आदर्श रूप को पुरुष के नजरिये से प्रस्तुत करने का सबसे बड़ा कारण उस समय के लेखकों पर सामाजिक दबाव था। रचनाकार इन समाजिक दबाओं का विरोध करके स्त्री के आदर्श रूप को स्थापित करने की हिम्मत नहीं जुटा सके, जो कि खुद की स्वतंत्रता की मांग करती हो, पुरुष के समान रहना चाहती हों, उसके अत्याचारों या अनैतिक कार्यों का विरोध करती हो। उस समय कुछ स्त्रियां अपने को चाहरदीवारी से स्वतंत्र होने की आशा कर रही थी तो कुछ उसी के अन्दर रहकर मरने में अपना गर्व महसूस करती थी।

आर्थिक :

अंग्रेजों के आगमन के बाद के भारत की बात की जाए तो हम देखते हैं कि यह भारतीय जनता के लिए त्रासदी का काल था। सरकार द्वारा ऐसे टैक्स लगाए गए कि बेहाल जनता ने उनको चुकाने के लिए अपने बच्चों को बेचना स्वीकार कर लिया। इससे बड़ी त्रासद स्थिति क्या हो सकती है।

सन् 1858 में महारानी विक्टोरिया ने गदर के बाद भारतीय शासन संभाला और इस्ट इंडिया कंपनी की जगह विक्टोरिया का सिक्का चलने लगा। भारतीयों को दोहरे शासन से तो मुक्ति मिल गई परन्तु उनकी स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया। कंपनी की जगह गवर्नर जनरल और वाइसराय ने ले ली। महारानी विक्टोरिया का शासन भारत में आ जाने के बाद ब्रिटिश पार्लियामेंट का दखल भारत पर पहले से ज्यादा हो गया। सन् 1858 के महारानी का घोषणा पत्र सुनने के बाद भारतीय जनता में एक नई आशा की किरण जगी थी। वे सोचने लग गए थे कि हमारे साथ इंग्लैंड की जनता का सा व्यवहार किया जाएगा। दोहरे शासन की मुक्ति और स्वयं की दशा में सुधार की अभिलाषा भारतीय जनता को ज्यादा दिन तक अंधेरे में नहीं रख सकी। बदलते समय और साम्राज्यवादी नीति के

तहत किए गए वायदों को भुला दिया गया। यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार देखकर भारतीयों की रही–सही आशाएँ मिटने लगीं। इस बात को उस समय का मध्यवर्ग धीरे–धीरे समझने लगा था कि हमारी दशा और दिशा अंग्रेजों के हाथों नहीं बदल सकती। इसी मध्यवर्ग ने जनता को नए वैचारिक स्तर पर सोचने के लिए तैयार किया।

भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद का मुख्य लक्ष्य अधिक से अधिक लाभ कमाना था। भारत में अंग्रेजों के पहले जितने भी विदेशी आए उनमें शायद ही कोई अंग्रेजों से थोड़ी बहुत समानता रखता दिखाई देता हो। भारतीय जनता को स्वशासन करने योग्य बनाना या प्रजातंत्र जैसे मुद्दों के आधार पर गुमराह कर अंग्रेजों ने अपना जैसा रूप दिखाया वैसा भारतीय इतिहास के परिदृश्य पर नई और अभूतपूर्व घटना थी। ''भारत की अर्थव्यवस्था और उसकी सामाजिक व्यवस्था को किसी भी विजेता ने इतना अधिक प्रभावित तथा परिवर्तित नहीं किया जितना ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने किया। अग्रेजों से पहले विजेता आए थे उन्होंने केवल राजनीतिक दृष्टि से वंश परिवर्तन ही किया और आर्थिक व्यवस्था के सामाजिक गठन व संबंधों को पूर्णतया परंपरागत भारतीय व्यवस्था के अनुकूल ही रहने दिया।...अपने साम्राज्यवादी भौतिकवादी हितों के अनुरूप उन्होंने परंपरागत भारतीय व्यवस्था को नष्ट करके नई व्यवस्था को जन्म दिया।''[18] 1857 के बाद जिस नए मध्यवर्ग का उदय हुआ था, उसने तत्कालीन जनता को राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर सोच विचार करने के लिए प्रेरित किया। इतना सब होने के बावजूद तत्कालीन उपन्यासकारों ने इस पर कोई खास टिप्पणी नहीं की।

साम्प्रदायिक एवं जातिगत :

वर्णाश्रम और जाति का अपने आप में गहरा संबंध हैं। जााति के नाम पर सदियों से मनुष्य ने मनुष्य का शोषण किया है। तमाम समाज सुधार आन्दोलनों के बावजूद वर्णाश्रम समाज की मानसिक जड़ में इतने गहरे तक समाया हुआ है कि निकलने का नाम ही नहीं ले रहा है। जातिवाद को अगर आधुनिक शब्दों में परिभाषित किया जए तो इसे हम एक मनसिक रोग कह सकते हैं, इस रोग को कुछ स्वार्थियों ने समाज में इतने घातक रूप में

फैलाया है कि जिसका कोई सार्थक इलाज़ जल्दी खोज पाना संभव नहीं है। इस मानसिक रोग से अनपढ़ आदमी ही नहीं पढ़े लिखे लोग भी आज के उत्तर आधुनिकता के दौर में ग्रसित दिखाई देते हैं। उन्नीसवीं सदी में यह समस्या देवकीनन्दन खत्री जैसे लोगों में आम तौर पर देखी जा सकती है। जाति–पाति के प्रति इतने सचेत थे कि इनके पात्र तक अगर अनजान कुँए पर पानी पीने जाते हैं, तो पहले पता कर लेते हैं कि कुँआ किस जाति का है। 'कुसुमकुमारी' नामक उपन्यास में जब रनबीर प्यास लगने पर पानी पीने जाता है तो जसवन्त रनबीर से कहता है कि ''मुझे प्यास भी बड़े जोर की लगी है, मगर जब तक यह न मालूम हो कि यह बाग किसका है या यह डोल किस जात के पानी पीने का है तब इस डोल से पानी भर कैसे पीऊँ ?''[19] इसके अलावा चंद्रकाता में भी कहीं–कहीं पर जाति का समर्थन किया गया मिलता है। जाति और धर्म व्यवस्था ने जितना मनवता का सर्वनाश किया है उतना किसी और ने नहीं। धर्म के साथ जाति और संस्कार को जोड़कर देखा जाना पागलपन के अलावा कुछ नहीं है। हिन्दुवादियों की इन्हीं गलत धारणाओं के कारण पूरा देश हमेशा लूटा गया है। धर्म जो एक दूसरे को जोड़ने का काम कर रहा था उसकी रूढ़िवादियों ने अपने ढंग से व्याख्या करके समाज के बड़े हिस्से को अलग करने का काम किया। भारत में साम्प्रदायिक समस्या सदियों से चली आ रही धर्माधंता ने हमेशा इसे अपनी बेवकूफी या स्वार्थ के कारण अगल तरह से व्याख्या करके आपसी वैमनस्य को बढ़ावा दिया है। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में हिन्दू धर्म का तत्कालीन असली साम्प्रदायिक रूप देखने को मिलता है। हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक मुद्दों को लेकर राधाकृष्णदास ने 'निःसहाय हिन्दू' नामक उपन्यास की रचना की। इस उपन्यास में आपसी वैमनस्य के मूल कारणों की ओर संकेत करते हुए इसको बढ़ावा देने वालों की कड़ी आलोचना की है। इसको समझाने के लिए भारतेंदु के नाटक 'भारत दुर्दशा' की निम्नलिखित पंक्तियों को उदृत किया है–

''रचि बाहु बिधि के वाक्य पुरानन मॉहि घुसाए;

शैव शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए।

जाति अनेकन करी, नीच अरू ऊंच बनायों;

खान–पान, संबंध सबन को बरजि छुड़ायो।

जन्म–पत्र–विधि मिले व्याह नाहिं होन देत अब;

बालकपन में व्याहि देह बल नाश कियों सब।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल–मारयो;

विवाह–ब्याह–निषेध कियो, विभचारी प्रचारयो।

रोकि विलायत–गमन कूप–मण्डूक बनायो;

औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।

बहु, देवी, देवता, भूत प्रेतादि पुजाई;

ईश्वर सों सब बिमुख किए हिन्दू घबराई।''[20]

राधाकृष्णदास मुस्लिम धर्म में व्याप्त रूढ़ियों और उनको बढ़ावा देने वालों की आलोचना अब्दुलअजीज़ के माध्यम से करवाते हैं। अब्दुलअजीज़ इस्लाम धर्म में आई रूढ़ियों की ओर संकेत करते हुए कहता है कि ''जबाह उल बकर कात उश शजर बाअ उल बशर शराब उल खमर' यानी बैल मारने वाले, वृक्ष काटने वाले, मनुष्य बेचने वाले, और मदिरापान करने वाले नजात कभी न होगी। फिर क्या कोई नया कुरान बनाया गया है? आप लोग ख्याल फरमावेंगे, तो साफ बदमाशों की शरारत है।''[21] यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धर्म के ठेकेदारों ने धर्म में अपने ढंग से परिवर्तन करके भोली–भाली जनता को बहकाने का काम हमेशा किया है। भुवनेवर मिश्र ने मुसलमानों की आलोचना करते हुए 'बलवंत भूमिहार' में लिखा है कि ''बुढ़िया रूपये रखने के लिए उठी ही थी कि सिपाही लोग पहुँचे और बलवंत को नहीं पा उदास हो बुढ़िया को गाली देते चले गये। चलने के समय अदालत के मुसलमान सिपाही ने बुढ़िया के हाथ से दोनों रूपये छीन लिये।''[22]

"यहाँ ध्यान रखना उचित होगा कि हिन्दी में जो पहला उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' लिखा गया उसमें राधाकृष्णदास ने मुसलमान पात्रों का संतुलित चित्रण किया था। उसमें जहाँ धर्मांध मुसलमानों का चित्रण किया गया था वहाँ एक इंसाफ पसंद मुसलमान पात्र का भी चित्रण किया गया था जो हिन्दू–मुस्लिम एकता का समर्थक था और हिन्दुओं का जी दुखाने वाले अपने कट्टर पंथी सहधर्मियों के गोकुशी जैसे कार्यों का विरोध करता था। किंतु बाद के लेखकों ने उनके द्वारा आरंभ की गयी इस स्वस्थ परंपरा का अनुकरण नहीं किया। हिन्दी प्रदीप के लेख में बंग भाषा से अनुवादित ऐतिहासिक उपन्यासों का जो सामान्य दोष दिखाया गया था–मुस्लिम चरित्रों को नीच, दुष्ट मायाचारी, विश्वासघातक के रूप से प्रस्तुत करना, उनको सभी अवगुणों और पापों का अवतार दिखाना–वह दोष किशोरी लाल गोस्वामी के 'ऐतिहासिक ' उपन्यासों में दिखाई पड़ता है।"[23]

धार्मिक :

धर्म का हमारे सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक समय में इसकी परिभाषा बदल चुकी है। इसे कुछ स्वार्थियों ने अपने हित साधने के लिए इसमें अनेक पाखण्डों एवं रूढ़ियो को समावेश कर दिया है। जो मानवता के लिए वरदान का नहीं अपितु श्राप का काम करता है। सदियों से धर्म की होती आ रही व्याख्या के कारण समाज का बहुत बड़ा हिस्सा अपने अधिकारों से वंचित रहा है। इन धर्मगत रूढ़ियों का विरोध करने वालों के खिलाफ इन धर्म के ठेकेदारों ने नई रूढ़ि को जन्म दे दिया। इन्हीं रूढ़िवादियों के कारण धर्म में अब मानवीय हित नहीं स्वहित देखा जा रहा है। उदाहरणार्थ हम इसे राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में देख सकते हैं। हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन का प्रारंभ धर्म से ही प्रेरित होकर हुआ। हिन्दी में जितने भी प्रारंभिक उपन्यास लिखे गए हैं, उनमें अधिकांश स्त्रियों को गृहस्थ धर्म और पतिव्रत का पालने करने की शिक्षा दी गयी हैं। उन्नीसवीं सदी का पूरा काल धर्म के पारंपरिक और आधुनिकाता के बीच की टकराहट है। इसी टकराहट के फल स्वरूप समाज में चेतना आई। तत्कालीन प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों का विरोध तत्कालीन समाचार पत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धार्मिक रूढ़ियों

का विरोध हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में लगभग ना के बराबर मिलता है। मात्र राधाकृष्णदास ने अपने उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' में हिन्दू धर्मावलम्बियों के आडम्बरों के साथ–साथ मुसलमानों के धर्म में व्याप्त रूढ़ियों का भी उल्लेख किया है और जिम्मेदार लोगों को लताड़ा हैं। अब्दुलअजीज के माध्यम से मुस्लिम धर्म में बाद में जोड़ी गई रूढ़ियों की ओर संकेत करते हुए लिखा कि ''जबाह उल बकर कात उश शजर बाअ उल बशर शराब उल खमर' यानी बैल मारने वाले, वृक्ष काटने वाले, मनुष्य बेचने वाले, और मदिरापान करने वाले नजात कभी न होगी। फिर क्या कोई नया कुरान बनाया गया है? आप लोग ख्याल फरमावेंगे, तो साफ बदमाशों की शरारत है।''[24] यह बात तो स्पष्ट है कि बढ़ती धर्म गत रूढ़ियाँ समय के साथ व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में आपसी मतभेद का कारण बन गयी। कुछ स्वार्थियों ने जनता को अन्धेरे में रखकर अनेक अनैतिक कार्य करवाये, जिससे आने वाली पीढ़ी के अन्दर साम्प्रादायिक भावना बढ़ती गयी, आधुनिक समय में इन समस्यायओं और भयंकर रूप में मानवीय विनाश का रूप धारण कर लिया है।

राजनीतिक :

सन् 1870 ई. में पंडित गौरीदत्त द्वारा 'देवरानी जेठानी की कहानी' शीर्षक उपन्यास लिखा गया। इस उपन्यास को देखें तो उपनिवेश काल की राजनीतिक, सामाजिक हलचलों से अनभिज्ञता होती है। इसमें अंग्रेजी राज के प्रति आभार प्रकट किया गया है। अंग्रजों द्वारा भारतीय जनता पर किए जा रहे शोषण का जिक्र उपन्यास में कहीं देखने को नहीं मिलता। भारतीय जनता को सुखी दिखाया गया है तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों की बुराई भी की गई है। उपन्यास को पढ़ने से ऐसा लगता है कि पंडित गौरीदत्त अंग्रेजी राज के कृत्यों के प्रति अनजान दृष्टिकोण अपनाकर चापलूसी की हद तक पहुँचते हुए नजर आते हैं। यह बात केवल पंडित गौरीदत्त पर लागू नहीं की जा सकती बल्कि उनके बाद या उन्नीसवीं सदी के जितने भी उपन्यासकार हुए हैं उन सभी में यह बात देखने को मिलती है। श्रद्धाराम फिल्लौरी अपनी रचनाओं में तो वे अंग्रेजी राज के प्रति बहुत ज्यादा आस्थावान दिखाई देते हैं। भाग्यवती के पिता से राजा व्यापारी के सामान की चोरी

होने के बारे में बताते हुए लिखा हैं कि ''पंडित जी क्या अंग्रेजी राज में भी ऐसा अनर्थ हो सकता है कि जैसा अपने पुलिस वालों का सुनाया।''[25] आगे श्रद्धाराम फिल्लौरी पंडित उमादत्त नामक पात्र से अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहलवाते हैं कि ''अंग्रेजों तक ऐसी छोटी बातों को कौन पहुँचने देता है, यह तो सारे हमारे देशी भाईयों का प्रताप है कि जो पुलिस में नौकर हो रहे हैं''[26] आगे पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी अपने उपन्यास की नायिका के मुख से अंग्रेजी राज की प्रशंसा करते हुए कहलवाते हैं कि ''इनके समान चतुर और प्रजा का भला चाहने वाला राजा कौन है।''[27]

'परीक्षा गुरु' उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपनी तरह का पहला उपन्यास है। यह एक यथार्थवादी समस्याओं को लेकर लिखा गया उपन्यास है। इसमें लाला श्रीनिवासदास ने सरकार द्वारा किये जा रहे अन्याय से निजात किस प्रकार पायी जाए इस ओर संकेत किया है। जिस स्वदेशी की बात गांधी जी और कांग्रेस बीसवीं सदी में कर रहे थे, उसका समर्थन भारतेन्दु हरिचंद्र और उनके समकालीन रचनाकार पहले कर चुके थे। बीसवीं सदी के आन्दोलन की नीव उन्नीसवीं सदी में ही पड़ चुकी थी, बाद के दिनों में केवल उनका विस्तार हुआ। इसी प्रकार अगर हम आगे बढ़कर देखे तो किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में भी अंग्रेजों को बेदाग और न्यायप्रिय ही घोषित किया गया है। उदाहरण स्वरूप उनके उपन्यास 'हृदयहारिणी वा आदर्शवाला' और 'लवंगलता और आदर्शवाला' में सिराजुदौला और अंग्रेजो के बीच हुए युद्ध के प्रसंग में देख सकते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के दोनों उपन्यासों में प्लासी के युद्ध का जिक्र किया गया है। सिराजुदौला को बेवकूफ, कामी, और अन्यायी शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'हृदयहारिणी वा आदर्शवाला' और 'लवंगलता और आदर्शवाला' उपन्यास में उस समय बहुसंख्यक हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति किस प्रकार की धारणा थी ? इसे बखूबी देखा जा सकता है। यहाँ अंग्रेजी राज के प्रति हद से ज्यादा आस्था दिखाई देती है। इस आधार पर हमें हिन्दी साहित्य में किशोरीलाल गोस्वामी ही नहीं अपितु अधिकांश रचनाकार हिन्दुवादी मानसिकता से ग्रसित दिखायी दते हैं।

राधाकृष्णदास द्वारा लिखित उपन्यास 'निःस्सहाय हिन्दू' में मुख्य लक्ष्य के साथ–साथ समकालीन राष्ट्रीय भावना और नवजागरण की चेतना अभिव्यक्त हुई है। इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से उपन्यासकार ने ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं की है, पर शासन में देश की दुर्दशा, अंग्रेजी सरकार के पिठ्ठुओं की कारतूतों, अंग्रेजों से डरे हिन्दुस्तानियों की हास्यास्पद हरकतों, टैक्स में होती निरन्तर वृद्धि, महकमें में फैले भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता, कर के वसूली में की जानेवाली धांधली, सिविल लाइंस और अंग्रेजों के आवास स्थान आदि की आलोचना के द्वारा उपन्यासकार का देशानुराग स्पष्ट दिखाई देता है। इस उपन्यास में जाति–पाति, सम्प्रदायिकता, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, विदेश यात्रा रोक तथा अनेक प्रकार के देवी देवताओं और भूतप्रेतों की पूजा, छुआछूत आदि की आलोचना की गई है जो तत्कालीन नवजागरण से प्रेरित कथा है।

भुवनेश्वर मिश्र द्वारा लिखित उपन्यास 'बलवन्त भूमिहार' तत्कालीन समाज के भूमिहारों के संबंधों पर लिखा गया उन्नीसवीं सदी का एक मात्र यथार्थवादी ढंग का उपन्यास है। इस उपन्यास में भूमिहारों की सोच एंव कपटपूर्ण नीतियों को स्वभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु अपने संबंधों की परवाह नहीं करते। पर यह उपन्यास भूमिहारों के चरित्र को प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास है जो काफी हद तक उस समय में संभव भी हुआ। भुवनेश्वर मिश्र ने 'घराऊ घटना' नामक आत्मकथात्मक यथार्थवादी उपन्यास की रचना की है। इसमें स्त्रियों की आभूषण प्रियता के अवगुणों को दिखाने में ज्यादा रूचि ली गयी है।

संदर्भ :

1. देवरानी जेठानी की कहानी, पंडित गौरीदत्त, सं0 गोपालराय, भूमिका, पृ0 1–2
2. वही, पृ0 18
3. कविवचनसुधा, 3 नवम्बर 1873 ई0,
4. बिहार बंधु 23 जून 1874 ई0
5. रस्साकशी, वीरभारत तलवार, पृ0 212
6. नीलदेवी, भूमिका, भारतेंदु हरिश्चंद्र
7. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद/मुंशी कल्याण राय, भूमिका, पृ0 2–3
8. वही, पृ0 20
9. वही, पृ0 20–21
10. भाग्यवती, भूमिका, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ0 5
11. टालोचना, अंक 3, वर्ष 2000, अक्टूबर–दिसम्बर, वीर भारत तलवार, पृ0 107
12. सदाचरण– श्रीनिवासदास भारतेंदु पत्र सन् 1883(सं. 1940)
13. प्रतापनारायण–ग्रंथावाली, संपादक–विजयशंकर मल्ल, पृ0 133
14. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर–दिसम्बर, सन्1889, जि013, पृष्ठ–28
15. राष्ट्रीय पत्रकार और अनन्य साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, सं0 पद्माकर पाण्डेय, पृ0 20
16. वही
17. देवरानी जेठानी की कहानी, पृ0 48
18. भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, डॉ0 एम. सत्या राय, पृ0 37
19. कुसुमकुमारी, देवकीनन्दन खत्री, पृ0 7–8
20. निःसहाय हिन्दू, राधाकृष्णदास, पृ0 16
21. वही, पृ0 56
22. बलवंत भूमिहार, पृ0 9
23. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास, ज्ञानचंद ज्ञैन, पृ0 184

उपसंहार

उन्नीसवीं सदी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के लिए जानी जाती है। इन्हीं कारणों से इसका हमारे साहित्य और इतिहास में विशिष्ट महत्व है। इस सदी में अनेक समाज सुधार आन्दोलनों की शुरुआत हुई। ये आन्दोलन कई विचारधाराओं को लेकर हुए, जिनमें धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों का प्रमुख स्थान है। इन आन्दोलनों के प्रमुख मुद्‌दे– विधवा विवाह, स्त्री–शिक्षा, सती–प्रथा, बाल–विवाह, जाति–प्रथा का विरोध और स्त्री–संपत्ति का अधिकार आदि थे। तत्कालीन समय में पश्चिम से शिक्षा ग्रहण करके आए नए बुद्धिजीवी वर्ग ने जब पश्चिम से अपने देश के अनेक क्षेत्रों में तुलना की तो हीन अवस्था में पाया, जिसके फलस्वरुप इनको अपनी रुढ़िवादी व्यवस्था खटकने लगी। इनको अपने पिछड़े होने का कारण समझ में आ गया। अतः इसी बुद्धिजीवी वर्ग ने सर्वप्रथम समाज सुधार की ओर अपनी विशेष रुचि दिखाई। समाज सुधार आन्दोलनों की शुरुआत सर्वप्रथम बंगाल में हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में चल रहे इन आन्दोलनों को विद्वानों ने 'नवजागरण' नाम दिया। नवजागरण के प्रवर्तक राजा राममोहन राय हैं। यह समाज सुधार आन्दोलन सिर्फ बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि धीरे–धीरे अखिल भारतीय हो गया। इसका सबसे बड़ा कारण नई विचारधारा का तेज गति से प्रवाहित होना था। इन आन्दोलनों से अक्षय दत्त, केशवचन्द्र सेन, द्वेवेन्द्रनाथ टैगोर, ज्योतिबा फूले, पाण्डुरंग, दयानन्द सरस्वती आदि जुड़े रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में सामाज सुधार आन्दोलनों के साथ–साथ धार्मिक सुधार आन्दोलन भी जुड़ा हुआ है। इस आन्दोलन के फलस्वरुप प्राचीन काल से चली आ रही धार्मिक कुरीतियों का कड़ा विरोध हुआ। वैसे तो आदिकाल से इसका विरोध होता चला आ रहा था परंतु जितने व्यापक तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ उतने व्यापक तौर पर इससे पूर्ववर्ती युग में देखने को नहीं मिलता है। राजाराममोहन राय ने सर्वप्रथम पारंपरिक धर्म की कमियों की ओर ध्यान दिया जिसके फलस्वरुप इन्होंने सन् 1816 ई0 में 'आत्मीय सभा' तथा 1829 ई0 में 'ब्रम्हसमाज' की स्थापना की। इन्होंने पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्रियों

को संपत्ति का अधिकार देने की माँग की तथा सदियों से चली आ रही अमानवीय व्यवस्था 'सतीप्रथा' का विरोध किया। इसके लिए इनको कड़ा संघर्ष करना पड़ा। तत्कालीन समय में रुढ़िवादियों ने तो इनका परित्याग किया ही, इनके घर वालों ने भी साथ नहीं दिया। अगर देखा जाए तो प्रमुख समाज सुधारक ज्योतिबा फूले के विचारों को उनके माता–पिता ने भी स्वीकार नहीं किया। ये उन समाज सुधारकों में से थे जिन्होंने भारतीय समाज में नीची समझी जाने वाली जाति का समर्थन किया। इन्होंने सर्वप्रथम 1848 में बालिका विद्यालय की स्थापना की। इसमें पढ़ने वाली ज्यादातर लड़कियाँ इन्हीं जातियों से थीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इन्होंने 'वेदों की ओर लौट चलो' का नारा दिया। इनका प्रमुख एजेण्डा बाल–विवाह का विरोध एवं विधवा–विवाह का समर्थन था। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव उत्तर भारत अर्थात् पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त पर पड़ा। जब यह आन्दोलन प्रयाग और बनारस की ओर बढ़ा तो इसका सनातनधर्मी पण्डितों ने घोर विरोध किया। जिसके फलस्वरुप इन्होंने बाल–विवाह और विधवा–विवाह आदि मुद्दों को छोड़कर नागरी प्रचार और गोवध–विरोध को अपना एजेण्डा बना लिया। इसका सबसे बड़ा कारण था दोनों का मुसलमानों के प्रति घृणा भाव। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अंग्रेजों को मुसलमानों से अच्छा माना।

नवजागरण का उदय सर्वप्रथम यूरोप में 13वीं और 14वीं शताब्दी के मध्य हुआ था। ऐतिहासिक मान्यता है कि नवजागरण का उदय 14वीं शताब्दी में इटली में 'कला और साहित्य' की पुर्नस्थापना के लिए फ्रांसिको, पेट्र्राक और ज़ियोमानी वोकाशियो द्वारा प्रारंभ किए गये प्रयास से हुआ, जो पंद्रहवीं शताब्दी में पूरे यूरोप में फैल गया। इसके पूर्व भी कई देशों में नवजागरण प्रारंभ हो चुका था, पर इटली में जिस प्रभावशाली ढंग से हुआ वैसा कहीं और दिखाई नहीं देता। नवजागरण अलग–अलग देशों में अलग–अलग मुद्दों को लेकर हुआ था, जिसमें अलग–अलग सामाजिक रूपों की प्रधानता दिखाई देती है। किसी भी देश में नवजागरण प्रारंभ होने की परिस्थितियाँ भले अलग–अलग हो, पर कमोबेश सब में एक ही वैचारिक धारणा देखने को मिलती है। भारत में नवजागरण ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के प्रभाव के फलस्वरूप ज्ञान, विज्ञान, साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में

आई नई चेतना से जुड़ा है। भारत में नवजागरण का प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी के पहले–दूसरे दशक में बंगाल और महाराष्ट्र में सामाजिक सुधारों को लेकर हुआ।

हिन्दी गद्य के विकास में नवजागरण का महत्वपूर्ण योगदान है। हालांकि बंगला और मराठी साहित्य में हिन्दी की अपेक्षा नवजागरण पहले आया, अन्य भारतीय भाषाओं में गद्य का विकास हिन्दी के बहुत बाद हुआ। भारत में देखा जाये तो गद्य का विकास स्कूल कालेजों से हुआ। हिन्दी में गद्य का विकास उर्दू के बाद हुआ क्योंकि उर्दू को फ़ारसी दास्तानों की परंपरा मिली थी तथा उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू का हिन्दी से अधिक महत्व था और फ़ारसी सैकड़ों वर्षों से हिन्दी प्रदेश की लिपि थी। अदालतों और सरकारी काम काज के लिए फ़ारसी लिपि ही प्रयोग में लायी जाती थी।

भारत में गद्य लेखन का प्रारंभ स्कूल–कॉलेजों के चलन से हुआ। 1800 ई0 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। जॉन गिलक्राइस्ट भारतीय भाषा–विभाग के निदेशक नियुक्त हुए। इन्होंने बड़े पैमाने पर ज्ञान–विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद करवाया। और हिन्दी–उर्दू में अनेक अनूदित एवं मौलिक पुस्तकें तैयार करवायी। इनकी नज़र में हिन्दी और उर्दू अलग–अलग भाषाएँ नहीं थीं। वे इन्हें हिन्दुस्थानी की दो शैलियाँ मानते थे। गिलक्राईस्ट फारसी–शैली को दुरूह तथा हिन्दवी को गँवारू मानते थे। इन तीनों में ये विशुद्ध हिन्दुस्थानी–शैली को प्राथमिकता देते थे। यह हिन्दुस्तानी भाषा में उर्दू कही जाने वाली भाषा थी। 1800–03 ई0 के लगभग फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसके अलावा 'बैताल पच्चीसी', 'ज्ञानोपदेश', 'सिंहासन पच्चीसी' आदि की रचनाएँ लगभग 1800–10 ई0 के आस–पास मिलती हैं। सदासुखलाल के लगभग 65 वर्ष पूर्व रामप्रसाद निरंजनी की रचना 'भाषा योगवाशिष्ठ' में गद्य के अच्छे स्वरूप को देखा जा सकता है। हिन्दी गद्य के विकास में फोर्टविलियम कॉलेज की भूमिका के ऐतिहासिक महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम हिन्दी में इतने बड़े स्तर पर सरकारी सहायता प्राप्त हुई और पुस्तकों का निर्माण एवं प्रकाशन करवाया गया। इसके अलावा गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का

महत्वपूर्ण योगदान रहा। गद्य के विकास में उनके द्वारा स्थापित प्रेस की भूमिका अहम है। बिना प्रेस के इतनी अधिक संख्या में पुस्तकों का मुद्रण सम्भव नहीं था और पत्र–पत्रिकाओं के बारे में तो सोचा भी नहीं जा सकता था। अंग्रेजी के साथ–साथ उर्दू और हिन्दी की पढ़ाई का जिम्मा सरकार ने ले लिया था। इसके लिए सरकार द्वारा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की गई। ईसाई मिशनरियों का मुख्य काम था–ईसाई धर्म का प्रचार करना। ऐसी स्थिति में हिन्दू जनता ने इसका कड़ा विरोध किया। जिसके प्रतिक्रियास्वरुप हिन्दी गद्य में अनेक रचनाएँ हुयीं। उस समय के जिन प्रमुख व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें राजाराममोहन राय का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है, जिन्होंने 1815 ई0 में 'वेदान्त सूत्र' का हिन्दी गद्य में अनुवाद प्रकाशित कराया और 1829 ई0 में 'बंगदूत' नामक पत्र भी निकाला। इसके पहले 1826 ई0 में पं0 जुगल किशोर ने हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र 'उदंत मार्तंड' निकाला। आगे चलकर इन पत्रों को आर्थिक और सरकारी कठिनाई झेलनी पड़ी, जिनमें कुछ का प्रकाशन भी बन्द हो गया। अगर देखा जाय तो हिन्दी में जितने भी प्रारंभिक पत्र निकले वे हिन्दी क्षेत्र से न निकल कर गैर–हिन्दी क्षेत्र से निकले। बंगदूत, उदंत मार्त्तंड दोनों पत्रों का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ।

धीरे–धीरे समाचार पत्रों का रूप बदला और उसमें कुछ संरचनात्मक वृद्धि का कार्य हुआ। 1845 में राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने काशी से 'बनारस अखबार' निकाला और गद्य के अध्ययन सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखी, जिसमें– विज्ञान, भूगोल से संबंधित पुस्तकों के अलावा कुछ गद्य रचनाओं में –राजा भोज का सपना, वीर सिंह का वृत्तांत, आलसियों का कोड़ा, इतिहासतिमिरनाशक आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा 1850 ई0 में बनारस से ही 'सुधारक' पत्र निकला। राजा लक्षमण सिंह ने 1860 ई0 में 'प्रजाहितैषी' , 1867 ई0 में नवीन चन्द्र ने 'ज्ञान प्रदायिनी', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1868 ई0 में 'कविवचनसुधा', बाद में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'बालबोधिनी' नामक पत्रिका भी निकाला। भारतेन्दुयुगीन प्रमुख साहित्यकार प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी प्रदीप', उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन 'आनंद कादंबिनी, 'नीरद माला' आदि ने अलग–अलग क्षेत्रों में गद्य को एक नया रूप दिया। भारतेन्दुयुगीन अन्य उल्लेखनीय साहित्यकारों में लाला

श्रीनिवास दास, पं0 राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, ठाकुर जगमोहन आदि प्रमुख हैं जिन्होंने अनेक गद्य रचनायें की।

नागरी–आन्दोलन की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। इसका सबसे बड़ा कारण था उस समय उर्दू को सरकार द्वारा हिन्दी से अधिक महत्व दिया जाना। उन्नीसवीं शताब्दी में चल रहे इस आन्दोलन के फलस्वरूप तीन वर्ग सामने आए– एक वह वर्ग था जिसने केवल उर्दू का समर्थन किया, जिसके प्रतिनिधि के तौर पर सर सैयद अहमद खाँ को देखा जा सकता है। दूसरा वह वर्ग था जो केवल संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहा था, जिसके प्रतिनिधि के तौर पर राजा लक्ष्मण सिंह को देखा जा सकता है। तीसरा वह वर्ग था जो हिन्दी–उर्दू दोनों पढ़ाए जाने का समर्थन कर रहा था, इसके प्रतिनिधि के तौर पर राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' को देखा जा सकता है। इस संदर्भ में तत्कालीन सरकार दोहरी भूमिका निर्वाह करते दिखाई देती है। तत्कालीन समय में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और सर सैयद अहमद खाँ दोनों सरकार के विश्वास पात्रों में थे। इस कारण से सरकार कभी नागरी का समर्थन करती तो कभी उर्दू का। ब्रिटिश सरकार हमेशा दोनों को खुश करने में लगी रही। वैसे सरकार का झुकाव उर्दू की तरफ अधिक था। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने हिन्दी की स्थिति देखते हुए मध्यम मार्ग को अपनाया और उर्दू मिश्रित हिन्दी लिखने का समर्थन किया। इसके लिए इन्होंने अनेक पुस्तकों का लेखन कार्य किया। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' अंग्रेजों का हित चाहने वालों में थे। इस बात को लेकर इनकी हमेशा आलोचना होती रही। इसी कारण से इनका मूल्यांकन ठीक ढंग से हिन्दी साहित्य प्रेमियों और आलोचकों ने नहीं किया। राजा साहब ने 1868 ई0 में सरकार को भेजे गये मेमोरेण्डम में उर्दू का समर्थन किया और हिन्दी में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का अधिक प्रयोग किये जाने की आलोचना की। सात माह बाद भेजे गए दूसरे मेमोरेण्डम में हिन्दी का समर्थन किया और फ़ारसी के कठिन शब्दों के अधिक प्रयोग की आलोचना की। इससे उनके द्वन्द्वात्मकता का पता चलता है। चाहे जो हो पर राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द के इस योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। इन्होंने विपरीत परिस्थितियों में हिन्दी के अस्तित्व को बचाये रखा। अपने गुरू के इस आन्दोलन को भारतेन्दु एवं उनके समकालीनों

ने आगे बढ़ाया और हिन्दी साहित्य को एक नया स्वरूप प्रदान किया। इस आन्दोलन का मुख्य रूप से उर्दू और मुसलमानों के विरोध में होने के कारण बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन मिला, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की शुरूआत नागरी–आन्दोलन के फलस्वरूप हुई। इसकी अभिव्यक्ति प्रारंभिक उपन्सासों 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षक' में देखी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में नागरी शिक्षा का प्रचलन अंग्रेज़ी, फ़ारसी और उर्दू पढ़े उच्च मध्यवर्ग में अधिक था। यह वर्ग अपने घरों में अपनी स्त्रियों को भी नागरी की शिक्षा दे रहा था ताकि स्त्रियों को गृहस्थ जीवन की शिक्षा मिल सके। जब इस पढ़े–लिखे वर्ग ने अंग्रेजों की स्त्रियों से अपनी स्त्रियों की तुलना की तो इनका फूहड़ लगने वाला व्यवहार खटकने लगा, जिसके चलते इस वर्ग ने अपने घरों की स्त्रियों को शिक्षा देने का फैसला किया। दस्तावेज़ के रूप में हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों को देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य की प्रथम मौलिक कहानी इंशा अल्लाह खाँ द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' है। इस कहानी में तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के वर्चश्ववादी चेहरे को दिखाने का प्रयास किया गया है। 'रानी केतकी की कहानी' लिखे जाने के लगभग चार दशक बाद कहानी लेखन के क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का पदार्पण हुआ। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने 'वामामनरंजन', 'बीरसिंह का वृत्तांत', 'राजा भोज का सपना', तथा आलसियों का कोड़ा आदि कहानियों की रचना की। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'राजा भोज का सपना' में जहाँ शासक वर्ग में व्याप्त संक्रीणताओं को दिखाया गया है वहीं 'बीरसिंह का वृत्तांत', में उस समय चल रहे बालिका वध, विवाह में अतिरिक्त धन अपव्यय तथा दहेज प्रथा का घोर विरोध किया गया है। इनकी कहानी 'वामामनरंजन' का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देना था। परवर्ती दशक में लिखे गये उपन्यासों की पूर्व पीठिका इन्हीं अनुदित एवं मौलिक कहानियों से तैयार हुई।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग की शुरुआत सन् 1857 ई0 से मानी जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण 1857 की क्रांति है, जिसने केवल राजनीतिक ही नहीं अपितु विभिन्न व्यवस्थाओं को भी प्रभावित किया। 1857 के बाद कंपनी का शासन ब्रिटिश साम्राज्य के शासन में आ गया। महारानी विक्टोरिया के घोषणा–पत्र ने शुरुआती दौर में तो भारतीय जनता को काफ़ी राहत दी, परंतु कुछ समय बाद इससे उनका मोह भंग हो गया। अब भारतीय जनता दोहरे शासन के चक्र में पिसने लगी। सरकार द्वारा अनेक ऐसे कर लगाए गए जिसे जनता चुका पाने में असमर्थ थी और जिसके फलस्वरुप जनता की स्थिति दिन–प्रतिदिन दयनीय होती चली गयी। किसानों, जुलाहों, व्यापारियों और दस्तकारों ने तंग आकर आत्महत्या करना प्रारंभ कर दिया। 1857 के कृत्य से तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग पूरी तरह डर गया और उसने नया रास्ता तलाशना शुरु कर दिया। इसकी अभिव्यक्ति तत्कालीन हिन्दी साहित्य में देखी जा सकती है। 1857 में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गये कृत्य की आलोचना करने का साहस तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग में नहीं दिखाई देता है। इसका कारण था 1857 की क्रांति का अंग्रेज़ सरकार द्वारा अमानवीय ढंग से कुचला जाना। इस क्रांति के दमन के दौरान शासन द्वारा अपने हितैषियों एवं विद्रोहियों के साथ एक सा व्यवहार किया गया। इस क्रांति का प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसकी असफलता के बाद बुद्धिजीवी वर्ग ने अपनी स्वतंत्रता के बारे में नए ढंग से सोचना प्रारंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप सन् 1885 ई0 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

उन्नीसवीं सदी में चल रहे समाज–सुधार–आन्दोलनों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु लगभग सभी भारतीय भाषाओं में उपन्यासों की रचना हुई। हिन्दी साहित्य में पंडित गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' मुंशी कल्याण राय और मुंशी ईश्वरी प्रसाद ने 'वामा शिक्षक' और श्रद्धाराम फिलौरी द्वारा रचित 'भाग्यवती' की रचना समाज सुधार आन्दोलनों को लेकर हुई। इन तीनों प्रारंभिक उपन्यासों की रचना स्त्री–शिक्षा को केन्द्र में रखकर की गई है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत की अधिकांश भाषाओं में उपन्यास लेखन की शुरूआत स्त्री–संबंधी मुद्दों को लेकर हुई। हिन्दी साहित्य में प्रारंभिक

उपन्यासों की रचना स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिए की गयी थी। इन उपन्यासों में अस्तित्वविहीन स्त्री की कल्पना की गयी है, जो पुरूष की कहीं भी बराबरी करते नहीं दिखाई देती है, न ही उसकी किसी भी प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक भूमिका को स्वीकारा गया है। इन उपन्यासों में स्त्रियों का ध्यान न रखकर उनके अभिभावकों का ध्यान ज्यादा रखा गया है। इसका सबसे बड़ा कारण था कि अगर इन उपन्यासों में कोई ऐसी बात लिखी जाती जो तत्कालीन पुरूष प्रधान समाज को चुनौती देती, तो जो वर्ग स्त्री–शिक्षा के लिए आगे आ रहा था वह इसका समर्थन करना बंद कर देता। इसीलिए रचनाकारों ने स्त्रियों के हक का ध्यान न रखकर अभिभावकों का ध्यान ज्यादा रखा। इनकी रचना लड़कियों को पढ़ने–पढ़ाने के लिए पुस्तक के रूप में की गई। 'भाग्यवती' उपन्यास को लड़कियों को पढ़ने के लिए एक अच्छी पुस्तक के रूप में स्वीकार किया गया। इसके बाद लाला श्रीनिवासदास ने सन् 1882 ई0 में 'परीक्षा गुरू' नामक उपन्यास की रचना की। इन्होंने इसे 'संसारी वार्ता' घोषित किया है। इसको आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में लिखे अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास स्वीकार किया है। इस उपन्यास में तत्कालीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भले नहीं मिलती हो पर तत्कालीन आर्थिक संकट से निजात पाने का संकेत अवश्य मिलता है। इसके अलावा उन्नीसवीं सदी में कई मुदद्दों पर उपन्यासों की रचना की गयी। तत्कालीन उपन्यासकारों में राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, देवकीनंदन खत्री, लज्जाराम शर्मा, पंडित राधाचरण गोस्वामी, पं0 अम्बिका दत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट और जगमोहन सिंह आदि प्रमुख हैं। लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखित 'परीक्षा गुरू', बाल कृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' तत्कालीन मध्यवर्ग की एक अलग ढंग से पोल खोलते हैं। 'परीक्षा गुरू' वह प्रथम उपन्यास है, जिसमें स्वदेशी की बात की गयी है जिसे भारतेंदु हरिचंद्र ने उठाया था। इसे ही आगे चलकर गाँधी जी ने उठाया। 'परीक्षा गुरू' और 'सौ अजान एक सुजान' में भले ही तत्कालीन समाजसुधार आन्दोलनों की छवि देखने को नहीं मिले पर यह तो स्पष्ट है कि दोनों में कहीं न कहीं भारतीय जनता के साथ हो रहे अन्याय को दिखाने का भरसक प्रयास किया गया है। राधाकृष्ण दास द्वारा लिखित

'निःसहाय हिन्दू' में उस समय में चल रहे सम्प्रदायवाद के मूल में व्याप्त स्वार्थपरकता को दिखाने का प्रयास किया है। यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जो सर्वप्रथम हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात करता है। भुवनेश्वर मिश्र ने 'बलवंत भूमिहार' में तत्कालीन भारतीयों की आपसी राजनीति को दिखाने का सफल प्रयास किया है। देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित वीरेन्द्रवीर, कुसुमकुमारी एवं चंद्रकांता को लगभग अधिकांश विद्वानों ने घटना प्रधान या तिलस्मी ऐय्यारी उपन्यास कहकर गंभीरतापूर्वक विचार करने का प्रयास नहीं किया। ये उपन्यास महज तिलस्म का जाल नहीं है बल्कि औपनिवेशिक भारत में व्याप्त राजनीतिक अकुशलता को भी दर्शाता है।

हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासे उस समय के देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को जानने का सबसे सशक्त माध्यम हैं। अगर भाषा–शिल्प की दृष्टि से देखा जाय तो अधिकांश में प्रायः औपन्यासिक तत्वों का अभाव दिखता है। इन उपन्यासों में कर्ता, क्रिया, सहायक क्रियाओं एवं वाक्य विन्यास का समुचित ध्यान नहीं रखा गया है, न ही सही ढंग से शब्द चयन ही किया गया है। इन उपन्यासों में भाषिक संरचना को उतना महत्व नहीं दिया गया है। हिन्दी के जितने भी प्रारंभिक उपन्यास हैं, उनका मूल्यांकन आधुनिक सौंदर्य के प्रतिमानों के आधार पर करने से कोई भी रचना इन नियमों का पूर्ण रूप से निर्वाह करती नहीं दिखाई देती है। अतः जरूरी है कि उन रचनाओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाए। इन प्रारंभिक उपन्यासों की रचना जिन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की गयी है, उसमें हर रचनाकार लगभग सफल रहा है। चाहे इनमें कुछ का रूप उपदेशात्मक ही क्यों न रहा हो। इन उपन्यासों में दो–एक को छोड़कर पाठक पर अपने विद्वत्ता का भार लादने का प्रयास नहीं किया गया है। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यास जब लिखे गये उस हिन्दी पद्य एवं गद्य का संक्रमण काल था, इस स्थिति में प्रारंभिक उपन्यासों में शिल्पगत् पूर्णता की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

आधार ग्रंथ–सूची

क्रम सं0	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक/संस्करण
1.	अयोध्यासिंह उपध्याय 'हरिऔध',	ठेठ हिन्दी का ठाठ,	हिन्दी–साहित्य–कुटीर हाथीगली, वाराणसी–1, सं. वि0 संवत 2023
2.	इंशा अल्लाह खाँ,	रानी केतकी की कहानी,	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय सं0 संवत् 2039
3.	किशोरीलाल गोस्वामी,	हृदयहारिणी वा आदर्शवाला,	श्री छबीलेलाल गोस्वामी प्रकाशन, काशी, 1915 ई0
4.	किशोरीलाल गोस्वामी,	लवंगलता वा आदर्शवाला,	श्री छबीलेलाल गोस्वामी प्रकाशन, काशी, 1915 ई0
5.	पण्डित गौरीदत्त,	देवरानी जेठानी की कहानी,	डॉ. गोपाल राय, ग्रंथ निकेतन पटना, 1966 वि0 संवंत 1997
6.	बालकृष्णभट्ट,	नूतन ब्रह्मचारी,	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 1950
7.	बालकृष्ण भट्ट,	सौ अजान एक सुजान,	गंगा पुस्तकमाला अमीनाबाद, सं. 1985 वि0 बाजार, दिल्ली, सं. 1958

8. देवकीनन्दन खत्री, चंद्रकांता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2007

9. देवकीनन्दन खत्री, बीरेन्द्रवीर, लहरी प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2009

10. देवकीनन्दन खत्री, कुसुम कुमारी, लहरी प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2009

11. भुवनेश्वर मिश्र, बलवंत भूमिहार, लहरी प्रेस, महल्ला लाहौर सं. 1990

12. मुंशी कल्याण राय/मुंशी ईश्वरी प्रसाद, वामा शिक्षक, विद्या दर्पण छापाखाना, मेरठ, 1883

13. राधाकृष्णदास, निःसहाय हिन्दू, गंगा पुस्तकमाला लाटूश रोड, लखनऊ 1997 वि. सं.

14. लाला श्रीनिवासदास, परीक्षा गुरू, ज्ञान प्रकाशन टोला, वाराणसी, 1901 ई0

15.श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, नालंदा प्रकाशन, भूल–भूल्लैया रोड, नयी दिल्ली, प्र. सं. 1987

सहायक ग्रंथ–सूची

क्रम सं0 लेखक पुस्तक प्रकाशन/संस्करण

1.आर. एस. सर्राजु, भारतीय उपन्यास साहित्य की भूमिका, सीता प्रकाशन मोतीबाजार, हैदराबाद, सं. 1988

2. आर. एस. सर्राजु, भारतीय उपन्यास साहित्य का उद्भव, तुलनात्मक समाजशस्त्रीय विश्लेषण, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद,प्र. सं.2005

3. ओमप्रकाश भाटिया 'अराज', नागरी लिपि उद्भव और विकास, सूर्य प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, प्र. सं. 1978

4. कमला नारायण टंडन(सं.), उर्दू साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रकाशन तेजनारायण टण्डन, विद्यामंदिर 68–69 एवेन्युराडै, प्र. सं. 1972

5. कर्मेन्दु शिशिर(सं.), नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि, भाग–2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), 21–ए,दरियागंज, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008

6. कर्मेन्दु शिशिर(सं.), नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि, भाग–2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), 21–ए,दरियागंज, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008

7. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.–2005

8. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य–शैली का विकास, नागरी प्रचारिणी सभा,

काशी, सं. संवत् 2017

9. डॉ. श्रीनारायण भारद्वाज, ऐतिहासिक उपन्यास तुलनात्मक अध्ययन, कोणार्क प्रकाशन 61 एफ, कमला नगर, दिल्ली, प्र. सं. 1983

10. डॉ. सेठ गोविन्द दास, राज भाषा–हिन्दी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1965

11. डॉ. शशिभूषण सिंहल, हिन्दी उपन्यासः नये क्षितिज, प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, प्र.सं.1992

12. डॉ. प्रेम भटनागर, हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, अर्चना प्रकाशन 10–सी जालूपुरा जयपुर प्र. सं.1968

13. डॉ. शान्ति भारद्वाज, हिन्दी उपन्यास प्रेम और जीवन, सुशील प्रकाशन पुरानी मंडी, अजमेर, प्र. सं. 1968

14. निर्मला जैन(सं.)/दिविक रमेश(सं.), बालकृष्ण भट्ट, निबन्धों की दुनियाँ, वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए,दरियागंज, नयी दिल्ली–110002

15. प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2001

16. प्रो. सत्यनारायण त्रिपाठी, हिन्दी भाषा और लिपि का ऐतिहासिक विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2006

17. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन–15 ए महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद, सं0–2005

18. ब्रजरत्नदास, हिन्दी उपन्यास–साहित्य, हिन्दी साहित्य–कुटीर बनारस, सं. संवत् 2021

19. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2004

20. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सं. 1975

21. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिचंद्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सं. 1966

22. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1977

23. रामनिरंजन परिमलेन्दु, भारतेंदु काल का अल्पज्ञात साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं 2005

24. रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, द्वितीय सं. 1982

25. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2005

26. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. संवत् 2060

27. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 18 वां सं. 2005

28. रेखा कुलकर्णी, हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों चन्द्रलोक प्रकाशन,

में नारी, कानपुर, सं.–1994

29. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम हिन्दी सं.– 2005

30. रैल्फ फॉक्स, अनुवादक–नरोत्तम नागर, उपन्यास और लोक–जीवन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, एस. एस. रोड, नई दिल्ली, सं. 1957

31. लक्ष्मीकान्त वर्मा, हिन्दी आन्दोलन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1964

32. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रा. लि. 142 ई पॉकेट–4 , मयूर बिहार नई दिल्ली सं. 2005

33. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य हिमांचल पुस्तक भंडार, साहित्य कुछ प्रसंग :कुछ प्रवृत्तियाँ, सरस्वती भंडार, गाँधी नगर, दिल्ली, सं. 1993

34. वीरभारत तलवार, हिन्दी नवजागरण की विचारधारा, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान राष्ट्रपति निवास शिमला, प्र. सं. – 2001

35. विजयशंकर मल्ल(सं.), प्रतापनारायण ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं. –संवत् 2049

36. शिवदान सिंह चौहान, विष्णुचंद्र शर्मा(सं.), हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, स्वराज प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली

37. शिवबहादुर सिंह, हिन्दी उपन्यास : सृजन–प्रक्रिया, शैलजा प्रकाशन 107/295 ब्रह्मनगर कानपुर–12, प्र. सं. 1981

38. श्यामसुन्दर दास, हिन्दी–कोविद रत्नमाला भाग–1, इंडियन प्रेस इलाहाबाद, इंडियन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, सं. 1909

39. श्यामसुन्दर दास, हिन्दी–कोविद–रत्नमाला भाग–2, इंडियन प्रेस प्रयाग, सं. 1921

40. हेमंत शर्मा (सं.), भारतेंदु समग्र, हिन्दी प्रचाारक संस्थान, वाराणसी, सं.1989

41. हृदेश मिश्र/शिवलोचन पाण्डे, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन इलहाबाद, द्वितीय सं. 1995

42. ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाशन, सरस्वती भंडार गाँधीनगर दिल्ली–110031, सं. 1998

पत्र–पत्रिकाएँ

क्र. सं.	संम्पादक	पत्र–पत्रिकाएँ	वर्ष
1.	अखिलेश	तद्भव	जनवरी 2007
2.	अम्बिकादत्त	पीयूष प्रवाह	25 अप्रैल 1884
3.	केशवराम	बिहार बन्धु	23जून मंगलवार 1874
4.	किशन कालजयी	संवेद	जुलाई 1994
5.	डॉ0 रमेश कुंतलमेघ	सम्मेलन	शक 1882
6.	परामानंद श्रीवास्तव	आलोचना	अक्टूबर, 2000
7.	प्रतापनारायण मिश्र	ब्राह्मण	15 फरवरी सन् 1884
8.	प्रतापनारायण मिश्र	ब्राह्मण	15 अप्रैल सन् 1884
9.	बलदेव सिंह मदान	आजकल	जुलाई 2004
10.	बालकृष्ण भटट्	हिन्दी प्रदीप	सन् 1907 जि0 29
11.	बालकृष्ण भटट्	हिन्दी प्रदीप	अक्टूबर–दिसम्बर सन् 1889
12.	बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी प्रदीप	सन् 1879
13.	बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी पत्रिका	जनवरी–सितम्बर 1904
14.	बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी प्रदीप	जुलाई 1888
15.	बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी प्रदीप	जनवरी–फरवरी, मार्च–अप्रैल, 1886
16.	भारतेंदु हरिश्चंद्र	कविवचनसुधा	3 नवम्बर 1873
17.	भारतेंदु हरिश्चंद्र	कविवचनसुधा	जून 1874
18.	भारतेंदु हरिश्चंद्र	कविवचनसुधा	जून 1874

19. भारतेंदु हरिश्चंद्र	कविवचनसुधा	8 सितबंर 1884
20. रामकृष्ण वर्मा	भारत जीवन	21 अप्रैल, 1884,
21. साधोराम भट्ट	बिहार बन्धु	15 मई1878
22. श्यामसुन्दरदास	सरस्वती	अप्रैल 1900,
23. श्यामसुन्दरदास	सरस्वती	अप्रैल 1900,
24. श्यामसुन्दरदास	सरस्वती	अगस्त 1900,
25. श्यामसुन्दरदास	सरस्वती संख्या 11	नवम्बर 1902,
26. बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी प्रदीप	अक्टूबर–दिसम्बर सन् 1889,
27. लक्ष्मीकांत वर्मा	हिन्दुस्तानी पत्रिका समग्र	सन् 1971

कोश :

1. गोपालराय हिन्दी उपन्यास कोश, भाग–1 ग्रंथ निकेतन पटना, रानी घाटपटना–6 प्र0 सं0–1968
2. डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा(सं.), हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1,2 ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2007
3. डॉ0 स्वप्न मुकर्जी हिन्दी शब्दकोश सं. शिक्षा भारती, कश्मीरी गेट, दिल्ली, सं. 1989

मुख पृष्ठ की प्रतिलिपि

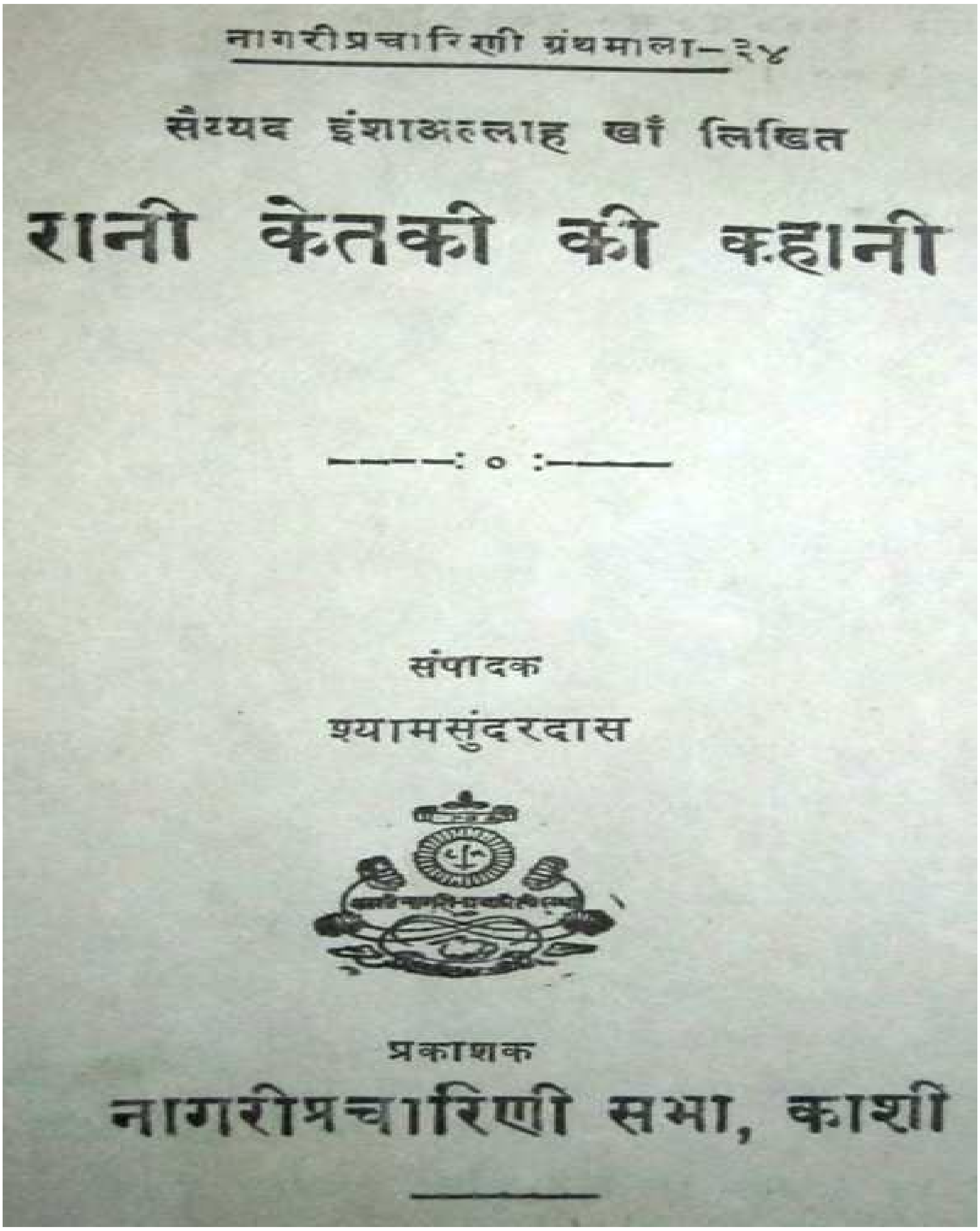
नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला—२४

सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ लिखित

रानी केतकी की कहानी

——:०:——

संपादक

श्यामसुंदरदास

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला—३५

सदल मिश्र अनुवादित

चंद्रावती

अथवा

नासिकेतोपाख्यान

संपादक

श्यामसुंदरदास

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

———

षष्ठ संस्करण]

सं० २००७ वि०

नागरीप्र

मूल्य .

श्री लल्लूलालजी कृत :—

श्री प्रेमसागर

[सचित्र ९० अध्याय]

सम्मति : मानस मार्तण्ड पं० ज्वालाप्रसाद जी

बम्बई (अखबारों में)

मुद्रक व प्रकाशक : श्री लोकनाथ पुस्तकालय

१७३, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७

नवीं बार १०,०००] १९८७-८८ [मूल्य : [redacted].००

देवरानी जेठानी की कहानी

एक वृद्ध और लिखी पढ़ी स्त्री की
सम्मति से

पण्डित गौरीदत्त ने बनाई

श्रीयुत एम० केमसन साहिब बहादुर
डैरेक्टर आफ पबलिक इन्स्ट्रक्शन के द्वारा
श्रीमन्महाराजाधिराज पश्चिम देशाधिकारी
श्रीयुत लेफटिनेन्ट गवर्नर बहादुर के यहाँ से
१०० रुपये इनाम मिले

मेरठ
छापेखाने ज़ियाई में छापी गई
सन् १८७०

1st edition 500 Copies
Price per copy 12 as.

पहलीबार ५०० पुस्त
मोल एक पुस्तक ''

BENARES CITY

वामा शिक्षक

बाहर नहीं
जा सकती

अर्थात्

दो भाई और चार बहनों की कहानी

जिस्को

मुन्शी ईशरी प्रसाद मुदर्रिस रियाज़ी और
मुन्शी कल्याणराय मुदर्रिस अव्वल उर्दू
मदरसे दस्तूर तालीम मेरठ जाति काइस्त
क्षत्रि वर्णीन सन् १८७२ ई· में बनाई

और·

खाक पाय कल्याण राय ने
छापेख़ाने विद्या दर्पण मेरठ में छप वाई

सन् १८८३ ईसवी

पहली बार ५०० पुस्तक नोछावर प्रतिपुस्तक
१० आने

भाग्यवती

पं॰ श्रद्धाराम फिल्लौरी

निःसहाय हिंदू

[वियोगांत उपन्यास]

लेखक

श्रीराधाकृष्णदास

२८५.१ श्री.रा.क

२८३.१ नि.०३.क

संपादक

श्यामसुंदरदास

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १)] सं० १९९७ वि० [सादी ।।)

नूतन ब्रह्मचारी

उपन्यास

एक "सहृदय" के हृदयका विकास

लेखक

स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण भट्ट

भीमं वनं भवति तस्य पुर प्रधानम् ।
सर्वेजनाः सुजनतामुपयान्ति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधि रत्नपूर्णा ।
यस्यास्ति शुभ्र चरितं विपुलं नरस्य ॥

प्रकाशक—
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
बनारस
सन् १९५०

चौथी बार ४०००]

गंगा-पुस्तकमाला का सतहत्तरवाँ पुष्प

सौ अजान और एक सुजान

[एक प्रबंध-कल्पना]

लेखक
स्वर्गवासी पं० बालकृष्ण भट्ट

रे जीव सत्सङ्गमवाप्नुहित्वमसत्प्रसङ्गं त्वरया हाय ;
धन्योपिऽनिन्दां लभते कुसङ्गात्सिन्दूरविन्दुर्विधवाललाटे ।

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

पंचमावृत्ति

सजिल्द १।)] सं० १९८९ वि० [सादी १)

बलवन्त भूमिहार

एक उपन्यास

मिश्रटोला-दरभंगा निवासी, तथा "घराऊ घटना"
"अङ्गरेजी शिक्षक" आदि ग्रन्थों के रचयिता

श्री भुवनेश्वर मिश्र

द्वारा विरचित।

बनारस

लहरी प्रेस, महल्ला लाहौरी टोला में मुद्रित।

सन् १९०१ ई०।

मूल्य ।।।, आ०] (All rights reserved.) [संख्या १०००

श्रीः

लवङ्गलता

वा

आदर्शबाला

अर्थात्

[हृदयहारिणी उपन्यास का उपसंहार]

उपन्यास.

श्रीकिशोरीलालगोस्वामि-लिखित,

और

श्रीछबीलेलालगोस्वामि-द्वारा प्रकाशित.

(सर्वाधिकार रक्षित.)

" यथा करोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते ।"

(शान्तिपर्व)

Printed at the C. L. Goswami
Shri Sudarshan Press, Brindaban.

दूसरीबार १००० } ✲ { मूल्य आठ आने.

सन् १९१५ ईस्वी.

Nagari Pracharini Sabha
BENARES CITY

ठेठ हिन्दी का ठाट

अर्थात्

ठेठ हिन्दी में लिखी गई एक मनलुभानेवाली कहानी

लेखक

स्व० पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध'

प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

हाथीगली, वाराणसी—१

नूतन संशोधित द्वितीय संस्करण

विक्रम संवत, २०१३